शिक्षण-सिद्धान्त की रूप - रेखा

▼

लेखक

सरयू प्रसाद चौबे,

एम० ए० (अंग्रेज़ी व इतिहास), एम० एड० ;

'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास,' 'आधुनिक मनोविज्ञान और शिक्षा'

तथा 'बाल मनोविज्ञान' के रचयिता ;

असिस्टेन्ट-प्रोफ़ेसर (छुट्टी पर), टीचर्स ट्रेनिंग विभाग,

बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा ;

ऑल-यूनिवर्सिटी फ़ेलो,

इन्डियाना यूनिवर्सिटी, यू० एस० ए०।

आगरा

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल

पुस्तक-प्रकाशक व विक्रेता

१६५०] [मूल्य ४) रू०

विषय-सूची

पारिभाषिक शब्दों को भी इस पुस्तक में नागरी लिपि में ही लिखा गया है। लेखक ने इस नीति का पालन अपने 'पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास,' 'आधुनिक मनोविज्ञान और शिक्षा' और 'बाल-मनोविज्ञान' नामक पुस्तकों में भी किया है। उनके प्राकथन में कही हुई बातों को यहाँ दोहराना अनावश्यक जान पड़ता है। प्रार्थना है कि पाठक अपनी असुविधा के लिए क्षमा करते हुये इस आवश्यक परम्परा के बनने में योग दें।

पाण्डुलिपि को दोहराने का कार्य लेखक के मित्र व शिष्य श्री प्यारेलाल रावत, एम० ए०, एल० टी० ने किया है। अतः लेखक श्री रावत जी का हृदय से आभारी है।

लेखक अपने प्रकाशक बाबू लक्ष्मीनारायण अग्रवाल का विशेष अनुगृहीत है, क्योंकि आप की ही तत्परता के कारण इस पुस्तक का प्रकाशन उचित समय के अन्दर हो सका।

इस पुस्तक के प्रूफ़-संशोधन में श्री रमेशचन्द्र सिंह ने बड़ी सहायता की है। अतः लेखक उन्हें हृदय से धन्यवाद देता है। सर्व श्री कमलाकान्त पाण्डेय, कृष्णदेव सिंह, राधेमोहन शर्मा तथा महाराज सिंह, निर्भय, द्वारा भी प्रूफ़ संशोधन में कुछ सहायता मिली है। अतः उन्हें भी धन्यवाद देना लेखक अपना कर्त्तव्य समझता है!

जुलाई १०, १९५०
टीचर्स ट्रेनिङ्ग विभाग,
बलवन्त राजपूत
कालेज,
आगरा।

—सरयू प्रसाद चौबे

वन्द्य भैया —

श्री पं० शुकदेव चौबे,
बी० ए० (आनर्स), एम० ए०, बी० टी०

को

"—मीम—"

प्राक्कथन

राष्ट्र भाषा हो जाने के कारण अब हिन्दी का महत्त्व पहले से बहुत बढ़ गया है। राष्ट्रनीति के अनुसार मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम होगी और विश्वविद्यालय की शिक्षा में देश के सभी नागरिक राष्ट्र भाषा को पढ़ेंगे। इस दृष्टिकोण से हिन्दी-सेवियों का दायित्व और बढ़ जाता है। अब यह आवश्यक जान पड़ता है कि यथासम्भव सभी भाँति हिन्दी का वाङ्मय परिपूर्ण किया जाय। इसी भावनावश हिन्दी को धनी बनाने के लिए चारों ओर से प्रयत्न हो रहा है। हर्ष का विषय है कि हमारी केन्द्रीय और विभिन्न हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशीय सरकारें इस ओर बड़ी प्रयत्नशील हैं। प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन लेखक की भी इसी भावना का एक छोटा सा आभास है।

हिन्दी में 'शिक्षा' पर अभी बहुत कम पुस्तकें निकल पाई हैं और जो निकली भी हैं उनका क्षेत्र बहुत सीमित दिखलाई पड़ता है, क्योंकि अभी तक ऐसे लेखकों को आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिल सका है। पाश्चात्य देशों में "शिक्षा" पर कई प्रकार के परीक्षण किये जा रहे हैं। इन परीक्षणों का उद्देश्य शिक्षा को एक ऐसा रूप देना है जो आवश्यक और उचित है। इस नए रूप का तात्पर्य व्यक्तिगत और सामाजिक विकास में एक सामञ्जस्य उत्पन्न करने से है। लोकतन्त्र में व्यक्तिगत विकास को प्रधानता दी जाती है; पर इसका अर्थ सामाजिक हित की अवहेलना करना नहीं होता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा एक बड़ा साधन है। इस साधन की

उपयोगिता बहुत हद तक 'शिक्षण' पर निर्भर है। विभिन्न शिक्षा-पद्धतियों और विचार-धाराओं में यह जानने का प्रयत्न किया गया है कि इस शिक्षण का रूप कैसा हो। प्रस्तुत पुस्तक इसी प्रयत्न का एक दर्पण है। लेखक अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ है यह तो पाठक ही जानें; पर यदि इससे किसी को इस क्षेत्र में आगे कार्य करने की प्रेरणा मिल सकी तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

पुस्तक को अपने क्षेत्र में शास्त्रीय बनाने की पूरी चेष्टा की गई है, जिससे एम० एड०, बी० एड०, बी० टी० और एल० टी० के विद्यार्थी यह समझने में समर्थ हो सकें कि वर्त्तमान शिक्षण-विधि की प्रगति किस ओर है और उसे अपने देशीय स्कूलों की स्थिति में कैसे ढाला जा सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाश्चात्य विद्वानों की रचनाओं और विचार-धाराओं से पूरी सहायता ली गई है। सारी मानव सभ्यता तो एक ही है। अतः किसी से कुछ सीखने में हमें संकोच न होना चाहिए। पर प्रत्येक देश की संस्कृति और परम्परा दूसरे से भिन्न होती है। पाश्चात्य विद्वानों से सीखने की धुन में इस पुस्तक की रचना में भारतीय संस्कृति और परम्परा की उपेक्षा नहीं की गई है। पहले अध्याय को तो अपनी संस्कृति का ही प्रतीक बनाया गया है। अन्य अध्यायों में देश के स्कूलों की दशा पर ध्यान रखकर विभिन्न विषयों का विवेचन करते हुए अपने स्कूलों में प्रचलित शिक्षण-विधि में आवश्यक सुधार की ओर भी यथास्थान संकेत किया गया है। अतः पुस्तक को, परीक्षार्थियों तथा अध्यापकों, दोनों के लिये उपयोगी बनाने की चेष्टा की गयी है।

हिन्दी में एक परम्परा स्थापित करने के लिए विदेशी

पृष्ठ

पृष्ठ

चौदहवाँ अध्याय **पृष्ठ**

पन्द्रहवाँ अध्याय

सोलहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्याय

पृष्ठ

पहला अध्याय

शिक्षा का उद्देश्य

१—क्या शिक्षा की परिभाषा करना सम्भव है ?

शिक्षा की परिभाषा करना सरल नहीं। अपने-अपने विचारानुसार लोगों ने शिक्षा की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। वस्तुतः शिक्षा की परिभाषा दी ही नहीं जा सकती। यह विवादग्रस्त विषय है, अतः इस पर केवल विचार-विनिमय किया जा सकता है। शिक्षा का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन के आदर्श के अनुसार ही इसका संगठन करना उचित है। व्यक्ति का अपना विशिष्ट आदर्श होता है। इस प्रकार शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करना कोरी प्रवंचना है। तथापि विद्वानों ने इस क्षेत्र में अपना परिश्रम बन्द नहीं किया है, क्योंकि विभिन्न विचार और आदर्श के होते हुये भी मानव स्वभाव में एकता पाई जाती है। इसी एकता के आधार पर शिक्षा के कुछ साधारण उद्देश्यों का उल्लेख कर दिया गया है। अपनी रुचि के अनुसार किसी उद्देश्य को अपनाने के लिए व्यक्ति स्वतन्त्र है। शिक्षा की परिभाषा कई प्रकार से की गई है। शिक्षा वह साधन है जिससे वातावरण सुधारा जाता है अथवा नये वातावरण की रचना की जाती है। शिक्षा का तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है। इस मत के मानने वाले यहाँ

शिक्षा का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध, इसकी सर्वमान्य परिभाषा करना कठिन-क्योंकि व्यक्तियों के विभिन्न आदर्श होते हैं।

तक कह जाते हैं कि स्कूल में सीखे हुये ज्ञान के भूल जाने पर जो कुछ बचता है वही शिक्षा का फल है। कुछ लोग शिक्षा का अर्थ समझते हैं अन्धकार में प्रकाश दिखलाना। जड़वादियों के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सुखपूर्वक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना सिखलाना है। संक्षेप में विभिन्न विशेषज्ञों के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य है :—

१—व्यक्ति की सभी आन्तरिक शक्तियों का पूर्ण विकास करना जिससे उसमें आत्म-निर्भरता आ सके।

२—स्वतन्त्र आलोचनात्मक शक्ति का विकास करना।

३—व्यक्ति में दूसरों के सुख-दुःख में सहानुभूति दिखलाने की शक्ति उत्पन्न करना।

४—संसार में प्रचलित सभ्यता के विभिन्न अंगों का ज्ञान कराना।

५—व्यक्तित्व का पूर्ण विकास इस प्रकार करना कि सामाजिक हित की उपेक्षा न की जा सके।

६—व्यक्ति की मूल-प्रवृत्तियों और स्थायी-भावों में सामञ्जस्य उत्पन्न करना।

२—शिक्षा की आवश्यकता और तात्पर्य:—

शिक्षा की आवश्यकता पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। जन्म के समय बालक पूर्ण असहाय रहता है। उसकी मूल-प्रवृत्तियाँ अनिश्चित अवस्था में रहती हैं। शिक्षा न पाने से वह पशुवत हो जायगा। यही कारण है कि जंगली आदमी हम लोगों से इतना भिन्न होता है। शिक्षा से ही हममें विभिन्न गुणों का विकास होता

शिक्षा की आवश्यकता, शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास करना, बुद्धि के विकास

की आवश्यकता, शिक्षा का सामाजिक उद्देश्य।

है। इससे हम अपनी शक्ति का अनुमान लगा सकते हैं। मनुष्य ऐसा जीव है जिसका विकास कुछ निश्चित नियमों के आधार पर होता है। उसका विकास कभी रुकता नहीं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य 'विकास करना' है। ड्यूई ने भी 'विकास' (ग्रोथ) की गणना शिक्षा के महत्वपूर्ण उद्देश्यों में की है। पर यहाँ विकास का तात्पर्य क्या है? विकास का अर्थ यहाँ व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के विकास से है। आजकल प्रजातन्त्र का युग है। इस प्रणाली में व्यक्ति और समाज दोनों के हितों की रक्षा की जाती है। व्यक्तिगत विकास की ओर ध्यान देने का तात्पर्य समाज-हित की उपेक्षा नहीं है, पर समाज-हित का भी अर्थ साम्यवाद की तरह व्यक्ति को गौण नहीं समझना है। समाज और व्यक्ति दोनों एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। समाज व्यक्ति का ही समूह है। व्यक्ति की उन्नति से समाज की उन्नति निश्चित हो जाती है। अतः शिक्षा में व्यक्ति के ही विकास पर जोर देना आवश्यक है। उसके शारीरिक और मानसिक विकास के अनुसार उसकी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिये। मानसिक क्षेत्र में बुद्धि के विकास पर विशेष-कर जोर देना आवश्यक है, क्योंकि बुद्धि ही से हम शिक्षा के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति का पता लगा सकते हैं। बुद्धि ही से व्यक्तित्व और चरित्र का विकास सम्भव होता है। विषम परिस्थितियों का सामना बुद्धि से ही किया जा सकता है। बुद्धि ही अन्धकार में प्रकाश का काम करती है। बुद्धि की कमी से आवश्यक शारीरिक बल और अन्य साधन रखते हुये भी व्यक्ति सफलता पाने में असमर्थ होता है। बालक जितनी सम्भावनाओं के साथ जन्म लेता है उन सबका विकास

बिना शिक्षा के सम्भव नहीं। कुछ व्यक्ति मूर्ख हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें मूर्ख बनाया जाता है। उनकी शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाती, इसलिए संक्रमित गुण रखते हुये भी वे पीछे रह जाते हैं। प्रजातन्त्र राज्य में व्यक्ति की ऐसी स्थिति अपेक्षित नहीं। इसमें आगे बढ़ने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देने का प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट है कि शिक्षा का एक सामाजिक उद्देश्य है। इसका व्यक्तिगत उद्देश्य नहीं होता। समाज के विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकतानुसार विकास की व्यवस्था करना शिक्षा का प्रधान कर्त्तव्य है।

३—शिक्षा-उद्देश्य में समाज-गति के अनुसार परिवर्तनः—

शिक्षा व समाज एक दूसरे पर निर्भर, नये भारत में शिक्षा का दृष्टिकोण।

व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकता परिस्थिति अनुसार बदला करती है, क्योंकि संसार परिवर्तनशील है। अतः शिक्षा का कोई शाश्वत उद्देश्य निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसमें देश-काल के अनुसार परिवर्तन आता ही रहता है। स्पष्ट है कि इसीलिये किसी भी देश की शिक्षा व्यवस्था के अध्ययन से वहाँ की सभ्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। किसी देश की शिक्षा व्यवस्था कभी गलत नहीं हुआ करती। वस्तुतः उस देश की सामाजिक अवस्था ही वैसी होती है। समाज की जैसी माँग होती है उसी के अनुसार शिक्षा का आयोजन रहता है। यदि शिक्षा व्यवस्था के बदलने की आवाज उठाई गई तो इसका अर्थ यह है कि सामाजिक अवस्था भी बदल रही है। अतः शिक्षा का रूप तब तक नहीं बदला जा सकता जब तक देश की सामाजिक स्थिति में स्वयं कुछ परिवर्तन न आ गया हो। इस प्रकार शिक्षा और समाज

सदा एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी बात केवल प्रजातन्त्र राज्य के ही सम्बन्ध में कही जा सकती है, क्योंकि दूसरे प्रकार के राज्य में शिक्षा-नीति शासन करने वाले अल्प मत द्वारा निर्धारित की जाती है और यह नीति सर्वसाधारण के हित के लिए नहीं होती। ब्रटिशकालीन भारतीय शिक्षा प्रणाली सर्वसाधारण के लिये हितकर सिद्ध न हो सकी, क्योंकि शिक्षा के कर्णधारों का प्रधान तात्पर्य देश में साम्राज्यवाद की नींव दृढ़ करने में योग देना था। लगभग ६८ प्रतिशत शिक्षा पाने वालों का प्रधान उद्देश्य नौकरी ही पाना था। फलतः सभी लोग साम्राज्य की छत्र-छाया में सेवा करने के लिए इच्छुक रहते थे। ऐसा अवसर पा जाने पर व्यक्ति अपने का दूसरे से अधिक भाग्यशाली समझता था। कितनी घोर बिडम्बना थी यह !!! स्वतन्त्र भारत में हमारा उद्देश्य पूर्णतः बदल जाना चाहिए। शिक्षा का रूप अब बहुत अधिक विकसित करना है। इसके सहारे एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसकी सभी गतियाँ उसके प्रत्येक सदस्य के लिए शिक्षाप्रद हो सकें और वह अपनी इच्छा-शक्ति बुद्धि, चरित्र और व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। अब तक हमारे देश की शिक्षा का उद्देश्य मुख्यतः परीक्षा पास करना रहा है। यह उद्देश्य बदल कर शिक्षा-क्षेत्र में सारा उद्योग-व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की ओर केन्द्रित करना होगा। ऊपर हम कह चुके हैं कि शिक्षा समाज से अपने को अलग नहीं कर कर सकती। फलतः स्वतन्त्र भारत में शिक्षा पर समाज के समुचित विकास का पूरा उत्तरदायित्व रखना होगा। आज हमारे देश की शिक्षा के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि इस दायित्व को कैसे निभाया जाय। जब तक यह

समस्या हल नहीं होतो समाज का उचित विकास न हो सकेगा। सामाजिक परिवर्तन में प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना उत्तरदायित्व निभाना है इस परिवर्तन में उसे यथाशक्ति योग देना है। बहुत प्रारम्भ से ही उसे क्रियाशील रहने की शिक्षा देनी होगी, जिससे वह आत्म-निर्भर रह कर अपने कर्तव्य को समझ सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें बचपन से ही ध्यान देना होगा और बालक को इस प्रकार शिक्षा देनी होगी कि वह सभ्यता की गति को समझते हुये आत्म-निर्भरता, कर्तव्य-परायणता और सचरित्रता का पाठ सीख सके। हमें शिक्षा द्वारा बालकों को ऐसे ज्ञान, निरीक्षण तथा निर्णय की बुद्धि देनी है कि वे परिस्थिति को शीघ्र समझ कर अभीष्ट दिशा की ओर कार्य करने के लिए तैयार हो जाँय, जिससे उनके कल्याण के साथ साथ समाज का भी हित हो।

४—हमारे शिक्षा उद्देश्य की रूप-रेखा:—

बालक को शिक्षा देने का प्रधान उद्देश्य उसे शक्ति देना है, ज्ञान नहीं। यदि ज्ञान देना ही उद्देश्य हुआ तो तोते के रटे हुए 'राम राम' और बालक के ज्ञान में विशेष अन्तर न होगा। शक्ति का तात्पर्य यहाँ जीवन के विभिन्न कर्त्तव्यों के पालन की शक्ति और बुद्धि से है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब हम व्यक्ति के शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को पूर्णरूपेण विकसित करने का प्रयत्न करें। आज हमारी शिक्षा प्रणाली दूषित हो गई है। चारों ओर परीक्षा का ही भूत सवार दिखलाई

शिक्षा देने का उद्देश्य शक्ति देना-शरीर, मस्तिष्क और चरित्र को पूर्णरूपेण विकसित करना, हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली दूषित, भौतिक ज्ञान साधन—साध्य नहीं, शिक्षा का उद्देश्य वास्तविक सुख

व शान्ति देना, हमारे उद्देश्य में भारतीयता का पुट आवश्यक, शान्ति और सुख का पाठ दूसरों को सिखलाना हमारा उद्देश्य—अतः शिक्षा-श्रम इसी ओर केन्द्रित करना आवश्यक।

पड़ता है। शिक्षा का उद्देश्य जीवन की तैयारी न होकर परीक्षा की तैयारी हो गया है। फलतः हमारी शिक्षा में स्मरण-शक्ति पर ही ध्यान दिया जाता है। इसमें मौलिकता का ह्रास हो जाता है और बालक बिना स्वयं विचार किये दूसरे की बात मान लिया करता है। हम मानते हैं कि मनुष्य तार्किक प्राणी है। उसे ज्ञान की प्यास रहती है। व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिये संसार, प्रकृति, समाज तथा मानव स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। पर इस प्रकार के ज्ञान को व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये साधन समझना चाहिये। इसे साध्य मान बैठना ऊपर निकली हुई वृक्ष की जड़ को वृक्ष मान लेना होगा। प्रत्येक व्यक्ति शान्ति और सुख की कामना करता है। यह शान्ति और सुख उसे कैसे मिल सकता है? संसार में सभी प्रचलित धर्म व्यक्ति को शान्ति और सुख प्राप्त करने का ही मार्ग बतलाते हैं। शिक्षा का संचालन भी इस प्रकार करना चाहिये कि व्यक्ति अपने जीवन में वास्तविक शान्ति और सुख का अनुभव कर सके। यह अनुभव कैसे प्राप्त किया जा सकता है? यहाँ हमें अपनी भारतीय संस्कृति की याद आती है। हमें अपने को कितना ही दूसरे के साँचे में क्यों न ढालें पर हमारी भारतीयता हमारे साथ ही रहेगी। अतः हमारे शिक्षा-उद्देश्य में भारतीय संस्कृति का पुट अवश्य होना चाहिये। इसके बिना हमारे शिक्षित नवयुवकों का जीवन सूना होगा। वह न भारतीय कहा जायगा और न विदेशी। उसकी स्थिति ठीक 'त्रिशंकु' के सदृश होगी। भारतीय

संस्कृति के पुट की माँग करने का तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षा का सारा संचालन प्राचीन प्रणाली के अनुसार हो। ऐसी माँग निरी मूर्खता होगी। समाज परिवर्तनशील है। आज का समाज पहले से बहुत बढ़ा हुआ है। हमें संसार के अन्य राष्ट्रों की दौड़ में आना है, जिससे दूसरे हमारी शान्ति और सुख को भंग न कर सकें। सभ्यता के आदि काल से ही भारत संसार को शान्ति का पाठ सिखलाता रहा है। आज भी भारत का यह सन्देश महात्मा गान्धी के कारण संसार के कोने कोने में पहुँच चुका है। हमारे राष्ट्र के कर्णधारों ने भली-भाँति यह घोषित कर दिया है कि भारत न तो किसी की शान्ति और सुख को भंग करना चाहता है और न अपनी ही शान्ति और सुख दूसरे से भंग ही होने देना चाहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे राष्ट्र का उद्देश्य देश में शान्ति और सुख फैलाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ वह संसार के अन्य राष्ट्रों के सामने भी शान्ति और वास्तविक सुख का आदर्श रखना चाहता है। हम कई बार कह चुके हैं कि शिक्षा देश व समाज की आवश्यकता की अवहेलना नहीं कर सकती। अतः राष्ट्र के इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम व्यक्ति को सभी प्रकार की आधुनिक साहित्य और विज्ञान में शिक्षा देंगे, जिससे हमारा राष्ट्र दूसरों से पीछे न रहे और दूसरे हमें निर्बल समझ हमारी शान्ति भंग करने का दुस्साहस न करें। आगे प्रसंगानुसार हम यह देखेंगे कि शिक्षा के पाठ्य-क्रम में इन साहित्यों और विज्ञानों को किस प्रकार निबद्ध करना चाहिए, जिससे व्यक्ति अपनी सीमित योग्यतानुसार अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर सके।

-

पर इस शक्ति से उसे शान्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि

व्यक्ति जितना ही शक्तिशाली होता है उसकी अशान्ति भी उतनी ही बढ़ती जाती है। व्यक्तियों तथा राष्ट्र के शक्तिशाली होने से ही संसार की शान्ति भंग होती है। जर्मन और जापानी राष्ट्र इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। अतः अपने नवयुवकों को शान्ति का पाठ पढ़ाना आवश्यक होगा। आत्म-बोध से ही व्यक्ति को शान्ति प्राप्त हो सकती है। हमारी भारतीय संस्कृति का सार भी यही है। वह व्यक्ति को आत्म-बोध की सीख देती है। आत्म-बोध का तात्पर्य अपने को समझने से है। अपने को समझने की चेष्टा में ही व्यक्ति सच्चे सुख और शान्ति का अनुभव कर सकता है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य आत्म-बोध ही होना चाहिए। 'आत्म' ही सभी सांसारिक मूल्यों का केन्द्र है। भाई, बहिन, माता-पिता, पुत्र आदि व्यक्ति को प्यारे हैं, क्योंकि उनका उसके 'आत्म' से सम्बन्ध है। अमुक पुस्तक अथवा वस्तु उसे प्यारी है, क्योंकि वह उसके 'आत्म' को प्यारी है। आत्म-बोध से वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। शिक्षा का उद्देश्य—'आत्म-बोध' हमारे लिये उतना ही पुराना है जितना वेद। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा करते थे कि 'आत्म' से बढ़कर संसार में कोई वस्तु नहीं। प्रत्येक व्यक्ति को इसी के बोध की निरन्तर चेष्टा और चिन्ता होनी चाहिए। "अपने को जान" यही याज्ञवल्क्य की सबसे बड़ी शिक्षा है। आत्म-बोध से ही गीता में वर्णित "स्थित-प्रज्ञ" की स्थिति प्राप्त हो सकती है। स्थितप्रज्ञ की स्थिति सूर्य के समान होती है। वह सूर्य के समान दूसरों के लिये प्रेरणा-शक्ति का काम करता है। सूर्य के उदय से ही चिड़ियाँ चहचहाने लगती हैं, किसान खेत को चला

शक्ति प्राप्त करना हमारा शिक्षा उद्देश्य नहीं, आत्म-बोध शिक्षा का परम उद्देश्य।

जाता है और संसार का सारा व्यापार आरम्भ हो जाता है। क्या सूर्य किसी से काम करने के लिये कहता है ? नहीं। उसकी उपस्थिति ही दूसरे के लिये प्रेरक हो जाती है। वास्तव में उस व्यक्ति का जीवन सफल है जिसकी उपस्थिति ही दूसरों में अच्छे कार्यों के लिये एक प्रेरणा भर देती है। किसी देश-भक्त की उपस्थिति से देशभक्ति की प्रेरणा आ जाती है और सदाचारी की उपस्थिति से सदाचार का पाठ सीख लिया जाता है। यदि व्यक्ति आत्म-बोध प्राप्त कर सका तो उसकी उपस्थिति ही इसी प्रकार दूसरों के लिये प्रेरणा का काम करेगी। आत्म-बोध की प्राप्ति के लिये शिक्षा का संचालन किस प्रकार किया जाय ? आत्म-बोध एक अस्पष्ट शब्द-जाल है। इसका ठीक-ठीक अर्थ कैसे समझा जाय ? पर आत्म-बोध शब्द-जाल नहीं ! आत्म-बोध प्रकृति, पुरुष और ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। आत्म-बोध को प्राप्त करना विश्व के पूरे रहस्य को ही समझना है। वैज्ञानिकों और दार्शनिकों का क्या उद्देश्य है ? यदि उनके पास कुछ उद्देश्य है तो उसका सम्बन्ध विश्व के रहस्य को समझने से ही है। अनेक दार्शनिकों ने इसी रहस्य को समझने में अपना प्राण उत्सर्ग कर दिया है। वैज्ञानिक भी अपनी प्रयोगशाला में इसीलिये अपना उत्सर्ग कर देता है। वह उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव, पहाड़, समुद्र तथा प्रकृति की विभिन्न वस्तुओं को समझने में अपना प्राण निछावर कर देता है। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं। इस प्रकार दार्शनिक और वैज्ञानिक के उद्देश्य में भेद नहीं, भेद केवल कार्य-प्रणाली का ही है। दोनों विश्व के रहस्य को समझना चाहते हैं। 'आत्म' को इस रहस्य से पृथक नहीं कर सकते, व्यक्ति उसे जानना चाहता है, क्योंकि उसका उसके 'आत्म' से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि

वैज्ञानिक की आत्म-ज्ञान से शत्रुता नहीं, चाहे वह इस बात को माने या न माने। संभव है अपने परीक्षण की दौड़ में वह कभी इस प्रश्न के हल में भी लग जाय।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'आत्म' ही एक ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जिससे संसार की सारी वस्तुएँ सम्बन्धित की जा सकती हैं। अतः शिक्षा का उद्देश्य आत्म-बोध की प्राप्ति ही हो सकता है। कम से कम हमारी भारतीय संस्कृति की तो माँग यही है। इसी माँग की पूर्ति में सभी प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा-विशेषज्ञों के विभिन्न शिक्षा-आदर्श आ जाते हैं, चाहे वह जीविकोपार्जन, अवकाश का उपयोग, पूर्ण जीवन की तैयारी, व्यक्तित्व-विकास, सामाजिक-उपयोगिता-वृद्धि, चरित्र-गठन या ज्ञानार्जन हो। आत्म-बोध ही एक ऐसा शब्द-सूत्र है जिसमें इन सबके अर्थ निहित हो जाते हैं। वस्तुतः विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ये सब उद्देश्य आत्म-बोध प्राप्ति के साधन मात्र हैं। साधन के रूप में हमें उन्हें क्रमशः लेना होगा। पर हम किसी साधन को साध्य नहीं मान बैठेंगे। ऐसा करना भारतीय संस्कृति, जिसकी हम उत्पत्ति और उत्तराधिकारी हैं, को धोखा देना होगा।

आत्म-बोध के अन्तर्गत शिक्षा के सभी उद्देश्य निहित।

५—शिक्षा का संचालन किस प्रकार ?

अब प्रश्न यह है कि शिक्षा का संचालन किस प्रकार किया जाय कि व्यक्ति आत्म-बोध की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सके। इस प्रश्न के उत्तर के लिये तो एक अलग ही पुस्तक की आवश्यकता होगी। दूसरे, इसकी विवेचना करना इस पुस्तक का उद्देश्य भी नहीं है, तथापि अति संक्षेप में इस

शारीरिक, संवेग की और मानसिक शिक्षा; शिक्षा का क्रियात्मक,

अनुभवात्मक और ज्ञानात्मक अंग।

ओर थोड़ा संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा। सबसे पहले हमें शारीरिक विकास पर ध्यान देना होगा। शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्—अर्थात् धर्म पालन के हेतु शरीर ही हमारा साधन है। अतः सर्व प्रथम हमें शरीर को ऐसा बनाना है कि इसके कारण हमारे किसी कार्य में विघ्न न पड़े। शारीरिक विकास के लिये व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि वह शरीर के महत्त्व को भली-भाँति समझ ले और उसकी उसी उद्देश्य से परिचर्या करे जैसे मशीन से काम लेने के लिये उसमें तेल दे दिया जाता है। शरीर का उसे दास नहीं होना है, वरन् शरीर ही को उसका दास होना है। हमारे कर्त्तव्य-पालन के क्षेत्र में शरीर का इतना महत्त्व होते हुए भी इसकी इतनी अवहेलना की जाती है कि हमारे देशवासियों की औसत उम्र लगभग २७ ही साल है। शारीरिक शिक्षा के नाम पर आज जो कुछ हमारे स्कूलों में किया जाता है वह कोरी विडम्बना है। मानसिक विकास पर जितना ध्यान दिया जाता है यदि उसका दशांश भी इस ओर उद्योग किया जाता तो दशा इतनी शोचनीय न होती। शारीरिक शिक्षा के बाद हमें संवेग (इमोशन) की शिक्षा पर ध्यान देना होगा। आज समाज में जितनी अव्यवस्था दिखलाई पड़ रही है उस सबका कारण संवेग की शिक्षा की अवहेलना ही है। हम दूसरों को कष्ट में देख कर क्यों आनन्दित होते हैं? दूसरे के हित की उपेक्षा कर हम अपने ही स्वार्थ में क्यों लीन रहते हैं? सहायता देने के योग्य होते हुए भी हम किनारा क्यों कसे रहते हैं? क्योंकि हमारे संवेग की उचित शिक्षा नहीं हो सकी है। मानसिक शिक्षा की धुन में 'हृदय' की शिक्षा की एकदम उपेक्षा की गयी है। जब तक हृदय की शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दिया जायगा हम

सभ्य नहीं कहे जा सकते । जिस सीमा तक हम दूसरों की कोमल भावनाओं का आदर करते हैं वहीं तक हम सभ्य कहे जा सकते हैं। कोमल भावनाओं का संवेग अथवा हृदय से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कोमल भावनाओं अथवा संवेग की शिक्षा के सम्बन्ध में हमें सेवा-भाव, ललित कलाओं, महानता तथा महान परम्पराओं के प्रति व्यक्ति में अनुराग पैदा करना होगा। यदि व्यक्ति इन सब भावों में पग सका तो उसका हृदय पवित्र और उदार होगा। वह दूसरे को समझ सकेगा और साथ ही साथ अपने को भो समझने में समर्थ होगा, क्योंकि दूसरों को समझने का वास्तविक तात्पर्य अपने को ही समझना होता है। यह एक बड़ा भारी सत्य है । प्रारम्भिक काल में शिक्षा का प्रधान रूप क्रियात्मक होगा, इसके बाद अनुभवात्मक होगा। तीसरा रूप ज्ञानात्मक होगा । हमारा यह विश्वास है कि इन तीनों अंगों के उचित समन्वय से व्यक्ति अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा। पूर्णता को प्राप्त होने का तात्पर्य ही आत्म-बोध है। इस पुस्तक में हम ज्ञानात्मक अंग के सम्बन्ध में ही कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख करेंगे। शारीरिक और संवेग को शिक्षा पर अलग-अलग दूसरी पुस्तकों में में विचार किया जायगा। ज्ञानात्मक अंग में मानसिक शिक्षा का समावेश हो जाता है। विभिन्न साहित्य तथा विज्ञान में व्यक्ति को निपुण करना ही इस शिक्षा का रूप होगा। इस पुस्तक में हम यही समझने का प्रयत्न करेंगे कि इस प्रकार को शिक्षा का संचालन किस प्रकार किया जाय।

सहायक पुस्तकें

१—नन, टी० पी०—एडूकेशनः इट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपिल्स-अध्याय १

२—सिडनी हुक—एजूकेशन फ़ॉर माडर्न मैन–अध्याय १-३
३—ई० आर० हैमिल्टन—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड-अध्याय २
४—पी० रेन—द इण्डियन टीचर्स गाइड–अध्याय १
५—ऑलसन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी अध्याय १, २
६—रेमॉण्ट—प्रिन्सीपिल्स ऑव् एजूकेशन-अध्याय १
७—फ़िण्डले—द फ़ाऊण्डेशन्स ऑव् एजूकेशन-भाग १—अध्याय २, ३, ५,

दूसरा अध्याय

शिक्षक

शिक्षा की सफलता सदा शिक्षक पर निर्भर होती है। पाठ्य-क्रम और संगठन कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर यदि शिक्षक योग्य न हुआ तो सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति विधि और संगठन की अपेक्षा अपने शिक्षक को अधिक याद करता है। अतः शिक्षक का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षा रूपी नाव का माझी शिक्षक ही है। वह बालक को चाहे जिस ओर झुका सकता है। उसे अच्छा अथवा बुरा बनाने में उसका बड़ा हाथ है। शिक्षक ही बालक के भव्य जीवन और मस्तिष्क का निर्माता है। यदि शिक्षक का व्यक्तित्व आदर्श हुआ तो वैज्ञानिक विधि का ज्ञान न रखते हुये भी वह बालक के उचित पथ-प्रदर्शन में सफल होगा। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसे वैज्ञानिक विधि सीखने की आवश्यकता ही नहीं। यदि चरित्र, बुद्धि, नेतृत्व की शक्ति तथा स्वास्थ्य के साथ-साथ उसे शिक्षण की वैज्ञानिक विधियों का भी ज्ञान है तो मानो सोने में सुगन्ध भी आ गई। जैसे कविता और संगीत एक कला है उसी प्रकार शिक्षण भी एक कला है। जैसे कवि या संगीतज्ञ विभिन्न प्रकार के हुआ करते हैं, वैसे ही शिक्षक भी कई कोटि के होते हैं। कहा जाता है कि कविता और संगीत की शक्ति दैवी होती है।

बालक के विकास का पूरा उत्तरदायित्व शिक्षक पर, कवि और चित्रकार की भाँति शिक्षक, हमारे स्कूलों में अयोग्य शिक्षकों का प्रवेश।

अपनी प्राप्त शक्ति के अनुसार ही कोई कविता या संगीत-क्षेत्र में बढ़ सकता है। यदि दैवी शक्ति न हुई तो शब्दों के जोड़ने से न तो कोई कवि हो सकता है और न गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने से संगीतज्ञ। यही बात शिक्षक के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ लोग शिक्षण-कार्य के लिए इतने अयोग्य होते हैं कि उन्हें शिक्षक बना देना उनके ही प्रति नहीं वरन सारे बालक-समाज अर्थात् राष्ट्र के प्रति अन्याय करना है। आज-कल शिक्षा-प्रसार के कारण हमारे देश में लाखों शिक्षकों की आवश्यकता है। ट्रेनिंग कॉलेज में कुछ गत वर्षों के अध्यापन के अनुभव से लेखक को जान पड़ता है कि हमारे देश में शिक्षकों का स्तर दिन पर दिन गिरता ही जा रहा है। उनमें से बहुत से तो कक्षा में भली-भाँति अपने विचार व्यक्त भी नहीं कर सकते और न उनका आचार-व्यवहार ही ऐसा दिखलाई पड़ता है कि उनके निरीक्षण में भावी संतान के शिक्षा-कार्य को सौंपा जाय। वे अपने कर्तव्य की गुरुता को समझते ही नहीं। इसे देश का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या कहा जाय? देश की आर्थिक व सामाजिक परिस्थित ऐसी है कि जिसे कहीं ठिकाना नहीं मिलता, वह शिक्षक बनने की सोच लेता है और सौ प्रयत्न कर शिक्षक बन जाता है, मानों शिक्षण-कार्य सबसे निकृष्ट और सरल है। इस पतन के लिए हमारी सामाजिक व्यवस्था भी कुछ हद तक उत्तरदायी है। शिक्षक को वेतन इतना कम मिलता है कि योग्य व्यक्तियों की रुचि शिक्षण-कार्य की ओर कम होती है। फलतः हम यह नहीं कह सकते कि आजकल हमारे स्कूलों में वास्तविक योग्य शिक्षकों का प्रवेश हो रहा है। आदर्श शिक्षक होने के लिए कौन-कौन से गुण अपेक्षित हैं इसकी सविस्तार चर्चा हम एक दूसरी पुस्तक में करेंगे। यहाँ शिक्षण-शास्त्र पर विचार करने के पहले शिक्षक

के कुछ गुणों पर दृष्टिपात करना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि शिक्षा की सफलता का सबसे अधिक उत्तरदायित्व उसी पर है।

बालक के लिए शिक्षक सभी गुणों का प्रतीक, शिक्षक का दायित्व, बालक पर मनोवैज्ञानिक नियन्त्रण, विनय-स्थापन बालक के विकास के लिए आवश्यक।

शिक्षक बालक के लिए सभी गुणों का प्रतीक है। इस भावना से जो शिक्षक अभिभूत रहते हैं वास्तव में उन्हीं का शिक्षक होना सार्थक है और उन्हीं से बालक सबसे अधिक सीखता है। ऐसे ही शिक्षकों को वह स्कूल छोड़ देने के बाद भी स्मरण करता है। ऐसे ही शिक्षक अपनी गम्भीर वाणी से बालकों को कुछ ऐसे विचार देते हैं जो उनके कानों में आजीवन गूँजा करते हैं। शिक्षक को बालक के व्यवहार में विनय लाने का प्रयत्न करना चाहिए। बालक मूल-प्रवृत्त्यात्मक प्राणी होता है। यदि उसमें विनय लाने की चेष्टा न की गई तो उसका जीवन पशुवत् हो जायगा। यदि उस पर आवश्यक नियन्त्रण न रखा जाय तो शिक्षण का सारा कार्य विफल हो जायगा। कक्षा में विनय स्थापित करने का यह तात्पर्य नहीं कि बालक अपना व्यक्तित्व ही खो दे और अपनी जिज्ञासाओं को भीतर ही मसोस बैठे। ऐसा अर्थ लगाना तो उसके विकास को एकदम कुण्ठित करना होगा। कक्षा में पाठ्य-वस्तु सम्बन्धी अपनी शंकाओं के समाधान के लिये बालक को पूरी स्वतन्त्रता देनी होगी, अन्यथा उसका व्यक्तित्व पनप न सकेगा। अब प्रश्न यह है कि कक्षा में विनय स्थापित करने के लिए शिक्षक क्या करे।

बहुधा यह देखा जाता है कि जो बालक पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगाता विशेषकर वही कक्षा में अविनय का कारण होता है, अथवा बेकार रहने पर कक्षा के सभी बालक अविनय लाने में सहयोग देते हैं। अतः सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि शिक्षक बालक को सदा किसी न किसी काम में लीन रखे। बेकारी ही अविनय की जड़ है। यदि बालक किसी न किसी काम में लगा रहा तो अविनय का विचार ही उसमें न आयेगा। चंचल रहना बालक का स्वभाव है। उसे कुछ न कुछ सदा करते रहना चाहिये। शिक्षक को अपने पाठ की तैयारी इतनी चतुरता से करनी चाहिए कि वह सदा यह जानता रहे कि दूसरे क्षण उसे क्या करना है। शिक्षक की इस प्रकार की तैयारी बालकों को सदा एक न एक कार्य में लगाये रहेगी। उचित तो यह है कि अवकाश के समय भी बालकों का अपना समय एक निश्चित योजना के अनुसार ही बिताना हो। पर यह योजना ऐसी हो कि उनकी स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण न हो जाय। उदाहरणार्थ, अवकाश के समय विभिन्न कक्षा के बालकों के लिए, भाँति-भाँति के खेल के आयोजन किये जाँय तो प्रत्येक कक्षा अपनी ही सीमा के अन्तर्गत रहेगी और बालकों में हर समय कुछ न कुछ करते रहने की प्रवृत्ति आ जायगी। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए यह प्रवृत्ति बहुत ही आवश्यक है, क्योंकि क्रियाशील व्यक्ति की ही सफलता सदैव दासी बनी रहती है। पर यह ध्यान रखना है कि सभी बालकों को एक ही प्रकार की क्रियाशीलता प्रिय नहीं

बालक को हर समय क्रियाशील रखना, शिक्षक की तैयारी, बालक की व्यक्तिगत भिन्नता पर शिक्षक का ध्यान देना।

होती, अर्थात् उनकी व्यक्तिगत भिन्नता पर भी ध्यान देना आवश्यक है और उसी के अनुरूप उन्हें कार्य देना है।

कक्षा-शिक्षण में भी व्यक्तिगत भिन्नता पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। पर यह बालक की मनोवृत्ति के ज्ञान बिना सम्भव नहीं। इसके लिये शिक्षक को मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञान के सहारे, शिक्षा की विभिन्न विधियों को समझ कर वह यह जान सकेगा कि कब किस विधि का प्रयोग आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा की प्रगति से उसका पूरा परिचय होना चाहिए, जिससे वह किसी शिक्षा-प्रणाली का अन्वेषण कर उसकी उपादेयता को समझ सके और अपने बालकों की शिक्षा के लिये उचित विधि चुन सके। शिक्षक का कर्तव्य बालकों की मानसिक उन्नति में योग देने तक ही सीमित नहीं है। उसे बालकों के शारीरिक परीक्षण और शारीरिक अंगों के विकास से भी पूरा परिचय रखना चाहिए, जिससे वह उनके कक्षा में बैठने, उठने तथा खड़े होने आदि विधियों पर उचित ध्यान दे सके। मानसिक विकास का शारीरिक उन्नति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति मनः शारीरिक प्राणी है, अर्थात् व्यक्ति का विकास उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों उन्नति पर निर्भर होता है। जब तक बालक स्कूल में है, शिक्षक को यह ध्यान रखना है कि गलत ढङ्ग पर बैठने, खड़े होने अथवा खेलने के कारण बालक अपने किसी अंग को विकृत न बना ले।

शिक्षक को बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक, शिक्षा की प्रगति से उसका परिचय, बालक के शारीरिक विकास पर भी दृष्टि रखना आवश्यक।

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि शिक्षक बालकों के लिये सभी दृष्टिकोण से आदर्श रूप होता है। बालक के आचार व व्यवहार पर शिक्षक का प्रभाव बड़ा गहरा पड़ता है। बालक अपनी बहुत सी आदतें शिक्षकों तथा अन्य बड़ों से ही सीखता है। अतः शिक्षकों और अभिभावकों को ध्यान रखना है कि वे बालकों के सामने कहीं गलत उदाहरण न रख दें। जो शिक्षक बालकों की उन्नति में सच्ची रुचि रखते हैं उनके प्रति बालकों की बड़ी श्रद्धा होती है। ऐसे ही शिक्षक बालकों के जीवन में स्थायी परिवर्तन ला सकते हैं। केवल शिक्षा-सिद्धान्तों में ही रुचि रखने वाला अध्यापक आदर्श शिक्षक नहीं। ऐसा अध्यापक तो स्टेशन के उस कुली के समान है जो पार्सल का बण्डल लाकर धड़ाधड़ गाड़ी में पटक देता है और यह ध्यान नहीं रखता कि पार्सल का सामान टूटेगा या बचेगा। ऐसे अध्यापकों की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि विशेषज्ञों द्वारा प्रतिपादित विभिन्न शिक्षण-विधियाँ केवल मोटे सिद्धान्त की बातें करती हैं। स्थल पर तो शिक्षक ही है। किस अवसर पर क्या करना चाहिए इसे शिक्षक ही सरलता के साथ समझ सकता है। अतः परिस्थिति के अनुसार विविध विधियों के प्रयोग करने की शिक्षक में पूरी क्षमता होनी चाहिए। शिक्षक को बालक की तात्कालिक आवश्यकता, जिज्ञासा और विकसित प्रवृत्ति का पूरा ज्ञान होना

बालकों के सामने गलत उदाहरण न रखना, बालकों की उन्नति में सच्ची रुचि रखना, परिस्थिति के अनुसार विभिन्न विधियों के प्रयोग करने की शिक्षक में क्षमता, बालक की आवश्यकता का पूरा ज्ञान।

चाहिए। इस ज्ञान से ही वह बालकों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचा सकता है।

सामाजिक आवश्यकताओं से शिक्षक का परिचय आवश्यक, शिक्षक की सफलता की कसौटी बालक में उत्पन्न भावनायें।

आज का समाज इतना विकसित हो गया है कि व्यक्ति को समाज से अलग किया ही नहीं जा सकता। व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने के पक्षपाती भी साथ ही साथ समाज हित की अवहेलना करने के लिए तैयार नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति-हित और समाज-हित दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। ऐसी स्थिति में बालक-विकास की ओर ध्यान देने वाले शिक्षकों का कर्तव्य बालक को केवल शारीरिक और मानसिक उन्नति तक ही सीमित नहीं है, वरन् उन्हें बालकों को ऐसी शिक्षा देनी है कि वे समाज-हित में भी समुचित योग दे सकें। इसके लिए शिक्षकों को विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। बालक अपने पूर्वजों के ज्ञान और अनुभव का उत्तराधिकारी होता है अर्थात् पूर्वजगण अपनी थाती वंशजों के रूप में छोड़ जाते हैं। इस थाती की रक्षा का उत्तर-दायित्व शिक्षकों पर आता है। यदि शिक्षक ने उनका ठीक पथ-प्रदर्शन किया तो यह थाती केवल सुरक्षित ही नहीं रहेगी, वरन् इसका आगे विकास भी होगा। इसीलिए तो सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास होता जा रहा है। हमारे पूर्वज जिन वस्तुओं से एकदम अपरिचित थे वे हमारे लिए आज सुलभ हो रही हैं। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास में शिक्षक का योग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। बालक ही भावी नवयुवक है। यदि उसका विकास उचित न हो सका तो वह सभ्यता के विकास में क्या

योग देगा ? बालकों का उचित विकास कैसे किया जा सकता है ? यदि शिक्षक पढ़ाने में ही मस्त रहा तो वह अपना उत्तर-दायित्व सफलता से नहीं निभा सकता। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि 'पढ़ाने' के साथ-साथ 'सीखने' का भी तात्पर्य निहित रहता है। शिक्षक पढ़ाता है और बालक सीखता है। यदि पढ़ाने की धुनि में बालक की 'सीखने की क्रिया' पर उचित ध्यान न दिया गया तो वह पढ़ाना किसी काम का नहीं, क्योंकि इससे बालक के व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास सम्भव नहीं। इस प्रकार 'पढ़ाने' और 'सीखने' में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी कहा जा सकता है कि 'पढ़ाना' 'सीखने की क्रिया' के नियन्त्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं। शिक्षा का तात्पर्य जो कुछ शिक्षक करता है उसी से नहीं है, वरन् विद्यार्थी के भीतर शिक्षा के फलस्वरूप क्या होता है, उससे भी है। शिक्षक की सफलता की सच्ची कसौटी विद्यार्थियों के अन्दर उत्पन्न होने वाली भावनायें हैं। यदि शिक्षक अच्छा है तो वह अपना अधिक समय और परिश्रम यह जानने में देगा कि विद्यार्थी क्या अनुभव कर रहे हैं और उनकी आवश्यकताएँ क्या है।

बालकों की आवश्यकता का पता लगाना बड़ा ही कठिन है, क्योंकि उनमें समानता से अधिक भिन्नता होती है। योग्यता, स्वभाव और अनुभव में वे एक दूसरे से भिन्न होते हैं। उनकी रुचियाँ समान नहीं होतीं। कोई किसी विषय में तेज होता है और कोई मन्द। इन व्यक्तिगत भिन्नताओं के साथ उचित रूप से बर्तना सरल नहीं। वस्तुतः शिक्षक की यहीं परीक्षा होती है। शिक्षक को बालक की केवल वर्त्तमान अवस्था को

बालक के केवल वर्त्तमान पर ही नहीं वरन् भविष्य पर भी ध्यान, शिक्षक में अध्यापन के लिये

प्राकृतिक झुकाव आवश्यक।

ही नहीं देखना है, वरन् उसके भविष्य पर भी उसे ध्यान देना है। उसे स्कूल के सारे काम को उनके जीवन का एक कार्य समझना है। ऐसा करने से ही उनकी स्वाभाविक रुचि और भिन्नता के अनुसार कुछ काम किया जा सकता है अर्थात् उनके व्यक्तित्व की रक्षा की जा सकती है। इस प्रकार स्कूल का एक-एक क्षण किसी न किसी उपयोगी कार्य में ही लगाना चाहिए। यह सच है कि शिक्षक अपना कार्य इस प्रकार का नहीं बना सकता कि उससे सभी बालकों को समान रूप से लाभ पहुँचे। पर यह भी मानना पड़ेगा कि चतुर शिक्षक जिसे अपने विद्यार्थियों के हित की चिन्ता रहती है अपने सम्पर्क से प्रत्येक को कुछ न कुछ लाभ अवश्य पहुँचाता है। हाँ, किसी को कम लाभ होगा और किसी को अधिक। स्पष्ट है कि शिक्षक का कार्य बड़ा ही गुरु और महान् है। इसे सभी लोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। जिसमें इसके लिये प्राकृतिक झुकाव है और जिसने इस कार्य के सम्पादन की शिक्षा पाई है वही इसे सफलता से कर सकता है। इसीलिये अध्यापकों के लिए शिक्षण (ट्रेनिंग) की व्यवस्था की गई है।

जीवन की सभी समस्याओं से शिक्षक का परिचय, शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, बालकों के दृष्टिकोण से संसार

अपने कर्त्तव्य-पालन के लिये शिक्षकों को कुछ बातें जानना आवश्यक है। शिक्षक बालक को जीवन के लिये तैयार करता है। अतः जीवन की सभी समस्याओं से उसका कुछ न कुछ परिचय होना चाहिये। साधारणतः यह देखा जाता है कि शिक्षकों का जीवन केवल स्कूल तक ही सीमित रहता है। बाह्य-जगत में क्या हो रहा है इससे उनका अधिक परिचय नहीं।

को देखने की क्षमता।

किसी शिक्षक की ऐसी स्थिति वास्तव में दयनीय है। ऐसा शिक्षक बालकों के पथ-प्रदर्शन के योग्य नहीं। शिक्षक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होना आवश्यक है। जीवन की सरसता में उसका पूरा-पूरा विश्वास होना चाहिये। उसके अनुभव का क्षेत्र इतना विस्तृत हो कि बालक को सभी विषयों में वह अच्छी राय दे सके। उसमें सभी प्रकार के भाव व विचार समझने की क्षमता होनी चाहिये। इस क्षमता के सहारे वह बालकों की भावनाओं को कुछ समझ सकेगा। यदि शिक्षक स्वयं कुछ नहीं जानता तो वह दूसरों के विषय में क्या जानेगा? उसे मानव स्वभाव का अच्छा ज्ञान होना चाहिये। बालकों के दृष्टिकोण से संसार की ओर देखने की उसमें योग्यता होनी चाहिये। उसे यह जानना चाहिये कि किसी विषय को बालकों के लिये रुचिकर बनाकर उनका सहयोग शिक्षाक्रम में कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

बालक के बारे में पूरी जानकारी, शिक्षक जीवन का अध्यापक।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से बहुत बढ़ गया है। उसे केवल कक्षा कार्य कर लेने पर ही सन्तोष की साँस नहीं ले लेनी है। उसे अब बालक के बारे में पूरी जानकारी रखनी है। बालक की बुद्धि विशिष्ट योग्यता, व्यावसायिक, सामाजिक और व्यक्तिगत रुचि; उसके घर का वातावरण तथा उसके सभी प्रकार के अनुभव से शिक्षक को परिचित होना है। इस जानकारी के बिना वह ठीक पथ-प्रदर्शक नहीं बन सकता। यही कारण है कि स्कूलों में अब बालक की विभिन्न योग्यताओं के मापने की व्यवस्था की जा रही है। बालक के बारे में पूरी जानकारी के बाद ही वह उसकी ओर उचित

व्यक्तिगत ध्यान देने में समर्थ होगा। यह सत्य है कि शिक्षक-गण अभी तक अपने उत्तरदायित्व के गुरुता की इस सीमा को नहीं समझ सके हैं। पर यदि राष्ट्र अन्य अग्रगण्य राष्ट्रों का समकक्षीय होना चाहता है तो शिक्षकों को अपने कर्त्तव्य की व्याख्या उपरोक्त विधि से करनी होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि शिक्षक स्कूल-अध्यापक नहीं है, वरन जीवन का अध्यापक है। यदि शिक्षक इस दृष्टिकोण से अपने कर्त्तव्य को समझे तो कर्तव्य-पालन हेतु सारा ज्ञान उसे सुलभ हो जायगा और वह अपने जीवन को एक तपस्या समझेगा—जिससे राष्ट्र के भावी कर्णधार उत्पन्न होते रहेंगे।

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि शिक्षक केवल पाठ्य-वस्तु के ज्ञान से ही अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा सकता। अब यहाँ पर हम यह देखेंगे कि विषय-ज्ञान के अतिरिक्त शिक्षक के अन्य आवश्यक गुण क्या-क्या हैं। शिक्षा एक बढ़ता हुआ विज्ञान है। इसमें परीक्षणों के आधार पर सदा कुछ न कुछ नई बातें निर्धारित होती रहती हैं। प्रगतिशील होने के लिये शिक्षक को इन सभी नवीन बातों से परिचित होना चाहिये। उसमें एक ऐसी मानसिक योग्यता की आवश्यकता है जिससे वह प्रस्तुत विषय का सूक्ष्म विश्लेषण कर सके और यह समझ सके कि उसके नियंत्रण में रहने वाले बालकों के लिये क्या अधिक उपयोगी होगा। यदि उसमें स्वयं विश्लेषण की शक्ति नहीं है तो बालकों में वह उसकी वृद्धि नहीं कर सकता। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि उसके ज्ञान का

शिक्षा की नवीन प्रगतियों से परिचित होना, विश्लेषण की शक्ति, विभिन्न विषयों में समन्वय दिखलाने की क्षमता, दृष्टिकोण उदार।

उपयोग क्या है। उसके उपयोग को समझने के लिये अपने विषय के अतिरिक्त उसे कुछ अन्य विषयों का भी ज्ञान आवश्यक है। तभी वह विभिन्न विषयों में समन्वय (कोरिलेशन) दिखला सकता है। यदि शिक्षक इस सम्बन्ध को स्थापित करने में सफल हो सका तो बालकों के सभी ज्ञान एक ही अनुभव के विभिन्न अंग होंगे। इस प्रकार विभिन्न विषय के अध्ययन में उन्हें एक सामञ्जस्य दिखलाई पड़ेगा। विभिन्न विषयों के परस्पर सम्बन्ध को समझने के लिये आलोचनात्मक शक्ति की आवश्यकता है। यह शक्ति बालकों में पर्याप्त होती है। बालक जो कुछ भी करता है उसे पहले अपनी आलोचना की कसौटी पर कस लेता है। इसीलिये तो छोटा बालक भी 'यह' न करके 'वह' करते देखा जाता है। कुछ लोग कहेंगे कि जो ही सबसे पहले सामने आ जाता है उसी ओर बालक आकर्षित हो जाते हैं। पर ऐसी बात नहीं। किसी कार्य के करने के पहले बालक उसकी उपयोगिता पर अवश्य विचार कर लेता है। यदि ऐसी बात न होती तो वह कुछ सीख ही न पाता। शिक्षक को उचित है कि बालकों में स्थित आलोचनात्मक शक्ति को वह और आगे बढ़ावे। इसके लिये बालकों को सदा प्रश्न पूछने के लिए उत्साहित करते रहना चाहिये। कुछ शिक्षक बालकों के प्रश्न पूछने पर घबरा जाते हैं और इसे उनकी अविनय का चिह्न समझते हैं। इस प्रवृत्ति के शिक्षक अयोग्य होते हैं। उन्हें अपने ज्ञान पर भरोसा नहीं रहता और एक ही प्रश्न पर अटपटा से जाते हैं। अपने विचार से असहमत होने पर योग्य शिक्षक विद्यार्थी से अप्रसन्न नहीं होता, वरन् उसे इस बात की प्रसन्नता होती है कि बालक की आलोचनात्मक शक्ति बढ़ रही है। शिक्षक का दृष्टिकोण उदार होना चाहिये। उसका अपने ही विचार पर

हठ करना वांछित नहीं। बालक के व्यक्तित्व का आदर कर जीवन में सफलता प्राप्त करने के कई रास्तों के अस्तित्त्व उसको स्वीकार करना चाहिये। बौद्धिक स्वतन्त्रता व्यक्ति का सबसे बड़ा गुण है। यदि शिक्षक इस गुण की प्राप्ति की ओर बालक का झुकाव कर सका तो उसका शिक्षक होना सफल है। कुछ शिक्षक अपनी ही विचार-धारा बालकों पर लादना चाहते हैं। वे अन्य सिद्धान्तों और विचारों की घोर निन्दा करते हैं। बहुत से ऐसे शिक्षक हैं जो संगीत, चित्रकला, साहित्य, खेल अथवा व्यायाम आदि के विपक्ष में अपना मत देते हैं और अपने चुने हुये विषय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते नहीं थकते। अपनी विचार-धारा में वे भूल जाते हैं कि शिक्षा-क्षेत्र में बालक का अपना निजी अनुभव और विवेक दूसरों की बात चुपचाप मान लेने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शिक्षक में धैर्य, सभी छात्रों को भाव-प्रकाशन के लिये अवसर देना।

शिक्षक में धैर्य का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि बौद्धिक योग्यता का। प्रायः यह देखा जाता है कि जो शिक्षक बुद्धि में तेज होते हैं उनमें धैर्य की कमी होती है। वे बालकों के किसी अबोध प्रश्न पर ऐसा झिझक उठते हैं कि बालक आत्म-विश्वास खो बैठता है और वह फिर कभी प्रश्न करने का साहस नहीं करता। बुद्धि न रहने पर उसे प्राप्त करना सन्देहात्मक हो सकता है, पर धैर्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं। अभ्यास से धैर्य गुण प्राप्त किया जा सकता है। जिनमें विद्यार्थियों के अबोध प्रश्नों के साथ धैर्य दिखलाने की क्षमता न हो उन्हें अध्यापन कार्य कभी न देना चाहिए। तीव्र बालकों को ही भली-भाँति पढ़ा देना अच्छे अध्यापन का लक्षण नहीं।

अच्छे अध्यापन में तो सभी बालकों को कुछ न कुछ कहने अथवा करने का अवसर दिया जाता है और इस प्रकार नए अनुभव प्राप्त करने में सबका कुछ न कुछ योग रहता है। ऐसा करने पर सभी बालक यह अनुभव करते हैं कि जो कुछ उन्होंने सीखा है अपनी आलोचनात्मक शक्ति और परिश्रम से, न कि शिक्षक के भाषण से। इस प्रकार का अनुभव ही उनका स्थायी संस्कार होता है।

मानव स्वभाव का ज्ञान, व्यक्तिगत भिन्नता समझने की क्षमता।

शिक्षक को मानव स्वभाव का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। वह विभिन्न प्रकार के बालकों के सम्पर्क में आता है। अतः मानव स्वभाव का उसका ज्ञान किसी मनोविज्ञान की पुस्तक में पाये जाने वाले ज्ञान से अधिक जीवित होगा। बालकों का जितना ही वह अध्ययन करेगा उनमें वह उतनी ही भिन्नता पायेगा। भिन्नता समझने की क्षमता न होने पर वह शिक्षक होने योग्य नहीं। बिना बालक को अच्छी तरह समझे वह उसे कैसे प्रेरणा दे सकता है? शिक्षक में बहुत दूर तक सोचने की शक्ति चाहिए। उसमें एक ऐसी अन्तर्दृष्टि हो जो उसे असफलता और निराशा में भी उत्साहित करती रहे। इस अन्तर्दृष्टि के बिना तो वह फैक्ट्री के उस साधारण कार्यकर्त्ता के समान है जिसका सम्बन्ध केवल अपने निर्धारित समय से ही रहता है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सभी लोग शिक्षक नहीं बन सकते। शिक्षक के लिए कुछ ऐसे गुणों की आवश्यकता होती है जो स्वाभाविक और अर्जित दोनों प्रकार के होते हैं। जिनमें ये गुण नहीं है उन्हें शिक्षक बनकर राष्ट्र का अहित न करना चाहिए।

सहायक पुस्तकें

१—वार्ड ऐण्ड रॉसकू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग—अध्याय, २ ।

२—सिडनी हुक—एडूकेशन फ़ॉर मार्डन मैन—अध्याय, ६ ।

३—ई० आर० हैमिल्टन—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड,—अध्याय, १, २ ।

४—टी० रेमॉन्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन अध्याय १७, १८ ।

५—जे० एच० पैन्टन—मार्डन टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेकनिक अध्याय, १३ ।

६—ऑलसेन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी, अध्याय, २० ।

७—फ़िण्डले—फ़ाउन्डेशन्स ऑव् एडूकेशन—भाग १—अध्याय, ८ ।

तीसरा अध्याय

स्कूल का क्षेत्र

बालक के विकास में घर का स्थान स्कूल से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। स्कूल में बालकों को एकसी शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है, पर उनका विकास समान नहीं होता, क्योंकि वे विभिन्न घर अथवा 'वातावरण व वंशानुक्रम से आते हैं। यहाँ पर घर का तात्पर्य वंशानुक्रम और वातावरण दोनों से समझना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि एक ही माता-पिता के तथा एक ही घर में रहने वाले बालकों का वंशानुक्रम और वातावरण भिन्न-भिन्न होता है। क्योंकि गर्भाधान के समय माता-पिता की मानसिक और शारीरिक स्थिति एक सी नहीं रहती और न एक ही घर में रहने वाले बालकों के साथ समान व्यवहार ही सम्भव होता है, क्योंकि अपने-अपने रूप-रंग और स्वभाव के कारण विभिन्न बालक दूसरों से भिन्न-भिन्न व्यवहार पाते हैं*। यही कारण है कि एक ही माता-पिता के सभी बालक समान रूप से विकसित नहीं होते। बालक के विकास में वंशानुक्रम और वातावरण के प्रभाव पर अलग-अलग विचार करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं। यहाँ पर

एक ही घर और माता-पिता के बालकों का वंशानुक्रम और वातावरण समान नहीं।

---

* इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए पाठक लेखक की "आधुनिक मनोविज्ञान और शिक्षा" अध्याय ४ पढ़ें।

घर का प्रयोग माता-पिता के सम्बन्धी सीमित वातावरण के विशिष्ट अर्थ में ही किया जायगा।

बालक के विकास में घर का भी भारी हाथ रहता है। यदि स्कूल के कार्य में घर सहयोग नहीं देता अर्थात् यदि माता पिता शिक्षक की राय के अनुसार बालकों पर ध्यान नहीं देते तो उनका विकास ठीक ढंग पर न चल पायगा। यदि घर का प्रभाव अवांछित दिशा की ओर गया तो स्कूल किसी प्रकार भी बालक को उचित रास्ते पर नहीं ला सकता। शैशव और बचपन में तो बालक का सामाजिक वातावरण घर ही तक सीमित रहता है। उम्र बढ़ने के साथ मित्रता बढ़ जाने पर भी घर का वातावरण बालक पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। बालक के प्रायः सब गुणों की नींव कुटुम्ब के ही वातावरण में पड़ जाती है। सहानुभूति, उदारता, न्याय-प्रियता तथा सत्यता आदि गुण तथा स्वार्थान्धता, झूठ बोलना तथा आलस्य आदि अवगुण बालक में सर्व प्रथम कुटुम्ब के ही वातावरण में अंकुरित होते हैं। अपने विचारों को कुछ शब्दों में प्रगट करना वह कुटुम्ब में ही सीखता है। कहने का तात्पर्य यह है कि स्कूल में पहले पहल आया हुआ बालक कोरी पटिया नहीं है कि उस पर जो चाहे लिख दे। स्कूल में पहुँचते-पहुँचते बालक की प्रायः सभी मानसिक शक्तियों की नींव पड़ी रहती है। अच्छा या बुरा, प्रिय अथवा अप्रिय परखने की उसमें कुछ शक्ति पहिले से ही उत्पन्न हो जाती है। इसी शक्ति की सहायता से विभिन्न उत्तेजनाओं के प्रति उसकी

बालक के विकास में घर का हाथ, बालक कोरी पटिया नहीं; प्रथम छः वर्षों तक घर के ही मनोवैज्ञानिक वातावरण का स्कूल में अनुसरण आवश्यक।

प्रतिक्रिया होती है। सीखना उसकी प्रतिक्रिया पर ही निर्भर है। बालक को मानसिक शक्तियों की नींव दृढ़ हो जाय इसके लिये यह आवश्यक है कि कम से कम उन्हें प्रथम छः वर्ष तक कुटुम्ब के ही मनोवैज्ञानिक वातावरण में रखा जाय। यही कारण है कि 'मॉन्तेसरी' और 'किंडरगार्टेन' जैसे स्कूल जो कि तीसरी अवस्था में ही बालकों को भर्ती कर लेते हैं अपने यहाँ बच्चों के लिए घर ही सा वातावरण उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा की सफलता पर ही उनके उत्तर-दायित्व का सफल सम्पादन निर्भर है। उपर्युक्त विवेचन से यह न समझना चाहिए कि प्रथम छः वर्षों तक बालक को स्कूल न भेजना चाहिए। स्कूल में आकर बालक अपने ही जैसे अन्य बालकों के सम्पर्क में आता है। उसकी कूपमण्डूकता यहीं टूटती है और उदारता की नींव अधिक दृढ़ होती है। अतः स्कूल में भेजना आवश्यक है। पर इस अवस्था में उसके साथ घर ही जैसा व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि वह बहुत अंशों में अभी असहाय ही होता है। उसे अभी दूसरों की सहानुभूति की अधिक आवश्यकता होती है। इसी अवसर पर वह बहुत सी बातें दूसरों के सम्पर्क में आने से सीखता है। इस सीखने में गलतियों का होना स्वाभाविक है। यदि बालकों के व्यक्तित्व का सन्तोषजनक विकास वांछित है तो इन गलतियों के प्रति सहानुभूति ही दिखलानी होगी। डाँट सुनाकर बालक को किसी बात का सिखलाना मानो डण्डे मारकर बिल्ली को अपने पास फिर बुलाने की चेष्टा करना है।

बालकों को स्कूल में बुलाकर उन्हें दूसरों के अनुभव का ज्ञान नहीं कराना है। वस्तुतः स्कूल का उद्देश्य पढ़ाना नहीं वरन् विकास करना है। सच्ची शिक्षा वही है जो बालक की

स्वाभाविक रुचियों के अनुसार दी जाती है। उसकी स्वाभाविक रुचियों को समझने के लिए सहानुभूति सबसे बड़ा साधन है। इसीलिए तो पेस्तालॉजी ने स्कूल को 'प्यार का घर' की संज्ञा दी है। फ्रोबेल भी कहता है कि स्कूल ऐसा हो कि बालक वहाँ वैसे ही प्रसन्नचित्त जाय जैसे वह खेल के मैदान में आता है। पेस्तालॉजी कहता

स्कूल का उद्देश्य पढ़ाना नहीं विकास करना, स्कूल 'प्यार का घर' अभिभावकों का सहयोग लेना।

है कि बालक को पढ़ाना नहीं है, वरन् प्यार करना है। एक बार किसी विद्यार्थी का पिता पेस्तालॉजी का स्कूल देखने गया। उसके मुँह से निकल पड़ा "अरे! यह तो स्कूल नहीं, एक घर है।" पेस्तालॉजी ने कहा "यही तुम मुझे सबसे बड़ी प्रशंसा दे सकते हो। ईश्वर को धन्यवाद है कि मैं यह दिखा सका कि स्कूल और घर के वातावरण में कोई भेद नहीं।" हमारे देश के प्राइमरी स्कूल अभी इस दृष्टिकोण से बहुत ही पीछे हैं। यद्यपि शारीरिक दण्ड के विरुद्ध शिक्षाधिकारियों ने नियम पास कर दिया है, पर अभी हमारे शिक्षकों में इतनी जागृति नहीं कि उस नियम का वे पालन कर सकें। गाँव तथा शहरों के प्रायः सभी प्राइमरी स्कूलों में बालक सदा सशंक रहते हैं कि पता नहीं अध्यापक का हाथ रूपी बाण उनके ऊपर कब छूट जाय। बालक के विकास में दण्ड का भी स्थान अवश्य है। माता-पिता भी तो बच्चों को दण्ड देते ही हैं। पर भेद मनोवृत्ति का आ जाता है। किसी विषय के न समझने पर मार खाने का औचित्य बालक की समझ में कभी नहीं आता। वह किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अटपटा जाता है। मार से भय उत्पन्न होता है। 'भय' संवेग से पलायन-मूल-प्रवृत्ति जागृति हो

है। अतः भय देकर किसी विषय का बालक को सिखाना पढ़ाना नहीं है, वरन् उसे उससे दूर भगाना है। बालक की रुचि पर ध्यान रखकर प्यार के साथ उसका इस प्रकार मार्ग-प्रदर्शन करना है कि उसकी विभिन्न शक्तियों का विकास हो सके। इस चेष्टा में रहना ही स्कूल का प्रधान उत्तरदायित्व है। स्कूल अपना उत्तरदायित्व बिना अभिभावकों और माता-पिता के सहयोग के नहीं निभा सकता। माता-पिता अथवा अभिभावकगण कुछ अंशों में बालकों की रुचियों को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं, क्योंकि वे उनके सम्पर्क में अधिक आते हैं। स्कूल अधिकारियों को उचित है कि वे यदाकदा अभिभावकों से राय लिया करें और उनके सहयोग से बालकों के चरित्र विकास का प्रयत्न करें।

समाज की कुरीतियों से बालकों को अवगत करना और उन्हें दूर करने के लिये उनमें शक्ति देना, विभिन्न गुण उत्पन्न करने के लिए स्कूल सुगम साधन।

स्कूल का रूप अब पहले से बहुत बदल गया है। अब उसका जीवन से घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता जान पड़ती है। वर्त्तमान शिक्षा की अव्यावहारिकता अब पहले से अधिक खटकने लगी है, क्योंकि हमारा राष्ट्र अब संसार के अग्रगण्य राष्ट्रों के समकक्षी होने की धुन में आ गया है। मानव इतिहास इसका साक्षी है कि प्रत्येक महाभारत के बाद देश के शिक्षा-सिद्धान्त तथा प्रणाली की छान बीन की जाती है और आवश्यकतानुसार उसे पुनःव्यवस्थित करने का उद्योग किया जाता है। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद योरप के कई देशों की शिक्षा प्रणालियों में महान परिवर्त्तन किये गये। सन् १९१७ की रूस-क्रान्ति

के बाद वहाँ की शिक्षा प्रणाली की पूरी कायापलट की गई। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप आज भी हम प्रायः सभी देशों की शिक्षा-व्यवस्था में कुछ उथल-पुथल देखते हैं। प्रत्येक देश अपनी शिक्षा के पुनर्संगठन में लीन है। अब कर्णधारों का शिक्षा के व्यक्तिगत और सामाजिक व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान है। नैतिक, रागात्मक (इमोशनल), शारीरिक और बौद्धिक सभी आवश्यकताओं के पूर्ति की शिक्षा द्वारा उपेक्षा की जाती है। फलतः शिक्षा-सिद्धान्त का भी कुछ इधर ही झुकाव हो रहा है और यह अनुभव किया जाने लगा है कि स्कूल को इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये व्यक्ति को योग्य बनाना है। आज के संसार में अभूतपूर्व परिवर्त्तन-शीलता दिखलाई पड़ती है। शिक्षा-क्षेत्र में इसका रूप बहुत ही उग्र दिखलाई देता है। अब समस्या यह है कि शिक्षा की व्यवस्था किस प्रकार की जाय कि राष्ट्र की माँग अधिक से अधिक पूरी हो सके। स्कूल का यह कर्त्तव्य है कि बालकों को समाज की कुरीतियों से अवगत करे और उन्हें दूर करने के लिये उनमें दृढ़ इच्छा उत्पन्न करे। विभिन्न परिस्थितियों को समझने और तत्सम्बन्धी उचित निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए स्कूल सबसे सुगम साधन है। सहिष्णुता, उदारता तथा प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों में व्यक्ति का विश्वास स्कूल ही द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। समाज हित का उत्तरदायित्व अपने ऊपर समझने की प्रवृत्ति व्यक्ति में स्कूल ही को डालनी है। इन सब उद्देश्यों की पूर्ति का उत्तरदायित्व स्कूल के अपने ऊपर ले लेने से क्या हमारी शिक्षा-समस्या का हल नहीं निकल आता? अतः हमें स्कूल को ऐसे ढाँचे में ढालना है कि वह उपरोक्त विधि से अपने कर्त्तव्य-पालन में लग जाय।

गत पृष्ठों से यह स्पष्ट है कि स्कूल सभी बालकों का समान रूप से विकास नहीं कर सकता। पर वह सभी बालकों को जीवन के साधारण सिद्धान्तों से अवगत तो करा ही सकता है। समान शिक्षा पाये हुये व्यक्तियों में भी मतभेद का होना स्वाभाविक है। पर यदि उनकी शिक्षा उच्चकोटि की हुई तो उनका मतभेद भी एक प्रकार से प्रकाश का ही कार्य करेगा। मतभेद अधिक अच्छा पथ ढूंढ़ने के लिए होगा, न कि आपस में झगड़ा करने के लिए। जिन व्यक्तियों को देश, समाज और संसार की स्थिति का ठीक ज्ञान नहीं रहता और जिनके स्वभाव में समाज-हित का भाव नहीं रहता उन्हीं का मतभेद भयावह और हानिकर सिद्ध होता है। समाज-हित का भाव नागरिक में आ सके इसके लिए आवश्यक है कि स्कूल के कार्यक्रम में सामाजिक विज्ञान के अध्ययन का पूरा आयोजन हो। यदि व्यक्ति को विभिन्न सामाजिक आवश्यकताओं के बारे में वैज्ञानिक विधि से विचार करने का अवसर स्कूल में दिया जाय और मानव कल्याण के अनुसार आचरण करना सिखलाया जाय तो इतना निश्चित है कि कुछ ही दिनों में हमारे समाज से युद्ध का नाम हट जायगा और राष्ट्रीयता के स्थान पर सब लोग अन्तर्राष्ट्रीयता की ही चर्चा करेंगे। इस प्रवृत्ति के लोग अपने कुछ कम शिक्षित भाइयों का भी उचित पथ-प्रदर्शन कर सकेंगे और ऐसे ही लोगों के हाथ में राष्ट्र और संसार का भाग्य सुरक्षित रह सकेगा।

सामाजिक विज्ञान के अध्ययन का आयोजन।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि 'क्या स्कूल ही व्यक्ति में इस प्रकार की प्रवृत्ति पैदा कर सकता है? क्या स्कूल के बाहर

अन्य संस्थायें ऐसी मनोवृत्ति देने में सफल नहीं हो सकतीं ?' यह ठीक है कि कुछ अन्य साधनों द्वारा भी यह सम्भव हो सकता है। कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य हैं जिन्होंने स्कूल में बहुत ही कम शिक्षा पाई है, पर पुस्तकों, समाचार-पत्र, सुहृद्-गोष्ठी व रेडियो आदि साधनों से अपने को ऐसा परिष्कृत कर लिया है कि उनसे समाज के अकल्याण की कल्पना तक नहीं की जा सकती। पर जिसने स्कूल में वैज्ञानिक विधि पर शिक्षा पाई है और जिसके सामने समाज-हित का विश्लेषण विविध प्रकार से किया गया है उसके वांछित दिशा को ओर पहुँचने की अधिक आशा की जा सकती है। स्कूल के बाहर शिक्षित व्यक्ति का दृष्टिकोण कदाचित् उतना उदार न होगा जितना स्कूल से निकले हुये व्यक्तियों के सम्बन्ध में सम्भावना की जा सकती है। स्कूल अथवा कालेज के बाहर शिक्षा पाया हुआ व्यक्ति अपने क्षेत्र में प्रवीण हो सकता है, पर अन्य सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी उसके विचार अपने ही सीमित वर्ग के हित के अनुसार होंगे। क्या सामाजिक समस्यायें बदला नहीं करतीं ? क्या भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है ? यदि नहीं तो भावी समस्याओं के विषय में स्कूलों में पहले ही कैसे विचार किया जा सकता है ? यह ठीक है कि भावी समस्याओं का हम ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगा सकते। पर क्या उनका सामना करने के लिए युवकों को पहले से ही आवश्यक बुद्धि व बल देना युक्ति-संगत न होगा ? क्या घर में आग लगने पर कुँआ खोदने का प्रयत्न करना बुद्धिमानी का द्योतक है ? हम स्कूलों में किसी समस्या विशेष के लिए बालकों को शिक्षित करने का

आदर्श नागरिक बनाना स्कूल का कर्त्तव्य, बालकों में अन्तर्राष्ट्रीयता की जागृति करना।

उद्योग नहीं करेंगे। हमारा प्रयत्न तो उन्हें केवल साधारण ज्ञान और सिद्धान्तों से ही अवगत करना होगा। इस उद्देश्य का यह तात्पर्य नहीं कि स्कूल का कर्त्तव्य राजनीतिज्ञों की उत्पत्ति करना है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि स्कूल ऐसी शिक्षा दे कि देश में ऐसे नागरिक हों जिन्हें केवल अपना राष्ट्र-हित ही इच्छित न हो, वरन् संसार-हित भी उतना-ही प्रिय हो। यदि स्कूल भावी नवयुवकों में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न करने में सफल न हो सका तो 'हिटलर' और 'तोजो' सदा उत्पन्न होते रहेंगे और विश्व-शान्ति सदा खतरे में रहेगी। यदि लोकतन्त्र को सुरक्षित रखना है तो स्कूल को यह सिखाना ही होगा कि अपना नेता किस प्रकार चुनना चाहिए। यदि सामाजिक समस्याओं सम्बन्धी व्यक्ति में अपेक्षित जागृति न हो सकी तो वह भीड़ में पड़कर अपना व्यक्तित्व खो बैठेगा और समूह-मनोविज्ञान (मॉब साइकॉलॉजी) का शिकार हो अयोग्य व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार कर बैठेगा और इस प्रकार समाज के अकल्याण में हाथ बटायेगा।

स्कूल में सभी विषयों का पढ़ाया जाना सहिष्णुता तर्क और न्यायप्रियता उत्पन्न करने के लिए आवश्यक।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या विवादग्रस्त विषयों को स्कूलों में पढ़ाना समय नष्ट करना नहीं है? स्कूल में उन्हीं विषयों को क्यों न पढ़ाया जाय जिनमें सभी एकमत हैं? पर ऐसा तो तानाशाही में ही सम्भव हो सकता है। प्रजातन्त्रात्मक राज्य में तो सदा मतभेद रहेगा, क्योंकि उसमें व्यक्ति को वाणी की स्वतन्त्रता रहती है। अपनी इस वाणी की स्वतन्त्रता का कहीं वह दुरुपयोग न कर बैठे इसलिए उसे सहिष्णु, तार्किक और

न्यायप्रिय बनाना होगा। इस अध्याय के प्रारम्भ में ही हम देख चुके हैं कि इन गुणों की प्राप्ति स्कूल के सम्पर्क में सरलता से हो सकती है। यदि स्कूल के वातावरण में विवादग्रस्त विषयों पर विचार नहीं किया जाता तो उपर्युक्त गुणों का प्रादुर्भाव बालकों में कैसे हो सकता है? ये गुण अभ्यास से ही प्राप्त होते हैं। अतः स्कूल में इनका अभ्यास कराना आवश्यक है। यदि स्कूल केवल देश की प्राचीन संस्कृति में ही बालकों का अनुराग पैदा करने का प्रयत्न करता है, यदि वह अपने ही राष्ट्र को सर्वश्रेष्ठ समझने की भावना बालक में डाल देता है अथवा केवल कुछ विषयों को पढ़ा देने से ही वह अपने कर्त्तव्य की पूर्ति समझता है, तो यह निश्चित है कि वह ऐसे नागरिकों को तैयार करेगा जो अपने ही हित में रत रहेंगे और एक दिन वे समाज में अशान्ति उत्पन्न करने में योग देंगे।

सामाजिक विकास में व्यक्ति के कर्त्तव्य की विवेचना, बालकों की रुचियों का विकास करना।

बहुधा स्कूल अपना ध्यान भूतकालीन सभ्यता के तत्त्वों को समझाने में ही अधिक देते हैं, क्योंकि बौद्धिक और सौन्दर्य-विकास का यही सबसे अच्छा साधन समझा जाता है। यह प्रणाली व्यक्ति के विकास में सहायक हो सकती है, पर स्कूल को यह भी सिखलाना चाहिए कि समाज के प्रति व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यों का पालन किस प्रकार करना चाहिए। सामाजिक विकास में व्यक्ति का भाग क्या है इसकी स्कूल में पूरी विवेचना होनी चाहिये। यदि व्यक्ति यह समझ कर तदनुसार कार्य कर सका तो उसे शान्ति मिलेगी और तभी वह अपनी रुचि के अनुसार किसी एक विषय में

पांडित्य प्राप्त करने में सफल होगा। हमारे देश के नवयुवक स्कूल अथवा कालेज से निकलने के बाद बेकारी का अनुभव करते हैं। नौकरी के लिए वे इधर उधर घूमते हैं और पेट-पालन की समस्या के आगे उन्हें कुछ दिखलाई नहीं पड़ता। फलतः उनका सारा सामाजिक विकास, उदारता और परमार्थ वहीं ठप हो जाता है। ऐसी स्थिति को रोकना बड़ा आवश्यक है। स्कूल में ऐसी शिक्षा देनी है कि उससे निकलने के बाद युवक बेकारी का अनुभव न करे। यह तभी सम्भव है जब शिक्षा द्वारा उसकी रुचियों का अच्छी प्रकार विकास किया जा सके। अगले अध्याय में हम यह देखेंगे कि बालकों की विभिन्न रुचियों के विकास के लिए पाठ्य-क्रम में किन-किन विषयों को स्थान देना चाहिए।

सहायक पुस्तकें

१—जॉन ड्यूई—स्कूल्स ऑव् टुमॉरो, अध्याय ७, ८।

२—टी० रेमॉण्ट—प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय ३।

३—ऑलसन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्यूनिटी।

चौथा अध्याय

पाठ्य-क्रम का संगठन

१—कुछ साधारण बातें—

शिक्षा-क्षेत्र में पाठ्य-क्रम के संगठन से अधिक महत्व-पूर्ण कोई और समस्या नहीं। देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति के कारण भी इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। वस्तुतः राष्ट्र की नीति के अनुसार ही किसी देश की शिक्षा का पाठ्य-क्रम संगठित किया जाता है। स्पार्टनों का प्रधान उद्देश्य अपनी जाति के सौन्दर्य और राष्ट्र की रक्षा था। अतः उनके पाठ्य-क्रम में कुश्ती, कृत्रिम युद्ध, निश्चित विधि से सबको व्यायाम कराना और सैनिक शिक्षा की प्रधानता थी। उनके शिक्षा-क्रम में नैतिक विकास पर पूरा ध्यान दिया जाता था। प्राचीन वीरों का उदाहरण, स्पर्धा तथा संगीत आदि की सहायता से उनमें देशभक्ति और वीरता के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा की जाती थी। एथेन्सवासियों का आदर्श स्पार्टनों से भिन्न था। अतः उनकी शिक्षा में पाठ्य-क्रम का संगठन दूसरे प्रकार का था। वे व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के पक्षपाती थे। उनकी शिक्षा-क्रम में विभिन्न कलाओं को स्थान दिया गया। सुधार-युग में धार्मिक

पाठ्य-क्रम के संगठन में राष्ट्र के नीति का प्रभाव, पाठ्य-क्रम का सिद्धान्त तात्कालिक आवश्यकता जाति और आदर्श का अध्ययन, योग्यतम व्यक्तियों द्वारा इसका निर्धारण

प्रवृत्ति के प्राबल्य होने के कारण पाठ्य-क्रम में धार्मिक विषयों को प्रधानता दी गई। इसी प्रकार किसी भी देश व काल की प्रगति उसकी शिक्षा के पाठ्य-क्रम को देख कर समझा जा सकती है, क्योंकि समाज की माँग के अनुसार ही बालकों में शिक्षा द्वारा कुछ भावना भरने का प्रयास किया जाता है। एक दिन था जब कि भारत में गुरुकुलों का बड़ा सम्मान था और बालक की शिक्षा का सारा उत्तरदायित्व उन्हीं पर सौंपा जाता था। वर्ण-व्यवस्था के प्रचार के फलस्वरूप विभिन्न वर्ण वाले अपने-अपने बालकों को अपने व्यवसाय में तैयार करते थे और पिता अपने पुत्र का पाठ्य-क्रम स्वयं बना लेता था। राज्य अथवा राष्ट्र उसमें हस्तक्षेप न करता था। ब्राह्मण-काल के बाद बौद्ध काल में राजकीय पदों के लिये बौद्ध होना आवश्यक था। अतः पाठ्य-क्रम में बौद्ध धर्म की शिक्षा पर विशेष जोर दिया गया। मुसलमान कालीन भारत में धार्मिक भाव को उत्पन्न करना ही शिक्षा का विशेष उद्देश्य रहा। इसलिए मकतब और पाठशालाओं में विशेष कर धर्म की चर्चा प्रधान रहती थी। अँग्रेजी काल में साम्राज्यवाद की नींव दृढ़ करनी थी। अतः शिक्षा के कर्णधारों ने पाठ्य-क्रम का संगठन इस प्रकार किया कि साम्राज्य की नींव दृढ़ करने में योग मिल सके। पीछे भी हम इस ओर संकेत कर चुके हैं। आज हमारा राष्ट्र स्वतन्त्र है और हम अपनी गणना अन्य बड़े राष्ट्रों में करना चाहते हैं। फलतः हमारे सामाजिक, राजनैतिक, तथा आर्थिक सभी क्षेत्र में एक प्रकार की क्रान्ति सी दिखलाई पड़ती है। धार्मिक क्षेत्र में भी हमें पहले से कम कट्टरता जान पड़ती है। विज्ञान की आशातीत गति को देख यह भय सा लगता है कि व्यक्ति कहीं जड़वाद में ही न फँस जाय और जीवन की सरसता न

खो बैठे। फलतः अब शिक्षा विशेषज्ञों में यह भी चर्चा चल पड़ी है कि धार्मिक और नैतिक शिक्षा की व्यवस्था के लिये भी कोई ऐसा उपाय ढूढ़ना चाहिये जो कि सर्वमान्य हो। इन सब बातों को देखने से यह स्पष्ट है कि पाठ्य-क्रम के संगठन का प्रथम सिद्धान्त देश की तात्कालिक आवश्यकता तथा जाति के आदर्श का अध्ययन करना है। केवल वही व्यक्ति पाठ्य-क्रम के संगठन में योग दे सकता है जिसे देश की आवश्यकता और जाति के आदर्शों का ठीक-ठीक बोध हो। अतः पाठ्य-क्रम का संगठन बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है और राष्ट्र के कर्णधारों को इसकी अवहेलना न करनी चाहिए। रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका में पाठ्य-क्रम के संगठन को भारी राष्ट्रीय महत्त्व दिया जाता है और अतुल धन व्यय कर योग्यतम व्यक्तियों को ही इसका उत्तरदायित्व दिया जाता है।

विभिन्न विषयों के चुनने की कसौटी का ज्ञान।

केवल देश की आवश्यकता और जाति के आदर्शों के ज्ञान से ही पाठ्य-क्रम के संगठन में सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। संगठन में विभिन्न विषयों के चुनने की कसौटी का भी पाठ्य-क्रम-कर्त्ता को ज्ञान होना चाहिये। इस कसौटी के आधार पर ही किसी विषय को स्वीकार अथवा अस्वीकार करना ठीक होगा। यह तो किसी भी विषय को स्वीकार करने के पक्ष में बहुत सी बातें कही जा सकती हैं। किसी हस्तकला के पढ़ाने का समर्थन उतने ही गम्भीर शब्दों में किया जा सकता है जितना कि गणित के। पर समस्या यह है कि बचपन के छोटे काल का किस प्रकार पथ-प्रदर्शन किया

जाय कि परिश्रम का अधिक से अधिक फल मिले और भावी कर्तव्य-पालन के लिए व्यक्ति तैयार हो जाय। स्पष्ट है कि हमारे पास विभिन्न विषयों के मूल्यांकन की एक ऐसी कसौटी होनी चाहिए जिससे उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक विषय चुने जा सकें। नीचे हम यही विचार करेंगे कि यह कसौटी क्या हो।

बौद्धिक-विनय की कसौटी

कुछ विद्वानों ने 'बौद्धिक विनय, (मेण्टल डिसीप्लिन) को मूल्यांकन की एक कसौटी माना है। उनका कहना है कि 'बौद्धिक विनय' से व्यक्ति की सभी मानसिक शक्तियों का विकास हो जाता है और इस विकास से वह किसी भी कार्य को करने में समर्थ हो सकता है। विद्वानों के अनुसार 'बौद्धिक विनय' के विकास के लिये विभिन्न मानसिक शक्तियों की सूची बनाकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि किसी शक्ति के विकास के लिये किस विषय के अध्ययन की आवश्यकता होगी। कुछ लोगों का कहना है कि निरीक्षण-शक्ति के विकास के लिये विज्ञान का पढ़ाना आवश्यक है। विज्ञान के अध्ययन से आँख तथा हाथ के प्रयोग से निरीक्षण-शक्ति की वृद्धि होती है। पर ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता। क्या रसायनशास्त्र का वेत्ता जीव-विज्ञान के क्षेत्र में अपनी निरीक्षण-शक्ति का उपयोग कर सकता है? वस्तुतः निरीक्षण-शक्ति का सम्बन्ध रुचि से है। जिस विषय में व्यक्ति की रुचि होती है उसी में उसकी निरीक्षण-शक्ति भी तीव्र होती है। अरुचिकर विषय में व्यक्ति की उदासीनता ही दिखलाई पड़ती है। हाँ, यह बात मानी जा सकती

रुचि के विकास का प्रयत्न।

है कि जो एक विषय में अच्छा निरीक्षण शक्ति रखता है वह उस विषय से सम्बन्धित किसी अन्य क्षेत्र में भी किसी अनभिज्ञ व्यक्ति से अधिक निरीक्षण-शक्ति का प्रदर्शन करेगा। सभी वस्तुओं को समान रूप से निरीक्षण करने की कोई शक्ति नहीं होती। अपनी-अपनी रुचि के विषय में सभी लोग अच्छे निरीक्षक होते हैं। अतः रुचि के विकास का प्रयत्न करना चाहिए, न कि निरीक्षण-शक्ति का। रुचि के विकास से निरीक्षण-शक्ति का विकास स्वतः हो जाता है।

तर्क शक्ति की वृद्धि

कुछ लोगों का कहना है कि तर्क शक्ति की वृद्धि के लिए गणित का पढ़ाना आवश्यक है। पर गणित के लिए किसी विशेष तर्क शक्ति की आवश्यकता नहीं। तर्क शक्ति सदा एक ही प्रकार की होती है चाहे वह साहित्य, इतिहास अथवा अन्य किसी विषय की हो। कुछ लोग कह सकते हैं कि गणित में अंकों और निष्कर्षों का सदा एक ही मान होता है। अतः इसमें तर्क-शक्ति की प्रखरता अधिक होती है। पर ऐसा किसी भी विषय के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अतः तर्क-शक्ति की वृद्धि के लिए गणित का पढ़ाना युक्ति संगत नहीं, इसके लिए तो तर्क-शास्त्र का पढ़ाना अधिक उपयुक्त होगा। पर जीवन में गणित की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यक्ति के लिए उसका कुछ न कुछ ज्ञान तो आवश्यक है।

स्मृति-शक्ति की वृद्धि।

कुछ लोगों के अनुसार स्मृति-शक्ति की वृद्धि के लिए इतिहास तथा भाषा का अध्ययन करना चाहिये। यहाँ भी निरीक्षण की तरह रुचि की ही बात आ जाती है। अपनी रुचि के विषय में सब की स्मृति-शक्ति तेज होती है।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि धारण-शक्ति स्वाभाविक होती है और उसमें विशेष परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क वही वस्तुऐं याद करता है जिसकी व्यक्ति को आवश्यकता होती है। आवश्यकता बीत जाने पर याद की हुई बातें भूल भी जाती हैं, पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि पहले से व्यक्ति को स्मृति शक्ति खराब हो गई। उदाहरणार्थ, जिन गणित के प्रश्नों को व्यक्ति बचपन में याद कर लेता था उसे युवावस्था में कंठ करने में उसे बड़ी कठिनाई होती है। गणित में विशेष रुचि न रखने वाले प्रायः सभी व्यक्तियों का ऐसा अनुभव होगा। क्या बचपन से युवावस्था में उसकी स्मृति कम हो जाती है? नहीं, बात यह है कि युवावस्था में उसे उन बातों की आवश्यकता नहीं, उसकी अब उधर बहुत कम रुचि रह गई है। अतः उसे वह भूल जाता है।

कल्पना-शक्ति का विकास।

कल्पना-शक्ति के विकास के ध्येय से साहित्य का पढ़ाना ठीक नहीं। साहित्य का उद्देश्य इतना ही मान लेना भ्रम होगा। कल्पना-शक्ति का विकास अन्य विषयों के द्वारा भी किया जा सकता है। कल्पना-शक्ति प्रत्येक में दैवी होती है। शिक्षा द्वारा केवल यह चेष्टा की जाती है कि उसका उपयोग बुरी बातों में न होकर अच्छी बातों के लिए हो। अतः हमारा उद्देश्य अच्छी रुचि उत्पन्न करना है। व्यक्तित्व का विकास अच्छी रुचि पर ही निर्भर करता है। साहित्य तथा इतिहास आदि के अध्ययन से अच्छी रुचियों के विकास की आशा की जा सकती है। उनमें मानव हित के विभिन्न अंगों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या रहती है। अतः साहित्य व इतिहास का अध्ययन

कल्पना-शक्ति के विकास के लिए नहीं, वरन् पहले ही से प्राप्त कल्पना-शक्ति को अच्छी ओर लगाने के उद्देश्य से किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी विषय के सीखने में किसी विशेष मानसिक शक्ति की वृद्धि नहीं होती। मस्तिष्क की विभिन्न शक्तियाँ अलग-अलग काम नहीं करती। किसी कार्य में सारी शक्तियाँ एक साथ मिलकर काम करती हैं। यदि विधि अच्छी हुई तो अधिक से अधिक शक्तियों का विकास होगा। अतः मानसिक शक्तियों का विकास सीखने अथवा पढ़ाने की विधि पर निर्भर करता है। यदि विधि मनोवैज्ञानिक न हुई तो विज्ञान और साहित्य के अध्ययन में व्यक्ति दूसरों की कही बात को शीघ्र मान लेगा और अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग न करेगा। जहाँ अपनी कल्पना-शक्ति का अभ्यास नहीं होता वहाँ अन्य मानसिक शक्तियों का विकास भी रुक जाता है। स्वयं सोची हुई बात पर अच्छा तर्क किया जा सकता है और वह शीघ्र स्मृति-पटल पर जम जाती है।

किसी विषय के पढ़ने में किसी विशेष मानसिक शक्ति की वृद्धि नहीं।

इन सबसे यह न समझना चाहिये कि शिक्षा में 'बौद्धिक विनय' अथवा विकास का महत्व नहीं। वस्तुतः बौद्धिक विनय प्राप्त करना तो शिक्षा के प्रधान उद्देश्यों में से है। परन्तु इसी उद्देश्य से किसी विषय का पाठ्य-क्रम में लेना भ्रान्ति सूचक होगा, क्योंकि किसी विषय के चुनाव में जीवन में उसकी उपयोगिता पर ध्यान दिया जाता है, न कि उससे

किसी विषय का चुनाव जीवन में उसकी उपयोगिता के आधार पर, मानसिक शक्ति का विकास विधि पर निर्भर।

सम्बन्धित किसी विशेष मानसिक शक्ति का। मानसिक शक्ति का विकास पठन-पाठन की विधि पर अधिक निर्भर रहता है। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि व्यक्ति के विकास में सभी विषयों का समान महत्व है, अर्थात् विज्ञान पढ़ने से वही बात सीखी जा सकती है जो इतिहास के अध्ययन से, अतः किसी एक का ही अध्ययन पर्याप्त होगा। स्पष्ट है कि प्रत्येक विषय का मनोवैज्ञानिक मूल्य अलग-अलग उसी प्रकार होता है जैसे में प्रत्येक की विभिन्न उपयोगिता।

कुछ लोग जीवन में उपयोगिता की दृष्टि से पाठ्य-क्रम का संगठन करना चाहते हैं। परन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब की आवश्यकता भिन्न-भिन्न होगी। अतः इस विषय में किसी सामान्य सिद्धान्त पर आना बड़ा कठिन मालूम पड़ता है। क्या बिना किसी की रुचि का ध्यान दिये ही सामान्य रूप से पाठ्य-क्रम का संगठन कर दिया जाय? कुछ लोग कहते हैं कि प्राथमिक शिक्षा का रूप नींव सदृश होना चाहिए। इसमें बालक को लिखने पढ़ने और साधारण अंकगणित का ज्ञान दे देना चाहिये। परन्तु माध्यमिक श्रेणी में व्यक्ति की जीवन-आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए। पाठ्य-क्रम का रूप इतना विस्तृत हो कि बालक अपनी रुचि के अनुसार शिक्षा पाकर जीवन संग्राम के लिए तैयार हो जाय। कुछ दूसरे लोगों का कहना है कि स्कूलों में किसी व्यवसाय के योग्य बनाने के लिए बालकों को शिक्षा देना उचित नहीं, परन्तु प्राथमिक और माध्यमिक दोनों शिक्षा काल के अन्तिम एक या दो साल में कुछ ऐसी बातें अवश्य

किसी सामान्य सिद्धान्त पर आना कठिन।

सिखलानी चाहिये, जिनका बालक के भावी व्यवसाय से कुछ सम्बन्ध हो।

अपने जीवन-यापन के लिए सभी को कुछ न कुछ करना पड़ता है। इस बात की अवहेलना नहीं की जा सकती। पर यह भी न भूलना चाहिए कि शिक्षा का तात्पर्य केवल भाषा, इतिहास व विज्ञान आदि पढ़ाना ही नहीं है, वरन् उसका सम्बन्ध तो सम्पूर्ण जीवन से है। आजकल हम इस बात को भूल गए हैं, इसीलिए हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली में समूल परिवर्तन करने की आवश्यकता जान पड़ती है। पाठ्य-क्रम के संगठन में हमें 'बालक' और 'समाज' को प्रधान अंग मानना चाहिये। गत पृष्ठों में हम इस ओर कई बार संकेत कर चुके हैं। हमें पहले बालक के स्वभाव व रुचि का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसके बाद बालक के प्रधान वातावरण अर्थात् उसके समाज पर ध्यान देना होगा। जन्मते ही बालक समाज का सदस्य हो जाता है। समाज से लाभ उठाने के कारण उसके प्रति उसका कुछ उत्तर-दायित्व हो जाता है। अतः पाठ्य-क्रम में बालक और समाज की आवश्यकताओं का समन्वय होना चाहिये। उसका रूप ऐसा हो कि बालक के व्यक्तित्व-विकास के साथ समाज-हित का भी उद्देश्य जीवित रहे। एक की भी अवहेलना दोनों के लिए हानिकर सिद्ध होगी।

बालक और समाज दोनों पर ध्यान।

बालक का वातावरण बड़ा विस्तृत होता है। इसमें से जो अधिक महत्त्वपूर्ण होता है उसी का उपयोग उसकी अवस्था और आवश्यकतानुसार करना ठीक होगा। प्रत्येक समाज का अपना

सबसे अधिक महत्त्व-

पूर्ण वातावरण के अंगों का ज्ञान देना, अन्य देशों की संस्कृति का भी परिचय देना।

अलग-अलग आदर्श होना है। उस आदर्श के प्रतिकूल जाने से व्यक्ति अयोग्य कहा जाता है। इन आदर्शों का संसार के अन्य समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, क्योंकि मानव स्वभाव में बहुत सी बातें सामान्य हैं। इसलिए बालक को अपने तथा संसार के अन्य देशों के इतिहास को पढ़ना आवश्यक है। बालक अपने पूर्वजों का उत्तराधिकारी है। अतः उनकी कृतियों से उसका परिचय होना चाहिए। उनके विचार और भावनायें क्या रही हैं इन्हें जानने से बालक के विकास में बड़ा योग मिलता है। मनुष्य का जीवन इतना बड़ा नहीं कि सब कुछ वह अपने परीक्षण के आधार पर समझे। अतः जो कुछ सिद्ध किया जा चुका है उसे जानने का वह पूरा अधिकारी है। इस दृष्टिकोण से उसे साहित्य तथा विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। इसके लिये उसे पढ़ना-लिखना और गणित का ज्ञान आवश्यक होगा। अतः उसे भाषा और गणित भी पढ़ना चाहिये। अपने वातावरण का ज्ञान भी बालक के लिए आवश्यक है। अतः उसे प्राकृतिक विज्ञानों का भी ज्ञान देना चाहिए।

बालक को बहुत से विषयों के पढ़ाने का ध्येय 'बहु-रुचि' का विकास करना है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि शिक्षा का उद्देश्य रुचि का विकास करना है। रुचि के विकास से ही व्यक्ति में अच्छे-अच्छे आदर्श उत्पन्न हो सकते हैं। बहु रुचि के विकास से उदारता आती है। इससे व्यक्ति सभी बातों के विषय में निष्पक्ष निर्णय करने में

बहु-रुचि का विकास नितान्त आवश्यक, पाठ्य-क्रम का संगठन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक दोनों ढंग से।

समर्थ होना है। बचपन में अधिक से अधिक विषयों को पढ़ाने का तात्पर्य यह नहीं कि उनमें बालक को प्रवीण कर देना है और न इसका यही अर्थ है कि विभिन्न विषयों में उसे पल्लवग्राही कोटि का ज्ञान देना है। बचपन में बालक की जिज्ञासा बड़ी प्रबल होती है। इस मूल-प्रवृत्ति के सहारे उसे कई बातें सिखलाई जा सकती हैं। यदि बचपन में ही विभिन्न विषयों में उसकी जिज्ञासा उत्पन्न की जा सकी तो वह अपना मार्ग अवश्य ढूँढ़ लेगा। अपनी रुचि का केन्द्रीकरण उसके लिए कठिन न होगा। अव्यवस्थित चित्त के विपरीत कहीं न कहीं उसका ध्यान अवश्य केन्द्रित होगा और इस प्रकार उसके व्यक्तित्व के विकास में सुगमता होगी। यदि बचपन में बालक को उचित अवसर नहीं मिलता तो उसकी विभिन्न मूल प्रवृत्तियाँ दब कर अविकसित रह जाती हैं। और उनकी शक्तियाँ अवांछित दिशा की ओर केन्द्रित हो जाती हैं। मनोविज्ञान के विद्यार्थी मूल-प्रवृत्तियों के दमन का कुपरिणाम भली-भाँति समझ सकते हैं। उचित समय पर अवसर न मिलने से बाद में किसी चीज़ को सीखने में बड़ी कठिनाई होती है। बचपन में पढ़ना लिखना न सीखने से बाद में पढ़ने में कितनी कठिनाई होती है इसका प्रायः सभी को अनुभव है। बचपन में अधिक से अधिक अवसर देने से बालक की प्रायः सभी मूल-प्रवृत्तियों का विकास और समुचित शोधन होता है। वातावरण में स्थित प्रायः सभी चीज़ों से कुछ परिचय हो जाने से उसे अपनी रुचि निर्धारण में सरलता होती है। उसकी मनोवृत्ति संकुचित नहीं होती, क्योंकि इस प्रकार उसे प्रारम्भ से समाज की विभिन्न आवश्यकताओं का थोड़ा अनुमान हो जाता है। इस प्रकार पाठ्य-

क्रम का संगठन केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नहीं करना है, वरन् सामाजिक दृष्टिकोण को भी उतना ही महत्त्व देना है। केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका संगठन करना व्यक्तिवाद के आगे समाज-हित को ठुकराना होगा। अतः समाज-हित की अवहेलना करना समाज के लिये ही घातक नहीं, वरन् व्यक्ति के लिये भी हानिकर होगा, क्योंकि व्यक्ति-हित समाज-हित पर ही निर्भर है।

पाठ्य-क्रम के कई रूप।

शिक्षा की दृष्टि से पाठ्य-क्रम के कई रूपों की चर्चा शास्त्र विशारदों ने की हैं:—उदाहरणार्थ, साहित्यिक व वैज्ञानिक इत्यादि। साहित्यिक कोटि में भाषा, साहित्य, धर्म, नीति, इतिहास, राजनीति आदि विषय आ जाते हैं। वैज्ञानिक श्रेणी में गणित तथा सभी प्राकृतिक विज्ञानों की गणना की जा सकती है। भूगोल का सम्बन्ध साहित्य और विज्ञान दोनों से मालूम पड़ता है। भूगोल में वातावरण तथा उसका मानव जीवन पर प्रभाव का वर्णन रहता है। अतः भूगोल एक ऐसा पुल है जिस पर खड़ा होकर विज्ञान और साहित्य दोनों ओर देखा जा सकता है। कुछ लोग "ज्ञानाय ज्ञानम्" के सिद्धान्त पर पाठ्य-क्रम का संगठन करना चाहते हैं। इनके अनुसार साहित्य, व्याकरण, गणित व विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन उनके ज्ञान के लिए करना चाहिए। जीवन में उनके उपयोग पर कुछ भी चर्चा नहीं की जाती। यह दशा ठीक नहीं। इस प्रकार की शिक्षा से व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि उसके ज्ञान का प्रयोजन क्या है। परीक्षा पास कर लेने के बाद बेकारों की सूची में वह अपना नाम लिखा लेता है, या कहीं ऐसे स्थान

पर नौकरी कर लेता है जिसका उसकी शिक्षा से विशेष संबन्ध नहीं होता। ऐसे उदाहरणों की हमारे देश में कमी नहीं। अनेक बी० एस्सी० व एम० एस्सी० पास किए हुए सैकड़ों युवक दफ्तर में क्लर्की करते देखे जाते हैं। साहित्य, इतिहास व गणित में एम० ए० पास करने के बाद अपने क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में लोग नौकरी करने चले जाते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि उन्हें अपने विषय से प्रेम नहीं केवल डिग्री, प्राप्त करने के लिए उन्होंने कुछ साल तक कालेज में समय व्यतीत किया है।

हमारी प्रचलित शिक्षा प्रणाली की एक यह भी खूबी है कि साहित्य अथवा गणित आदि का कहा जाने वाला विद्वान् बहुधा जीवन के अन्य अंगों में शून्य रहता है। कुछ लोग केवल किसी कौशल की प्राप्ति पर ही ध्यान रखते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षित व्यक्ति सभी दृष्टि से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उसकी स्थिति कूप-मण्डूक की तरह होती है। पाठ्य-क्रम के संगठन में सबसे अधिक ध्यान देने वाली बात यह है कि विषयों का चुनाव ऐसा हो कि बालक जो कुछ सीखे उसका उपयोग वह कर सके। किसी विषय की उपयोगिता कितनी है इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है, क्योंकि इसमें विद्वानों का मत एक नहीं। वस्तुतः कोई ऐसा पाठ्य-क्रम नहीं बनाया जा सकता जो सभी स्कूलों के लिए सभी समय के लिए उपयुक्त हो। इतना ही नहीं, वरन्

वही विषय सिखलाना जिसका बालक जीवन में उपयोग कर सके, सर्वमान्य पाठ्य-क्रम का बनाना असम्भव, इसके बनाने का दायित्व स्कूल शिक्षकों पर छोड़ना उचित, स्कूल को अधिक से अधिक आवश्यक स्वतन्त्रता देना।

हम यह भी कह सकते हैं कि एक साल के लिए बनाया हुआ पाठ्य-क्रम दूसरे साल के लिये ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि हर साल विभिन्न श्रेणी के बालक आते हैं और उनकी व्यक्तिगत भिन्नता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था करने में हर साल पाठ्यक्रम में कुछ न कुछ परिवर्तन आवश्यक है। अतः उचित तो यह है कि शिक्षा के उच्च अधिकारीगण पाठ्य-क्रम बनाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर न लें। यह कार्य स्कूल के योग्य शिक्षकों पर ही छोड़ दें। शिक्षक बालक के सम्पर्क में आता है, अतः यह आशा करना भ्रम न होगा कि स्कूल पाठ्य-क्रम के संगठन का कार्य अधिक सफलतापूर्वक कर सकता है। स्कूल के पथ प्रदर्शन के लिए केवल कुछ मोटे-मोटे सिद्धान्तों का निर्धारण किया जा सकता है, जिससे सभी स्कूल एक अपेक्षित स्तर तक पहुँचने की चेष्टा करें और सब अपनी मनमानी में न लग जाँय। ऐसी व्यवस्था कि व्यक्तिगत भिन्नता के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था अधिक से अधिक की जा सकती है। हमारे इस संकेत का यह तात्पर्य नहीं कि प्रत्येक बालक के लिए अलग अलग पाठ्य-क्रम होना चाहिये; यद्यपि आदर्श यही होता, पर यह सम्भव नहीं। हमारा अर्थ केवल इतना ही है कि स्कूल को अपने क्षेत्र में अधिक से अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिये। पर इसके साथ ही यही भी देखना चाहिए कि वह अपनी स्वतन्त्रता का अनुचित लाभ न उठावे। संयुक्त-राज्य अमेरिका के स्कूलों को अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। वहाँ पाठ्य-क्रम के निर्धारण में स्कूलों का बड़ा भारी हाथ रहता है। वे एक ऐसे बोर्ड के नियन्त्रण में होते हैं जो केवल कुछ पाठ्य-क्रम के सिद्धान्त और साधारण नीति-निर्धारित कर देता है। अन्य बातें स्कूल अपनी-अपनी

आवश्यकतानुसार स्वयं ठीक कर लेते हैं। इस स्वतन्त्रता का फल बड़ा ही अच्छा हुआ है। इसमें शिक्षक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। वह अपनी पाठन-विधि में कुछ मौलिक परिवर्त्तन करने के लिए स्वतन्त्र होता है। इस प्रकार वहाँ पाठ्य-क्रम का स्वरूप ऐसा होता है कि उसमें सरलता से परिवर्त्तन किया जा सकता है। हमारे देश में 'पाठ्य-क्रम के परिवर्त्तन अथवा संशोधन में वर्षों लग जाते हैं। इसी बीच शिक्षक की मौलिकता पर काफी ठेस लगती है और वह निरुत्साह होकर बैठ जाता है। अतः सिद्धान्ततः प्रत्येक सरकार को पाठ्य क्रम की केवल रूप-रेखा ही निर्धारित करनी चाहिए। पढ़ाये जाने वाले विभिन्न विषयों का नाम दे देना ही पर्याप्त है। विभिन्न विषयों का चुनाव किस प्रकार करना चाहिये इसी का विवेचन हम नीचे करेंगे। गत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि उन सिद्धान्तों पर ही पाठ्य-क्रम का निर्धारण ठीक न होगा।

२—पाठ्य-क्रम के संगठन की कसौटी

कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्व होता है। उनमें मनुष्य की सभी रुचियों का प्रतिनिधित्व आ जाता है। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो भाषा, साहित्य, गणित, प्राकृतिक विज्ञान और भूगोल का कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करना न चाहता हो? संगीत और कला में प्रेम न होने से व्यक्ति का जीवन नीरस कहा जाता है। अतः इन विषयों के किसी न किसी अंग से परिचित होना भी आवश्यक ही कहा जा सकता है। कुछ विषयों की आवश्यकता तो अच्छी प्रकार जीवन बिताने के लिए आवश्यक होती है और दूसरों की आवश्यकता सभ्यता के विकास में योग देने या समाज का नेतृत्व करने के लिए होती है।

कुछ विषयों का सार्वभौमिक महत्त्व।

इन विभिन्न क्षेत्रों में से किसी विषय के अध्ययन की सीमा कहाँ तक रखी जाय यह बालक के स्कूल-काल की अवधि पर निर्भर है। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था तक तो बालक को मातृभाषा अंकगणित, अपने देश का इतिहास, प्रारम्भिक बीजगणित और रेखागणित तथा प्रकृति-अध्ययन (नेचर-स्टडी) का ही पढ़ाना उपयुक्त होगा। इससे आगे भौतिक और रसायन विज्ञान का भी ज्ञान दिया जा सकता है। इसके साथ एक विदेशी भाषा का भी पढ़ाना ठीक होगा। हमारे देश में यह विदेशी भाषा अंग्रेजी होगी। बालक के विकास-अवस्था के अनुसार विभिन्न विषयों को अधिक विस्तृत बनाना होगा।

विषय के अध्ययन की सीमा स्कूल-काल की अवधि के अनुसार।

ऊपर हम कई बार कह चुके हैं कि बालक को शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि उसे अपने जीवन-यापन में कठिनाई न हो। इसके लिए स्कूल के अन्तिम वर्षों में रुचि के अनुसार शिक्षा-क्रम में कुछ व्यावसायिक रंग भी लाया जा सकता है। पर इसका अभिप्राय: यह नहीं कि आवश्यक विषयों की उपेक्षा की जाय। इन सब बातों पर ध्यान रख कर नीचे हम कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करेंगे जिन पर पाठ्य-क्रम संगठन में विशेष ध्यान देना होगा।

ऊपर हम शिक्षक को अध्यापन-कार्य में पहले से अधिक स्वतन्त्रता देने की बात कह चुके हैं। हमने यह कहा है कि राज्य को केवल कुछ साधारण सिद्धान्तों का निर्धारण कर देना है, जिससे देश के स्कूल राष्ट्र के आदर्शों के विरुद्ध न जाँय। हम यह भी संकेत कर चुके हैं कि विभिन्न स्कूलों के आदर्शों में समानता होते हुये भी उन्हें अपने कार्य-क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिये। 'सब धान बाइस पसेरी' का हिसाब स्कूलों में नहीं लाया जा सकता। भिन्न-भिन्न स्कूलों में तरह-तरह

के बालक आते हैं। उनकी शक्तियों और आवश्यकताओं में बड़ा भेद होता है। अतः पाठ्य-क्रम की सूक्ष्म बातों के निर्धारण में प्रत्येक स्कूल अथवा शिक्षक को अपने क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्कूल अथवा शिक्षकों के लिए इतनी स्वतन्त्रता की माँग करने का अर्थ उनके उत्तरदायित्व को बहुत आगे बढ़ा देना होगा। स्पष्ट है कि आज का शिक्षक व इस उत्तरदायित्व को सँभालने में सफल न हो सकेगा। अतः उसके लिए नये शिक्षण (ट्रेनिङ्ग) प्राप्त अध्यापकों की ही आवश्यकता न होगी, अपितु सामाजिक व आर्थिक स्थिति में भी समुचित परिवर्तन करना अपेक्षित होगा। यहाँ पर हम देखेंगे कि अभूत-पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्त स्कूलों को अथवा नए शिक्षाधिकारियों को पाठ्य-क्रम के संगठन में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए।

३—पाठ्य-क्रम-संगठन के नए सिद्धान्त

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पाठ्य-क्रम के संगठन में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये:—

१—बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि,

२—अन्य पाठ्य-विषयों से सम्बन्ध,

३—पढ़ने की अवधि,

४—पाठ्य-पुस्तकें तथा अन्य सहायक सामग्री का प्राप्त होना, व

५—बालकों की रुचि और आवश्यकतानुसार शिक्षण-कार्य को अनुकूल बनाने की सुविधा।

शिक्षक को पीछे वर्णित सुविधा देने में कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि वह अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करेगा और प्राप्त पुस्तकों के सहारे ही

योग्य शिक्षक और वह किसी प्रकार काम चलाने की

आवश्यक सुविधायें।

सोचेगा। संयुक्त राज्य-अमेरिका में शिक्षक को जब ऐसी सुविधा दी गई तो पहले पहल शिक्षा-व्यवस्था में कुछ ऐसी गड़बड़ी अवश्य हुई और शिक्षा-क्रम बालकों के लिए विशेष रुचिकर और लाभदायक सिद्ध न हुआ। इसके कारण दो थे:—१ योग्य शिक्षकों का अभाव और २—आवश्यक सुविधाओं का न मिलना। इन सब कठिनाइयों के दूर कर देने पर वहाँ की शिक्षा-प्रणाली बड़ी सफल सिद्ध हो रही है। यों तो दोषमुक्त तो संसार में कोई नहीं। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि संयुक्त-राज्य-अमेरिका के वर्त्तमान ऐश्वर्य का कारण उसकी आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था भी है। अस्तु, अब हम उपर्युक्त पाँच सिद्धान्तों की व्यवस्था पर आते हैं।

(१) बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि

बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि की उपेक्षा कर पाठ्य-क्रम के उद्देश्य को पहले ही निर्धारित कर देने का अर्थ कुछ सीमित बालकों की ही सुविधा पर ध्यान देना होगा। इससे बहुत से बालकों का वांछित विकास न हो सकेगा और शिक्षक का परिश्रम भी उनपर व्यर्थ जायगा। बालक की रुचि पर ध्यान देना सीखने के एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार चलना होगा:—वह यह कि "बालक जहाँ पर है वहीं से उसकी शिक्षा प्रारम्भ करनी चाहिए"। इन सब बातों पर ध्यान देने के लिए बुद्धि-माप (इन्टेलिजेन्स टेस्टिङ्ग), प्रवृत्ति-माप (ऐप्टीट्यूड टेस्टिङ्ग) तथा अन्य उचित उपायों से

इसके अनुसार चलने से ही उसका वांछित विकास सम्भव।

बालक की शक्ति, आवश्यकता और रुचि का पता लगा लेना आवश्यक होगा।

(२) अन्य पाठ्य-विषयों से सम्बन्ध—पाठ्य-क्रम के किसी अंग को निर्धारित करने के पूर्व उसका अन्य विषयों से सम्बन्ध समझ लेना ठीक होगा, जिससे बालक जो कुछ सीखे वह एक ही अनुभव का अंग हो। ऐसा करने से उसका विकास-क्रम ठीक चलता रहेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार चलने से एक कक्षा की पढ़ाई का दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध रहेगा। इस सिद्धान्त के आगे पुस्तकों का अथवा पाठ्य क्रम का जल्दी-जल्दी बदलना बड़ा हानिकारक होगा। शिक्षक को सदा यह ध्यान रखना है कि पाठ्य-क्रम एक साधन है, साध्य नहीं। उसकी उपयोगिता बालक के विकास-क्रम में केवल आंशिक ही है। इस बात को समझने के लिए बालक को विभिन्न विषयों का परस्पर सम्बन्ध समझाना चाहिये, अर्थात् यथासम्भव शिक्षक विषयों में समन्वय (कोरिलेशन) स्थापित करने का एक अवसर भी न खोवें। इसकी चर्चा आगे अधिक विस्तृत रूप में की जायगी।

विभिन्न विषयों का ज्ञान एक ही अनुभव के समन्वित अंग।

(३) पढ़ने की अवधि—पढ़ने की अवधि का काफी लम्बी होना आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि बालक को आगे की कक्षा में तरक्की दे दी जाती है, पर यह नहीं सोचा जाता कि पढ़ाये हुये विषय से वह भली-भाँति लाभ उठा सका, अथवा नहीं। यदि व्यक्तिगत भिन्नता पर ध्यान देने की व्यवस्था

काफी लम्बी होना, व्यक्तिगत भिन्नता पर ध्यान।

वांछित शक्तियाँ उत्पन्न करने का उद्देश्य।

मान्य नहीं। पाठ्य-क्रम का प्रधान उद्देश्य बालकों में कुछ वांछित शक्तियाँ ला देना है, जिससे वे स्व-कालीन सभ्यता के विभिन्न अंगों को समझ सकें और अपना उत्तरोत्तर विकास करते रहें। अतः हमारा किसी विशेष विषय को पढ़ाने का उद्देश्य नहीं। पाठ्य-क्रम से हम बालकों को ऐसा अनुभव देना चाहते हैं जिससे वे सभ्यता के विकास में योग दे सकें। इस प्रयत्न में हमें बालकों की रुचि पर विशेष ध्यान देना होगा। सभी विषयों की पढ़ाने की विधि ऐसी हो कि बालक उनमें उतनी ही रुचि ले जितनी वह खेल में लेता है।

पाठ्य-क्रम में अत्यधिक विषय नहीं, प्रत्येक श्रेणी का एक दूसरे से सम्बन्ध; प्रत्येक श्रेणी अपने में पूर्ण; शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के समुचित विकास पर ध्यान।

ऊपर हम कई बार संकेत कर चुके हैं कि पाठ्य-क्रम में इतने अधिक विषय न हों कि शिक्षक उन्हें किसी प्रकार समाप्त करने की शीघ्रता में लगा रहे। ऐसी स्थिति से कुछ लाभ नहीं होता, क्योंकि शिक्षक बहुधा नोट लिखाने की चिन्ता में रहते हैं और विद्यार्थी भी परीक्षा में पास होने की इच्छा से प्रत्यशित प्रश्नों का अनुमान लगाने लगता है। शिक्षा से हम बालक के भावी जीवन को नींव दृढ़ कर देना चाहते हैं। अर्थात् प्राथमिक श्रेणी में जो कुछ किया जाय उसका माध्यमिक से और माध्यमिक का उत्तर-माध्यमिक अर्थात् कॉलेज व विश्वविद्यालय की शिक्षा से सम्बन्ध हो। पर इसका अर्थ यह न लगा लेना चाहिये कि प्राथमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा की तैयारी का अखाड़ा है और माध्यमिक विश्वविद्यालय की शिक्षा का। प्राथमिक अथवा माध्यमिक श्रेणी में बालक का अपना ऐसा जीवन होता है जिसे पूर्ण समझा जा सकता है। यदि इस जीवन को पूर्ण रूप से बिताने में स्कूल उसकी सहायता कर सका तो उसके भावी जीवन की नींव अपने आप दृढ़ हो जायगी। स्कूल में बालकों के लिए एक ऐसा वातावरण उपस्थित कर देना है कि वे अपनी रुचि और विकास-अवस्थानुसार बढ़ सकें। स्कूल यदि इतना कर सका तो बालक का व्यक्तिगत और सामाजिक विकास अविरल गति से चलता रहेगा। स्पष्ट है कि स्कूल का उद्देश्य बालक को अपनी शक्ति के अनुसार रहना सिखलाना है। ड्यूई के सिद्धान्त का सार यही है। रहना सिखलाने का अर्थ उसकी विभिन्न शक्तियों का अथवा व्यक्तित्व के विकास करने से है। अर्थात् स्कूल का उद्देश्य, शरीर मस्तिष्क और आत्मा तीनों का विकास करना है। अतः पाठ्य-क्रम के संगठन में हमें शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों के समुचित विकास पर ध्यान देना है। यहाँ यह समझना भ्रम होगा कि व्यक्तित्व के इस प्रकार तीन भाग किये जा सकते हैं। केवल पाठ्य-क्रम के विभिन्न अंगों को समझने की सुविधा की दृष्टि से ही हम ऐसा विभाजन करते हैं। क्योंकि कुछ ऐसे विषय होंगे जिनका शारीरिक विकास से अधिक सम्बन्ध होगा और दूसरों का विभिन्न मानसिक शक्तियां, चरित्र, रुचि और आध्यात्मिक शक्ति आदि से। यहाँ पाठ्य-क्रम के उद्देश्य की ओर संकेत कर देना ठीक जान पड़ता है। बालक की विभिन्न शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करके उसे समाज-हित की रक्षा के योग्य बना देना ही संक्षेप में पाठ्य-क्रम का उद्देश्य माना जा सकता है।

गत पृष्ठों में कही हुई बातों का यहाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी समर्थन किया जा सकता है। इस समर्थन में ऊपर कही हुई बातों को ही यहाँ संक्षेप में दोहरा दिया जाता है। मनुष्य की क्रियाओं के तीन भाग किये जा सकते हैं:—जानना, अनुभव करना और चेष्टा करना। पाठ्य-क्रम को मनुष्य की इन तीनों वृत्तियों का प्रतिनिधि होना चाहिए। अर्थात् पाठ्य-क्रम में मनुष्य जो कुछ जानना चाहता है उसका समावेश होना चाहिए। इस दृष्टि से, जैसा हम पहले संकेत कर चुके हैं, भाषा, साहित्य, विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषयों की गणना की जा सकती है। मनुष्य की भावना के सम्बन्ध में कला, कविता और संगीत की चर्चा आ जाती है, क्योंकि इन्हीं तीन प्रधान साधनों द्वारा मानव सभ्यता के आदि काल से व्यक्ति अपनी भावनाओं का प्रदर्शन करता रहा है। महामति संतो ने भी कहा है कि जो शिक्षा घृणित वस्तु से घृणा और प्यार करने योग्य वस्तु से प्यार करना सिखलाती है वही वास्तविक शिक्षा है। मनुष्य अपने सामान्य जीवन में जो कुछ करता है उसका भी प्रतिनिधित्व पाठ्य-क्रम को करना है। अपने जीवन-यापन के लिए व्यक्ति जो कुछ करता है उसकी शिक्षा भी पाठ्य-क्रम के सहारे कुछ अवश्य हो जानी चाहिए। भोजन, वस्त्र तथा आश्रय आदि के लिए उसे जो कुछ कार्य करने पड़ते हैं उनका थोड़ा सा आभास पाठ्य-क्रम के आधार पर होने वाली स्कूल की क्रियाओं में आ जाना आवश्यक है। गत अध्याय में स्कूल के उद्देश्य का निर्धारण किया जा चुका है। उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि पाठ्य-क्रम

पाठ्य-क्रम के संगठन में किन-किन बातों पर ध्यान हो?

का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि स्कूल में बालक पूरे सामाजिक जीवन का अनुभव करे। रहने की पूरी कला बालक को स्कूल में ही सीख लेनी चाहिए। पाठ्य-क्रम के संगठन में इन सब बातों का पूरा ध्यान रखना होगा।

ऊपर कही हुई बातों का सारांश स्पष्टतर रूप में पाठक की सुविधा के लिये नीचे फिर दे दिया जाता है।

४—पाठ्य-क्रम संगठन के मूल सिद्धान्त—

(१) भावी जीवन की तैयारी—स्कूल में बालक अपनी रुचि के अनुसार भावी जीवन की तैयारी करता है। इस जीवन की तैयारी में उसे युवक के कर्त्तव्यों में शिक्षा नहीं देनी है। भावी जीवन की तैयारी का अभिप्राय यह नहीं कि स्कूलों को व्यावसायिक क्षेत्र बना दिया जाय। भावी जीवन की तैयारी में पहले हमें बालक की रुचि पर ही ध्यान देना है। वस्तुतः विकास-अवस्था के अनुसार उससे काम कराना ही उसे भावी जीवन के लिए तैयार करना है। आज का बालक कल का नागरिक है। अतः शिक्षा का आयोजन इस प्रकार हो कि बालक प्रजातन्त्र राज्य के संचालन के लिए योग्य नागरिक होकर सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास में योग दे। आधुनिक वैज्ञानिक युग में व्यक्ति का अवकाश-समय बढ़ता जा रहा है। पहले जिस काम को कई आदमी मिलकर बहुत देर में करते थे उसे मशीन की सहायता से एक ही आदमी पहले से शीघ्र कर लेता है। फलतः व्यक्ति का अवकाश-काल बढ़ता जा रहा है। बेकारी बहुत से रोगों की जड़ होती है। अतः व्यक्ति को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि वह अपना समय किसी न किसी अच्छे कार्य में ही लगावे। अपने अव-

अवकाश का सदुपयोग करना सिखलाना।

काश-समय का व्यक्ति किस प्रकार उपयोग करता है इससे उसके विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि "अवकाश का सदुपयोग करना सिखलाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।" अतः पाठ्य-क्रम में रचनात्मक कार्य, हस्तकला, संगीत तथा साहित्य आदि को उपयुक्त स्थान देना चाहिए, जिससे व्यक्ति अवकाश का सदुपयोग करना सीख सके।

२—रचनात्मक शक्ति का विकास करना—

विशिष्ट विषय का समावेश, हस्तकला।

पाठ्य-क्रम में बालक की रचनात्मक शक्ति के बढ़ाने का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए, अन्यथा उसका विकास ठीक न हो सकेगा। अतः कुछ ऐसे विषयों को पढ़ाना आवश्यक है जिनसे उनकी रचनात्मक शक्ति बढ़ सके। इससे उसकी रुचि का भी विकास होता रहेगा। ऐसी व्यवस्था के होने से बालक अवकाश का सदुपयोग करना सीखेगा और स्कूल छोड़ देने के बाद भी कुछ विषयों में उसकी सच्ची रुचि होगी। उचित वातावरण के पाने पर वह अपनी रुचि को और भी आगे बढ़ाने की चेष्टा करेगा। रचनात्मक शक्ति के विकास के लिए पाठ्य-क्रम में किसी विशिष्ट विषय का समावेश आवश्यक होगा। कुछ लोग कह सकते हैं कि किसी भी विषय में रचनात्मक प्रवृत्ति का विकास किया जा सकता है। पर यह तर्क यहाँ ठीक नहीं। प्रथम दस या बारह वर्ष तक बालकों में क्रियाशीलता अधिक होती है। इस क्रियाशीलता के लिए उचित अवसर न मिलने पर बालक का स्वाभाविक विकास रुक जाता है और भविष्य भी अन्धकारमय हो जाता है। अतः किसी

हस्तकला में दस-बारह वर्ष के बालकों को शिक्षा देना बड़ा मनोवैज्ञानिक होगा। इससे उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति जागृत रहेगी और स्कूल उन्हें हउआ न मालूम होगा।

३—ज्ञान और अनुभव को संचित करने का सिद्धान्त—

पाठ्य-क्रम के संगठन में यह भी देखा जाता है कि भूत-काल में किन-किन बातों से मनुष्य को लाभ पहुँचा है। अपने पूर्व अनुभव के अनुसार यह निर्धारित किया जाता है कि किन-किन विषयों से बालकों का अधिक लाभ हो सकता है। पर यह सिद्धान्त सर्वथा ठीक नहीं, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि जो पहले ठीक था वह अब भी ठीक ही है। अतः विभिन्न विषयों का ठीक चुनाव आवश्यक है। आँख मूँद कर पूर्ववत् सब कुछ मान लेना हानिकर हो सकता है। उपर्युक्त सिद्धान्त बालक की ओर न देखकर केवल विषय की ही ओर देखता है। आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त बाल-केन्द्रित हैं। इसमें बालक की रुचि और आवश्यकता ही पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार हम यह मान सकते हैं कि कुछ विषयों की उपयोगिता सिद्ध होती है, क्योंकि पूर्व अनुभव यही बतलाता है। उदाहरणार्थ, पढ़ना, लिखना और गिनना-ज्ञान प्राप्त करने के प्रधान साधन हैं। अतः बालक को ये साधन देने ही होंगे।

आँख मूँद कर सब कुछ पूर्ववत् मान लेना ठीक नहीं।

४—क्रियाशीलता का सिद्धान्त—

बालक क्रियाशील होता है। वह हर समय कुछ न कुछ करना ही चाहता है। क्रियाशीलता बिना उसका समुचित विकास सम्भव नहीं। अतएव पाठ्य-क्रम का रूप ऐसा हो कि बालक की

'क्या सीखता है' से

'कैसे सीखता है' अधिक महत्त्वपूर्ण ।

क्रियाशीलता के लिये पूरा-पूरा अवसर मिले । यह क्रियाशीलता शरीर और मस्तिष्क दोनों के लिए हो ।

आधुनिक शिक्षा-विशारदों को विश्वास है कि 'पठन-पाठन की विधि विषय से अधिक महत्त्वपूर्ण है । बालक "क्या सीखता है" उतना महत्त्वपूर्ण नहीं जितना कि "कैसे सीखता है ।" 'सोचने' और 'रहने' की जो 'शिक्षा' स्कूल में दी जाती है उसी पर विशेष ध्यान देना है । गणित के इतने प्रश्न हुये कि नहीं अथवा भाषा, भूगोल व इतिहास की पुस्तक अद्योपान्त समाप्त हुई कि नहीं आदि बातें गौण हैं । बालक के विकास से उनका अधिक सम्बन्ध नहीं । पाठ्य-क्रम के संगठन में हमें केवल उतने ही विषय रखने हैं जिनसे बालक की उत्सुकता जागृत हो जाय और भावी बौद्धिक विकास निश्चित सा हो जाय । श्री टी० पी० नन महोदय भी कहते हैं कि "स्कूल को ज्ञान सीखने का केन्द्र न समझना चाहिए । स्कूल तो एक ऐसा स्थान है जहाँ बालक कुछ ऐसी क्रियाओं में अभ्यस्त किए जाते हैं जिनका वास्तविक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । इन क्रियाओं के दो भाग किये जा सकते हैं:—१—एक तो वे जिनसे व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुये उनमें एक सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की जाती है । उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य, शारीरिक सौन्दर्य, सामाजिक आचार, नीति और धर्म आदि; और २—दूसरी वे जिनमें सभ्यता के सभी अंशों का समावेश होजाता है ।"

पृष्ठपेषण पर ध्यान न देते हुये नीचे हम कुछ ऐसे विषयों का उल्लेख करेंगे जिनको पाठ्य-क्रम में अवश्य स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि इसके बिना ऊपर कही हुई बातें क्रमबद्ध न जान पड़ेंगी ।

५—पाठ्य-क्रम के कुछ आवश्यक विषय—

शिक्षा में शारीरिक स्वास्थ्य पर समुचित ध्यान देना होगा। यदि बालक का स्वास्थ्य ठीक न रहा तो वह कुछ भी न कर सकेगा। अतः प्रत्येक कक्षा के बालकों को शारीरिक शिक्षा देनी होगी। बालक के शारीरिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में माता-पिता या अभिभावक का उत्तरदायित्व कम नहीं। पर स्कूलों में कुछ ऐसी बातें बतलाई जा सकती हैं जिन्हें बालक घर पर सरलता से नहीं सीख सकता। शारीरिक स्वास्थ्य अच्छी आदतों पर निर्भर होता है। उठने, बैठने, चलने, खाने-पीने व सोने आदि की अच्छी आदत होनी आवश्यक है। इन सबको बालक में अच्छी आदत डालने के सम्बन्ध में स्कूल का उत्तरदायित्व विशेष है। स्कूल में कोई ऐसा निश्चित समय अवश्य होना चाहिए जिसमें बालक को ये सब बातें समझायी जा सकें। इन आदतों के अतिरिक्त उसे व्यायाम में भी कुछ शिक्षा देनी आवश्यक होगी। इसके लिए प्रत्येक बालक के स्वास्थ्य का सूक्ष्म अध्ययन कर उचित व्यायाम में उसे शिक्षा देनी होगी। इस अध्ययन में यह देखा जायगा कि बहुत से बालक एक ही श्रेणी में आ जायेंगे और इस प्रकार उन्हें शिक्षा देने में कठिनाई न होगी। बहुत छोटे बालकों को शारीरिक शिक्षा का प्रधान अंग खेल ही होगा। खेल का आयोजन ऐसा सुसंगठित हो कि प्रत्येक बालक कुछ न कुछ भाग ले सके। बड़े बालकों से कुछ कसरतें करानी आवश्यक होंगी और उनमें उन्हें विशेषज्ञ द्वारा ठीक-ठीक शिक्षा मिलनी चाहिए। इस प्रकार स्कूल में स्वास्थ्य-शिक्षा की अवश्य कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। अब तक स्कूलों में

शारीरिक स्वास्थ्य पर ध्यान।

स्वास्थ्य के लिए जो कुछ किया जाता है वह अपर्याप्त है। कदाचित् ही कोई ऐसा स्कूल होगा जिसमें बालकों के स्वास्थ्य पर उचित ध्यान दिया जाता हो। अब हमें यह नीति बदलनी होगी। जिस प्रकार अन्य विषयों के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है उसी प्रकार स्वास्थ्य के विशेषज्ञ की भी नियुक्ति करनी होगी और साथ ही साथ प्रत्येक स्कूल में व्यायामशाला का आयोजन करना होगा जहाँ बालक आकर आवश्यक कसरतें सीखें और करें। कुछ लोग कहेंगे कि व्यायाम के पहले स्वस्थकर भोजन का प्रबन्ध करना होगा। बात बिलकुल ठीक है। पर क्या जो कुछ भोजन मिलता है उससे शरीर अधिकतम लाभ उठा पाता है? शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान के ज्ञाता इसका उत्तर 'नहीं' में देंगे। वस्तुतः ऐसी बातें वे लोग किया करते हैं जो आलस्यवश कसरत से अपनी जान छुड़ाते हैं। यह देखा गया है कि उचित व्यायाम करते रहने से व्यक्ति जो कुछ भी खाता है उसका शरीर अधिक से अधिक लाभ पाता है। यदि आवश्यक व्यायाम कर के व्यक्ति अपना शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक कर ले तो वह वांछित वस्तु को अवश्य ही पा जायगा, चाहे वह गरीब के घर पैदा हुआ हो या धनी के। स्पष्ट है कि जीवन में सफलता की कुञ्जी अच्छा स्वास्थ्य ही है। अतः स्कूल को इस सम्बन्ध में कुछ उठा न रखना चाहिए।

आज के जड़वादी संसार को धार्मिक प्रवृत्ति की बहुत आवश्यकता हो गई है। इसीलिए प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्री धर्म और नीति के नाम पर स्कूल में कुछ करने के पक्षपाती दिखलाई पड़ते हैं। जड़वाद में पड़कर व्यक्ति कहीं 'अपने' को अर्थात् अपनी 'आत्मा' को न भूल

धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता और उसकी रूप-रेखा।

जाय इसलिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति का ध्यान 'परमशक्ति' और उसकी 'आत्मा' के सम्बन्ध की ओर आकर्षित किया जाय। बिना ऐसा किये कदाचित् ही व्यक्ति समझ सकता है कि उसका अपना एक 'संदेश' है जिसे लोकहितार्थ उसे दूसरों को देना है। बिना धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति यह नहीं मान सकता कि जगत में कुछ ऐसी सार्वभौमिक सत्य की वस्तुएँ हैं जिनके प्रति उसका पूरा सम्मान होना चाहिए। व्यक्ति के इस धार्मिक प्रवृत्ति का स्रोत कला, सत्य और सेवा-भाव में दिखलाई पड़ सकता है। कला, सत्य और सेवा से प्रेम करने वाले सदा धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं, चाहे वे मन्दिर, मसजिद अथवा गिरजाघर में जाँय या नहीं। अब प्रश्न यह है कि 'बालकों में इस धार्मिक प्रवृत्ति की नींव कैसे डाली जाय ? क्या किसी एक धर्म के सिद्धान्तों में उनको शिक्षा दी जाय ? आज के लोकतन्त्र-राज्य में यह सम्भव नहीं। राज्य में विभिन्न धर्मों के मानने वाले होते हैं। तो किस धर्म में शिक्षा दी जाय ? ऐसी स्थिति में भूगोल, भाषा और गणित की तरह धर्म के लिए निश्चित घण्टा निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं। धार्मिक शिक्षा उन्हें तो प्रत्येक घण्टे और कक्षा में प्रसंगानुसार दी जा सकती है। इसके लिए शिक्षकों को तैयार रहना चाहिए। अच्छा होगा कि देश में प्रचलित विभिन्न धर्मों के सार की एक पुस्तिका बनायी जावे और उसी के अनुसार बालकों में धार्मिक प्रवृत्ति लाने की चेष्टा की जाय। इस सार-पुस्तिका के निर्माण में कठिनाई अवश्य होगी, क्योंकि मतभेद होने का बड़ा भय है पर अधोलिखित के आधार पर इस पुस्तिका की रचना की जाय तो कदाचित् कोई भी धर्मावलम्बी उससे आपत्ति न करेगा; क्योंकि इसमें सभी धर्म के आवश्यक सार निहित हो जाते हैं:—

"एक ऐसी शक्ति में विश्वास करना जो लोकहितार्थ सदा काम किया करती है। मनुष्य की भावनाएँ, परिश्रम और आकांक्षायें संसार को अच्छा बनाने में योग देती हैं। लोकहितार्थ आचार जगत की पहली माँग है। विश्वबन्धुत्व का अनुभव करना प्रत्येक का धर्म है। लोकहितार्थ ही सारा कार्य करना उचित है। परमार्थ के आगे स्वार्थ को त्याग देना मनुष्यत्व का द्योतक है। मनुष्य अमर है। ईश्वर सत्यं शिवं सुन्दरम् है। जो जैसा बोता है, वैसा काटता है। मृत्यु नये जीवन का द्वार है, अतः उससे डरना ठीक नहीं। अपने लिये नहीं वरन् दूसरे के लिए जीना है। दूसरों की सदा यथाशक्ति सहायता करनी चाहिए। सभी जीवों पर दया करनी चाहिए।"

इस प्रकार सार्वभौमिक सत्य को बालक सरलता से समझ सकता है और उससे कोई धर्मावलम्बी असहमत भी न होगा। धार्मिक शिक्षा का तात्पर्य किसी विशेष पूजा-विधि में बालक को शिक्षा देना नहीं है, क्योंकि पूजा-विधि और दैनिक आचार से विशेष सम्बन्ध नहीं।

क्रियाशीलता, शरीर और मस्तिष्क की सह-शिक्षा, परिश्रम के प्रति आदर उत्पन्न करना।

क्रियाशीलता बालक की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः उसकी प्राथमिक शिक्षा में क्रियाशीलता का अंश रहना आवश्यक है। किसी रचनात्मक कार्य में उसकी रुचि उत्पन्न करना आवश्यक है। यह हस्तकला सम्बन्धी कार्यों से सम्भव हो सकता है। अन्य विषयों में भी रचनात्मक कार्य के लिए स्थान अवश्य रहता है, पर वह छोटे बालकों की शक्ति के परे हो सकता है, क्योंकि उसमें अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है। इस रचनात्मक

कार्य का तात्पर्य बालकों को व्यावसायिक शिक्षा देने से नहीं है, क्योंकि स्कूलों से निकलने के बाद अपनी छोटी अवस्था में वे किसी व्यवसाय के योग्य नहीं माने जा सकते। वस्तुतः रचनात्मक कार्य में शिक्षा का महत्त्व उनके मस्तिष्क और शरीर के सह-शिक्षा से है। रचनात्मक कार्य में हाथ और आँख की जो शिक्षा होती है उसका बालक के विकास में भारी महत्त्व है। हमारे देश में परिश्रम को उचित सम्मान नहीं प्राप्त है। कुछ पढ़े-लिखे लोग अपने हाथ से कुछ काम करना अपने सम्मान के प्रतिकूल समझते हैं। देश को समृद्धिशाली बनाने के लिये 'परिश्रम' का सम्मान करना ही होगा। संयुक्त-राज्य-अमेरिका के धन-धान्य का प्रधान कारण यही है कि वहाँ के लोग 'परिश्रम' का सम्मान करना जानते हैं। विश्वविद्यालय और कालेजों के विद्यार्थी अवकाश के समय होटलों और दफ्तरों में किसी प्रकार का भी परिश्रम करने में अपने को अपमानित अनुभव नहीं करते। ऐसी ही प्रवृत्ति अपने देश में भी लाने के लिए यह आवश्यक है कि बहुत प्रारम्भ से ही बालकों को कुछ न कुछ कार्य कराया जाय। इसकी नींव प्रारम्भिक स्कूलों में ही 'हस्तकला' के द्वारा डाली जा सकती है। यदि प्रारम्भ में ही यह आदत न डाली गयी तो बाद में कठिनाई होगी।

मातृभाषा के ज्ञान पर विशेष बल।

प्रारम्भ में मातृभाषा की पढ़ाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अन्य विषयों की भी पढ़ाई कुछ हद तक मातृ-भाषा के ही ज्ञान पर निर्भर है, क्योंकि सभी विषय मातृभाषा में ही पढ़ने होते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि सभी शिक्षक मातृभाषा के शिक्षक हैं और बालक प्रत्येक विषय के साथ मातृभाषा का भी ज्ञान प्राप्त

करते हैं। मातृ-भाषा का ज्ञान जितना अच्छा होगा बालक में उतने ही अधिक विचारों का केन्द्रीयकरण होगा। प्रायः यह देखा जाता है कि भाषा-ज्ञान में मन्द बालक पढ़ने-लिखने में अच्छा नहीं होता और वह कभी-कभी सामान्य कोटि से भी नीचे गिर जाता है। इसके विपरीत श्रेष्ठ बालक का भाषा-ज्ञान अच्छा पाया जाता है। उसे अपने विचारों के स्पष्टीकरण में अपेक्षाकृत कम कठिनाई मालूम होती है। अतः प्रारम्भ में बालक का भाषा-ज्ञान बढ़ाने पर ही जोर देना चाहिए।

अंकगणित, साधारण विज्ञान, भूगोल, इतिहास, नागरिक-शास्त्र और संगीत, पाठ्य-क्रम और वास्तविक जीवन में सम्बन्ध।

प्राथमिक स्कूल के पाठ्य-क्रम में उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त अंकगणित, साधारण-विज्ञान, भूगोल, इतिहास और नागरिक-शास्त्र और संगीत को स्थान देना चाहिए। माध्यमिक स्कूल में भी प्राथमिक स्कूलों के ही विषय पढ़ाये जायेंगे। पर उनका विस्तार बढ़ाना होगा। मातृ-भाषा के अतिरिक्त इस श्रेणी में एक और आधुनिक भाषा पढ़ानी होगी और जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, यह भाषा हमारे देश में अंग्रेजी होगी। हस्तकला का भी पाठ्य-क्रम में पहले ही जैसा स्थान रहेगा। रचनात्मक प्रवृत्ति को यथासम्भव प्रोत्साहन दिया जावेगा। पाठ्य-क्रम का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध स्थापित करने का हर समय प्रयत्न होना चाहिए, अन्यथा स्कूल समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान न दे सकेगा। माध्यमिक स्कूल के पाठ्य-क्रम का उद्देश्य विश्वविद्यालय के लिए तैयारी का नहीं होना चाहिये। इस काल की शिक्षा अपने में पूर्ण होनी चाहिए, क्योंकि इसके बाद बहुत से बालकों की शिक्षा छूट जाती है। इस श्रेणी में गणित, विज्ञान तथा भाषा की शिक्षा

पहले से इस प्रकार कठिन कर देनी चाहिए कि विश्वविद्यालय में जाने वाले विद्यार्थियों को कठिनाई न मालूम हो।

नागरिक शास्त्र, ग्रामीण और शहरी बालकों की शिक्षा-उद्देश्य में भेद नहीं।

क्या गाँव व शहरों के पाठ्य-क्रम में भेद होना चाहिए? सिद्धान्ततः तो दोनों में भेद होना ठीक नहीं। पर स्थानीय आवश्यकतानुसार इसमें कुछ भेद भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, शहर और गाँव के स्कूल के वातावरण में भेद के कारण हस्तकला के प्रकार में भिन्नता हो सकती है। शहर के बालकों की परिस्थिति गाँव वालों से भिन्न होती है। अतः नागरिक शास्त्र में शहर के बालकों को सड़क और गलियों आदि की सफाई की बातें बतलाई जा सकती हैं और गाँव के बालकों को पशु, आस-पास के गढ़ों, रास्ते और नालियों आदि को स्वच्छ रखने की शिक्षा दी जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि बालक की शिक्षा में उसकी आवश्यकता पर भी ध्यान देते रहना है। वस्तुतः हमें बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करना है। हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि गाँव के बालक को अपना जीवन गाँव में बिताना होगा और शहरी बालक का शहर में। इस प्रकार गाँव और शहर के स्कूल का उद्देश्य भिन्न-भिन्न न होगा। वातावरण के अनुसार समान उद्देश्यों की पूर्ति के साधन में भेद आ सकता है।

बालक और बालिका

क्या बालकों और बालिकाओं का पाठ्य-क्रम समान होना चाहिए? दोनों की प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में सिद्धान्ततः भेद न होना चाहिये क्योंकि लिङ्गभेद के कारण दोनों के

की शिक्षा में सिद्धान्ततः मानसिक विकास में अन्तर नहीं होता।

भेद नहीं, किशोरावस्था में बालिकाओं के पाठ्य-क्रम में गृह-विज्ञान।

बाल-काल में दोनों की रुचियाँ और आवश्यकताएँ भी समान ही दिखलाई पड़ती हैं। पर किशोरावस्था में दोनों की रुचियों में भिन्नता आ जाती है, अतः इस समय लड़कियों के पाठ्य-क्रम में गृह-विज्ञान बढ़ाया जा सकता है।

पाठ्य-क्रम पर विचार कर लेने के बाद यह जानना आवश्यक है कि पाठ्य-क्रम को कार्यान्वित कैसे किया जाय। अतः अगले अध्यायों में शिक्षण-कला के विभिन्न अंगों पर विचार किया जायगा।

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमॉन्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन, अध्याय ६।

२—हार्पर—ऐडवेन्चर इन अमेरिकन एडूकेशन, भाग २—"एक्सप्लोरिङ्ग द करीकूलम"।

३—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिसेज़ ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी-स्कूल्स—अध्याय १३।

४—राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग-अध्याय—७।

५—स्टर्ट ऐण्ड आकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एडूकेशन—अध्याय—२।

६—रेन—द इण्डियन टीचर्स गाइड—द थियरी ऑव् एडूकेशन।

७—वेलटन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड ऑव् टीचिङ्ग-अध्याय—२।

पाँचवाँ अध्याय

विनय की समस्या

(द प्रॉबलेम ऑव् डिसीप्लिन)

सबसे पहले शिक्षक को यह जानना चाहिए कि वह क्या पढ़ाने जा रहा है। विषय-ज्ञान के बाद उसे यह जानना है कि विषय को बालक के सामने किस प्रकार रखा जाय कि वह उसे सरलता से समझ सके और साथ ही साथ उसका विकास भी मनोवैज्ञानिक क्रम से चलता रहे। इसी के साथ विनय-व्यवस्था की भी बात आ जाती है। यदि कक्षा में शिक्षक विनय स्थापित न कर सका तो उसका सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। इस प्रकार शिक्षण-कला के अन्तर्गत विषय-ज्ञान, विधि और विनय-व्यवस्था का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पहले यहाँ हम विनय-व्यवस्था पर ही विचार करेंगे।

बिना विनय-स्थापन के शिक्षक का परिश्रम व्यर्थ।

शिक्षक के कार्य की सफलता कक्षा में विनय से मापी जा सकती है। यदि उसका कार्य मनोवैज्ञानिक हुआ तो उसमें बालक स्वभावतः रुचि लेंगे और विनय-व्यवस्था की समस्या ही न आयेगी। कक्षा में विनय के अभाव से ट्रेनिङ्ग कॉलेज के विद्यार्थी हतोत्साह हो जाते हैं और उन्हें सन्देह होने लगता है कि कदाचित् उन्होंने अपने जीवन

विनय की समस्या कठिन, प्राचीन आदर्श और वर्त्तमान शिक्षकों और छात्रों की मनोवृत्ति।

का गलत उद्देश्य चुना। प्रायः यह सुनने में आता है कि छोटे लड़कों की कक्षा में विनय स्थापित करना असम्भव है, क्योंकि वे हर समय कुछ न कुछ किया करते हैं। वस्तुतः विनय-व्यवस्था की समस्या बड़ी टेढ़ी है। शिक्षक अपने सारे ज्ञान और विधि को लेकर कुछ भी नहीं कर सकता, यदि वह कक्षा में विनय न स्थापित कर सका। लड़कों का कक्षा में शोर मचाना और शिक्षक का गला फाड़-फाड़ कर चुप करने के लिये चिल्लाना अथवा आत्महीनता-भावना से दबे रहने के कारण चुप करने के लिए बिल्ली की तरह बोलना, बड़ा दयनीय है। प्राचीन काल में हमारे देश के गुरुकुलों अथवा पाठशालाओं में विनय की समस्या ही न थी, क्योंकि उस समय शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध आज का सा न था। गुरु और शिष्य में पिता और पुत्र का सा व्यवहार होता था। शिष्य गुरु का पक्का भक्त होता था और उसकी कृपा-दृष्टि के लिये तरसता रहता था। एकलव्य और उपमन्यु की कथायें इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शिष्यगण तन, मन और धन से गुरु को प्रसन्न करने की चेष्टा किया करते थे। अतः वे सदैव विनम्र रहते थे और उनका आचरण भी शुद्ध रहता था। घर से नया आया हुआ बालक भी गुरुकुल के वाता-वरण से शीघ्र ही प्रभावित हो जाता था और पवित्रता, शान्ति और सदाचार में पग जाता था। पर अब स्थिति ऐसी न रही। अब तो अध्यापकगण छात्रों को अपना देवता मानते हैं और उन्हें प्रसन्न करने के लिये कभी-कभी उनकी इच्छानुसार कार्य करने लगते हैं। अध्यापक के कठोर बर्त्ताव पर छात्रगण कभी-कभी हड़ताल कर बैठते हैं और अध्यापक अपनी नौकरी के लिए चिन्तित हो जाता है। कुछ प्रधानाध्यापकों को तो साल-

भर छात्रों की चापलूसी ही करते बीतता है, जिससे परीक्षा के समय तथा अन्य किसी बात पर वे हड़ताल न बोल दें। जिस स्कूल में चापलूसी के कारण हड़ताल नहीं होती वहाँ के प्रधानाध्यापक डींग हाँकते सुने जाते हैं। "मेरी कक्षा में लड़के चूँ तक नहीं बोलते"—ऐसी बातें तो किसी न किसी अध्यापक से रोज ही सुनी जाती हैं। आजकल छात्रों की मनोवृत्ति में भी बड़ा परिवर्त्तन आ गया है। छात्र सोचते हैं कि हम फीस देते हैं इसलिए अवश्य पढ़ेंगे। अध्यापक भी सोचता है कि "मुझे केवल १२० रु० मिलते हैं। अतः मैंने १२० रु० का काम कर दिया। इससे अधिक क्यों करूँ?" इस दृष्टि से स्कूल या कॉलेज के पुराने अध्यापक की मनोवृत्ति कुछ और भी आगे बढ़ी हुई है। पुराना अध्यापक समझता है कि "मैंने २५ साल तक काम किया। अपने जीवन का सबसे अच्छा काल यहीं बिता दिया। अब मैं अधिक परिश्रम क्यों करूँ? अब परिश्रम करना नये लोगों का काम है।" इस मनोवृत्ति का प्रभाव यह पड़ा है कि नये अध्यापक प्रायः भुनभुनाया करते हैं और कहते हैं कि "हमसे अधिक काम लिया जाता है। अतः कक्षा में हम गप मारेंगे।" छात्रों और अध्यापकों में उपर्युक्त भावनायें स्कूलों में प्रचलित अविनय को और भी प्रोत्साहन देती हैं।

दण्ड के बल पर आश्रित विनय झूठी, विनय सीखने की वस्तु।

शिक्षा में विनय-समस्या से अधिक महत्त्वपूर्ण और दूसरी समस्या नहीं। अभिभावक अपने बालक को स्कूल में केवल परीक्षा ही पास करने के लिए नहीं भेजता, वरन् उसे आदमी बनाने के लिये भी और वह आदमी ऐसा हो जिसका समाज में आदर हो। इसके

लिए बालक को विनय सिखाना बड़ा ही आवश्यक है। कुछ लोगों की धारणा है कि जिस स्कूल के बालक सदा एक कतार में होकर चलते हैं और कक्षा में चुपचाप बैठे रहते हैं वहाँ की विनय अच्छी होती है। पर विनय का तात्पर्य यह नहीं, क्योंकि इस विनय के स्थापन में प्रधानाध्यापक और अध्यापक डण्डे का प्रयोग करते देखे जाते हैं। मनोविज्ञान का इतना प्रचार हो जाने पर भी प्रधानाध्यापक गण बेंत के प्रयोग में अपना अभिमान समझते हैं। डण्डे के बल से रखी हुई विनय झूठी और दिखावटी होती है। इससे बालक के हृदय को नहीं जीता जा सकता। अतः हमें कोई ऐसा साधन ढूँढ़ निकालना है जिससे वास्तविक विनय स्थापित हो सके। वास्तविक विनय से ही बालकों में संयम, सदाचार, त्याग, सेवा आदि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। वस्तुतः उसे शिक्षा देने का यही उद्देश्य भी है। विनय का इतना वृहद् रूप लेने से यह स्पष्ट है कि 'विनय' सीखने की वस्तु है। जैसे शिक्षा से बालक को किसी विषय का ज्ञान कराया जाता है उसी प्रकार उसे 'विनय' में भी शिक्षा दी जा सकती है।

आज विनय का तात्पर्य पहले से कुछ भिन्न समझा जाता है। पहले विनय का अर्थ बालक को आज्ञाकारी बनाने का था। जैसे सेना के कमान का अन्य सैनिक अक्षरशः बिना सोचे आज्ञापालन करते हैं वैसे ही बालक को अपने माता-पिता, अभिभावक अथवा शिक्षक की आज्ञापालन करना 'विनय' उत्पन्न करने का एकमात्र उद्देश्य समझा जाता था। बालक तनिक भी चूँ नहीं कर

विनय का पुराना रूप।

सकता था। अरुचिकर कार्य कराना उसे 'विनयी' बनाने का अच्छा साधन माना जाता था। बालक को छोटी उम्र से ही पढ़ाना-लिखाना व सिखाना आरम्भ किया जाता था। भाषा, व्याकरण तथा गणित के नियम उसे कण्ठाग्र करने पड़ते थे और असफलता पर उसे मार भी खानी पड़ती थी। सफल शिक्षक वही समझा जाता था जो अपनी इच्छानुसार बालक को झुका सकता था। बालकों पर अपना पूरा नियन्त्रण स्थापित करने के लिए शिक्षक अपने में एक शक्ति समझता था। इस शक्ति के प्रयोग में वह अपने को स्वच्छन्द समझता था। शिक्षक अपने को ऐसा बनाना चाहता था कि विद्यार्थी उसका भय करें और उसकी आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करें।

बालक को डराना अनुचित, विनय का सम्बन्ध जीवन से भी, चंचलता का नाम अविनय नहीं, विनय-स्थापन विषयक कम से कम आदेश, बालकों की रुचि पर ध्यान, आत्म-विश्वास और शान्ति से काम लेना।

विनय का उपर्युक्त रूप अब एकदम बदल दिया गया है। इस परिवर्त्तन में मनोवैज्ञानिक प्रगति ने सबसे अधिक योग दिया है। अब आज्ञापालन का साधन भय न मानकर प्रेम मान लिया गया है। शिक्षक ऐसा हो कि बालक उससे प्रेम और श्रद्धा करें और इसी भावना से अभिभूत होकर वे उसकी आज्ञाओं का हँसते-हँसते पालन करें। शिक्षक का व्यक्तित्व ऐसा हो कि बालक उससे सहज ही प्रभावित हो जाँय। ऐसे शिक्षकों को विनय-व्यवस्था में बेंत की आवश्यकता नहीं होती। वास्तव में यदि बालक को डराया न जाय तो वह स्वतः विनयी हो जायगा और उसका कोई भी व्यवहार असामाजिक न होगा। विनय का तात्पर्य

केवल कक्षा-विनय से ही नहीं है, वरन् पूरे जीवन से है। शिक्षक को दोनों प्रकार की विनय को समझना आवश्यक है, क्योंकि उसका सम्बन्ध दोनों से है। कक्षा में विनय न रहने से वह कुछ पढ़ा-लिखा न सकेगा। कक्षा में विनय का अर्थ यह है कि पढ़ाई के समय लड़के आपस में बातचीत तथा किसी प्रकार का उपद्रव न करें। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कक्षा में बालक एकदम मूर्ति के सदृश् बैठे रहें। चंचलता का नाम अविनय नहीं। वस्तुतः बालक को चंचल होना चाहिए। जब कक्षा में कुछ पढ़ाई नहीं होती तो बालकों का ऊधम मचाना एकदम स्वाभाविक है। इसके लिए उन्हें दण्ड देना अनुचित है। छोटी कक्षाओं के शिक्षक बहुधा कहा करते हैं कि उनकी कक्षा में लड़के बड़ा ऊधम मचाते हैं और छोटे लड़कों में विनय की बड़ी कमी होती है। पर बात ऐसी नहीं। छोटे बच्चे हर समय कुछ न कुछ करना चाहते हैं। जब उनकी स्वाभाविक क्रियाशीलता को जारी रखने में शिक्षक की पढ़ाई योग नहीं देती तो वे कुछ इधर-उधर किया करते हैं, और इसे अविनय का नाम दे दिया जाता है। जो शिक्षक विनय-स्थापन पर जितना ही अधिक जोर देता है उसकी कक्षा में उतनी ही अधिक अविनय दिखलाई पड़ती है। बालकों में संकेत-योग्यता अधिक होती है। यदि शिक्षक की मुद्रा से उन्हें शैथिल्य झलकता दिखाई देता है तो फिर क्या पूछना। वे शिक्षक को अपनी वाली एक न करने देंगे। यदि शिक्षक बार-बार चिल्ला कर चुप रहने के लिए आदेश देता है तो निश्चय है कि वह विनय-स्थापन में सफल न होगा। बालकों को विनय-स्थापन विषयक जितना कम आदेश दिया जाय उतना ही अच्छा है। यदि शिक्षक की उद्योगशीलता और व्यक्तित्व की छाप बालकों पर पड़ गई तो 'विनय-समस्या' उपस्थित ही न होगी। प्रायः पाठ के प्रारम्भ

अथवा अन्त में विनय की समस्या नये अध्यापकों को अधिक तंग किया करती है, क्योंकि प्रारम्भ में विषय को रुचिकर बनाना कठिन होता है और अन्त में बालक थकान के कारण स्वयं अरुचि दिखलाते हैं। परन्तु यदि शिक्षक मनोवैज्ञानिक विधि से काम ले तो वह किसी भी विषय को रुचिकर बना सकता है और बालक उसके साथ थोड़ी देर के लिए भी थकान का अनुभव न करेंगे। जब बालकों से अस्वाभाविक चीजें करने के लिए कही जाती हैं तभी विनय को समस्या टेढ़ी होती है। बालकों की अविनय में अभिभावकों का भी कुछ हाथ रहता है, क्योंकि वे अपना अधिकांश समय उन्हीं के साथ व्यतीत करते हैं। विनय-स्थापन में शिक्षक को दो प्रकार के बालकों का सामना करना होता है-१—वे जिनकी घर पर अवहेलना की जाती है और मार पड़ती है; २—वे बालक जिनको अत्यधिक लाड़-प्यार किया जाता है। आत्म-विश्वास और शान्ति से काम लेने पर इन दोनों प्रकार के बालकों पर शिक्षक सरलता से नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है।

कुछ लोगों का कहना है कि कक्षा की विनय शिक्षक के व्यक्तित्व पर निर्भर होती है। कुछ अंश में यह ठीक भी है।

शिक्षक की रहन-सहन और मुद्रा का प्रभाव।

कुछ शिक्षकों का व्यक्तित्व ऐसा होता है कि बालक उनकी ओर स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। विषय में रुचि के कारण लड़के कक्षा में शान्ति नहीं रखते, वरन् शिक्षक की मुद्रा, व्यवहार और वाणी ऐसी प्रिय, आकर्षक व सौम्य होती है कि बालक कक्षा में दत्तचित्त हो सब कुछ सुनते रहते हैं। ऐसे शिक्षक चरित्रवान् होते हैं। उनमें इतना आत्म-विश्वास भरा

रहता है कि कक्षा में अविनय का डर उनके मन में आता ही नहीं। अतः उनकी कोई मुद्रा ऐसी नहीं होती जिससे बालक कक्षा में मनमानी करने की सोचे। शिक्षक को अपने भावों पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। कुछ शिक्षक किसी बात के कहने में इतनी बार मुँह सिकोड़ते हैं, हाथ इधर-उधर नचाते है और कक्षा में इस प्रकार इधर-उधर हिला करते हैं कि बालक उन्हें बड़ा बुरा समझते हैं और मुँह दबा दबा कर उन पर छिपे छिपे हँसते हैं। अतः शिक्षक जो कुछ कहता है उसका समुचित असर उन पर नहीं पड़ता। फलतः वे शिक्षक की मुद्रा पर हँसते, बातचीत करते या कक्षा-कार्य से उदासीन हो ऊँघते हुये पाये जाते हैं। इतना ही नहीं, वे शिक्षक का व्यंगात्मक उपहास भी उड़ाते हुए देखे जाते हैं। शिक्षक के व्यवहार व भाव-भंगिमा के अनुरूप वे उनका कोई नामकरण भी कर देते हैं।

कुछ लोगों की धारणा है कि पुरस्कार और दण्ड से विनय-स्थापन में बड़ी सहायता मिलती है। विनय-स्थापन में पुरस्कार अथवा दण्ड का कोई सैद्धान्तिक स्थान नहीं। बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार किया जा सकता है कि ठीक काम करना ही उसका स्वभाव हो जाय और बुरे से वह स्वभावतः घृणा करे। ऐसा होने से उसमें वांछित स्थायीभाव उत्पन्न हो जायेंगे और उसे दण्ड देने की आवश्यकता ही न होगी। बालक हर समय अपने अनुभव के आधार पर सीखने की चेष्टा में रहता है। अतः समय-समय पर उसे अच्छा रास्ता दिखलाना है, और इस सम्बन्ध में यदि दण्ड देना आवश्यक

पुरस्कार और दण्ड का स्थान।

है तो उसे देने में हिचकिचाहट न होनी चाहिए। किन्तु योग्य शिक्षक को इसे बुद्धिमत्तापूर्वक अन्तिम अस्त्र की भाँति ही प्रयोग में लाना चाहिए।

अध्यापन सम्बन्धी सहायक वस्तुओं के प्रबन्ध में बालकों को कुछ उत्तरदायित्व दे दिया जाय तो विनय-स्थापना में काफी सहायता मिल सकती है। किसी उत्तरदायित्व को निभाने में बालक विनय-स्थापन की आवश्यकता को भली-भाँति समझ लेता है और विनय-स्थापन हेतु बड़ों के नियन्त्रण-विधि की आवश्यकता मान लेता है। अपनी अधिकार-भावना के प्रदर्शन के लिए शिक्षक का बालकों को डाँटना या रोब जमाना विनय-स्थापन के विरुद्ध जाता है। शिक्षक के नियन्त्रण से यही मालूम हो कि विनय-स्थापन बालकों की भलाई के लिए ही आवश्यक है। इस बात की उपेक्षा से यह देखा गया है कि कक्षा में लड़के शिक्षक का विरोध कर बैठते हैं। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि उपदेश से उदाहरण कहीं अच्छा है। यदि शिक्षक लम्बी-लम्बी बातें कह जाता है और उन्हें कार्यान्वित करने में अपनी असफलता दिखलाता है तो उसका शिक्षक होना सार्थक नहीं; क्योंकि बालक उससे कुछ सीख न सकेंगे। ऐसे शिक्षकों से बालकों की हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है, क्योंकि उनकी अधिक बातों का विरुद्ध-संकेत सदृश् बालकों पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे शिक्षक जो कुछ कहते हैं उसका उलटा ही करने की प्रवृत्ति बालकों में आ जाती है। उदाहरणार्थ, यदि धूम्र-

बालक को उत्तरदायित्व देना, शिक्षक का अधिकार-भावना प्रदर्शन ठीक नहीं, उपदेश से उदाहरण अच्छा।

पान करने अथवा खूब ठाट-बाट से रहने वाला शिक्षक बालकों को सिगरेट-बीड़ी न पीने के लिए अथवा सादगी से रहने के लिए शिक्षा देता है तो उसका बालकों पर उलटा प्रभाव पड़ेगा।

शिक्षक का व्यवहार, चरित्र तथा उसके सम्बन्ध में सारी बातें ऐसी हों कि उनका बालकों पर सदा अच्छा ही प्रभाव पड़े। यदि इस आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा कोई शिक्षक करता है तो उसकी कक्षा में विनय-समस्या कभी आवेगी ही नहीं। ऐसे ही शिक्षक को बालक स्कूल छोड़ देने के बाद भी याद करते हैं। ऐसे ही शिक्षक बालकों को कुछ ऐसे विचार देने में समर्थ होते हैं जो उनके कानों में सदा गूँजा करते हैं। शिक्षक को नित्य यह सोचना चाहिये कि अगले दिन बालकों को वह कौन-सा नया विचार देगा। इसकी सतत् चिन्ता करने से ही वह सफल हो सकता है। जो जितना ही इस चिन्ता में सच्चे हृदय से मग्न रहता है वह अपने कार्य में उतना ही सफल कहा जा सकता है। वास्तव में शिक्षक की सफलता की माप इसी में है। खेद है कि आज का शिक्षक वर्ग इस आदर्श से बहुत दूर है। कुछ शिक्षक अध्यापन-कार्य को बड़ा ही सरल समझते हैं। कुछ तो उसे हेय भी मानते हैं। घर पर वे सोचते ही नहीं कि कल वे क्या पढ़ायेंगे। हर समय बैठ कर गप मारा करते हैं या किसी अन्य कार्य में लगे रहते हैं। स्कूल का समय आने पर किसी प्रकार जल्दीबाजी में तैयार होकर इस प्रकार

शिक्षक का चरित्र और आचरण आदर्श हो, विनय-स्थापन की दृष्टि से दो प्रकार के शिक्षक।

रवाना होते हैं मानों फैक्टरी में कार्य करने कोई मजदूर जा रहा हो। अर्थात् शिक्षक बालकों के प्रति अपने महान् उत्तर-दायित्व को नहीं सोचता। वह स्कूल में बालकों के जीवन को सुधारने नहीं जाता परन्तु अपनी रोटी कमाने जाता है। ऐसे शिक्षकों को शिक्षा-क्षेत्र से निकाल बाहर किये बिना देश का कल्याण सम्भव नहीं। ऐसे शिक्षक या तो डण्डों के बल कक्षा में विनय स्थापित करते हैं या लड़के उनका कान चूमने तक तैयार रहते हैं। अर्थात् इस दृष्टि से दो प्रकार के शिक्षक दिखलाई पड़ते हैं :—१—एक तो वे जो कि बाहर अपने सहयोगियों के सामने दम्भ भरते हैं कि उनकी कक्षा में किसी को चूँ करने का भी साहस नहीं होता। कक्षा में ऐसे शिक्षक की भौंहें सदा तनी रहती हैं। ऐसे शिक्षक में बालक कभी विश्वास नहीं करता। वह अपनी कठिनाई उनके सामने कभी नहीं रखता। २—दूसरे प्रकार का शिक्षक सदा मुँह लटकाये रहता है। कक्षा में लड़कों की दया का वह पात्र होता है। उसके व्यवहार व हाव-भाव ऐसे होते हैं कि लड़के कक्षा में ऊधम मचाया करते हैं। ऐसे शिक्षकों का अपना कोई आदर्श नहीं होता। जैसे तिनका जल की धार के साथ बह जाता है उसी प्रकार वे भी संसार की गति के साथ बह जाते हैं। वे परिस्थिति के जीव होते हैं। वे बालकों को भीरुता के अतिरिक्त और कुछ नहीं सिखला सकते। इनकी कक्षा में विनय-स्थापन की समस्या का कोई हल नहीं।

ऊपर हम कई बार संकेत कर चुके हैं कि कक्षा में बालकों द्वारा स्वतः स्थापित विनय-व्यवस्था सर्वोत्तम है। अध्यापकों को उनका इस प्रकार पथ-प्रदर्शन करना

विनय-स्थापन साधन,

हैं कि वे विनय-स्थापन की आव-

स्कूल के शुद्ध वातावरण का प्रभाव

श्यकता का अनुभव कर स्वयं उसमें योग दें। बालकों द्वारा स्थापित विनय-व्यवस्था स्थायी और पठन-पाठन में सहायक होती है। पर बालक बिना शिक्षक के पथ-प्रदर्शन के स्वयं विनय-स्थापन में सफल नहीं हो सकते। यदि 'विनय' का सारा उत्तरदायित्व बालकों पर ही छोड़ दिया जाय तो कदाचित् वे उसके स्थापन में सफल न हो सकेंगे। शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि विनय-स्थापन साध्य नहीं, वरन् साधन है। विनय किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये साधन है? सबसे पहले हम यह चाहते हैं कि स्कूल के शुद्ध वातावरण का समुचित प्रभाव बालक पर पड़े। बालकों में सामूहिकता की मूल-प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत रहती है। यदि स्कूल अच्छा हुआ तो उसके प्रभाव की ओर बालक स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। स्कूल के शुद्ध वातावरण (टोन) की व्याख्या करना कठिन है, क्योंकि प्रत्येक स्कूल का अपना अलग-अलग वातावरण होता है। भिन्नता रहते हुए भी हम उन्हें "अच्छे वातावरण वाला" कह सकते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि उस स्कूल का वातावरण शुद्ध है जिसमें बालक यह अनुभव करें कि वे एक ऐसे समाज में रह रहे हैं जहाँ "सत्यं शिवं और सुन्दरम् का साम्राज्य है। अर्थात् जहाँ शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक सभी दृष्टिकोण से बालकों के विकास में योग देने का प्रयास किया जाता है।

यद्यपि स्कूल के "शुद्ध वातावरण" के अन्तर्गत अध्यापकों के व्यक्तित्व का प्रभाव आ जाता है, पर कुछ शिक्षक व्यक्ति-गत रूप से भी बालकों के हृदय में स्थायी स्थान

आदर्श शिक्षक के व्यक्तित्व का स्थायी प्रभाव

प्राप्त कर लेते हैं। बालकों के चरित्र-निर्माण में योग देने के लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक में इस हेतु उत्कट कामना हो और उसको पूर्ति के लिए वह सतत् चिन्तन में लगा रहे। अतः उसमें बालकों के के प्रति सहानुभूति और प्रेम का होना आवश्यक है। उसका मस्तिष्क इतना तीव्र हो कि समस्या के हल पर वह शीघ्र पहुँच जाय और बालक के पथ-प्रदर्शन में वह किसी भी हिच-किचाहट में न पड़े। इन गुणों से सम्पन्न शिक्षक का प्रभाव बालकों के चरित्र पर बिना पड़े नहीं रहता और उसका व्यक्तित्त्व स्कूल के 'साधारण वातावरण' से एक अलग ही अस्तित्व रखता है। बालक में 'विनय' लाने का अभिप्राय यह भी है कि वह ऐसे आदर्श-शिक्षकों के व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने चरित्र को सुदृढ़ बनावे। पर कुछ बालकों का पथ-प्रदर्शन इतने अमनो-वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है कि उन पर शिक्षकों के व्यक्तित्व का कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता।

विनय से आत्म-संयम

विनय आ जाने पर बालक स्कूल में पढ़ाये हुये विषयों पर पूरा ध्यान देता है। वह उनसे अधिक से अधिक लाभ उठाता है। धीरे-धीरे उसमें दूसरों की अच्छाइयों को समझने की योग्यता और प्रवृत्ति आ जाती है। ऐसा हो जाने से उसके पथ-भ्रष्ट हो जाने की आशंका कम होती है। उसमें आत्म-संयम आ जाता है। इन सब गुणों के फलस्वरूप स्कूल में उसका सारा व्यवहार बड़ा संयत होता है। बहुत अंशों में दूसरे लड़कों के लिये वह आदर्श हो जाता है।

कक्षा में 'विनय' स्थापित करने का काम इतना सरल नहीं

कि वहाँ पहुँचते ही शिक्षक इसमें सफल हो जाय। जिस प्रकार व्यक्ति में किसी गुण का विकास धीरे-धीरे होता है उसी तरह कक्षा में विनय का स्थापन क्रमशः होता है। विनय-स्थापन में सबसे पहले

शिक्षक का आत्म-विश्वास बड़ा सहायक।

शिक्षक को यह याद रखना है कि लड़कों को यह न विदित हो सके कि वह 'विनय' स्थापित करने के लिए चिन्तित है। आत्म-विश्वास के साथ कक्षा में जाने से विनय-स्थापन की समस्या आती ही नहीं। ट्रेनिङ्ग-कॉलेज के छात्राध्यापक कक्षा में अविनय की शिकायत करते नहीं थकते। इसका कारण यह है कि वे पहले ही मान लेते हैं कि लड़के उन्हें छात्राध्यापक समझकर कक्षा में ऊधम मचायेंगे। अवसर पर डाँटने या उचित दण्ड देने में उन्हें सदा हिचकिचाहट बनी रहती है। यही कारण है कि कक्षा की 'अविनय' से वे सदा परेशान रहते हैं। अतः शिक्षक अथवा छात्राध्यापक में आत्म-विश्वास का अनुभव करना बड़ा आवश्यक है। आत्म-विश्वास रखने के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि छात्राध्यापक कक्षा में अपना अधिकार किसी से कम न समझे और आवश्यकता पड़ने पर बालकों को उचित दण्ड देने में उसी प्रकार न हिचके जैसे कभी-कभी पिता पुत्र को दण्ड देने में अपने एक उत्तर-दायित्व का ही पालन करता है।

आत्म-विश्वास के अनुभव के लिए शिक्षक को अपने पाठ की भली-भाँति तैयारी करनी चाहिए। पाठ ठीक तैयार रहने से वह बालकों की सभी शंकाओं का समाधान करने में सफल होता है और इस प्रकार वह उनके विश्वास

पाठ की पूरी तैयारी।

का पात्र हो जाता है । यदि बालकों के किसी प्रश्न का उत्तर नहीं आता तो शिक्षक को स्पष्ट रूप से अपनी असमर्थता प्रकट कर देनी चाहिए। ऐसा करना गलत बतलाने से कहीं अधिक नैतिक वे सुरक्षित है। जो, शिक्षक ऐंठ में आकर जान बूझ कर लड़कों को गलत बात बतलाते हैं वे अक्षम्य अपराध करते हैं। ऐसे शिक्षकों की जितती अधिक निन्दा की जाय थोड़ी है। गलत बात बतलाने वाले शिक्षक की कक्षा में सदा अविनय ही देखी जाती है।

स्पष्ट आदेश देना, बालकों की मुद्रा का अध्ययन करना।

कक्षा में 'विनय' स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक अपना आदेश स्पष्ट और गम्भीर शब्दों में दे। कुछ शिक्षक अपने आदेश के पालन के लिये बार-बार उसे दोहराया करते हैं। कुछ अपना मुँह चुराकर इतना धीरे से बोलते हैं कि किसी-किसी लड़के को सुनाई भी नहीं पड़ता। कुछ घुड़कने की मुद्रा में थोड़ा मुस्कराते हुये लड़कों को आदेश देते हैं। इन प्रकार के आदेशों का बालकों पर ठीक प्रभाव नहीं पड़ता ? वे शिक्षक की कमजोरी को उसी प्रकार पकड़ लेते हैं जैसे किसान बैल मोल लेते समय उसके दोष व गुण पहचान लेता है। यदि एक बार कहने पर सभी लड़के न सुन सकें तो बार-बार दोहराने से आदेश न पालन करने वाले बालकों की मुद्रा की प्रतीक्षा करना अधिक मनोवैज्ञानिक है। यदि कक्षा में बहुत शोर होने लगे तो चिल्ला चिल्लाकर चुप होने के लिए कहना अमनोवैज्ञानिक है। अच्छा यह होगा कि शिक्षक बहुत धीमे-स्वर में बोलने लगे। ऐसा करने से लड़के यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि "मास्टर साहब क्या कह रहे हैं।"

सभी बालकों को क्रियाशील रखना, पढ़ाने में रुचि लेना।

शिक्षक को यह याद रखना चाहिए कि काम न रहने पर ही लड़के कक्षा में अव्यवस्था मचाते हैं। पाठ्य-वस्तु के न समझने पर वे उसमें रुचि नहीं लेते। फलतः वे बातचीत या झगड़ा करते हुये कक्षा में पाये जाते हैं। यदि उन्हें किसी न किसी काम में हर समय लगाकर रखा जाय तो उनके कारण अविनय न होगी। शिक्षक को उचित है कि प्रत्येक लड़के पर वह दृष्टि रखे और व्यक्तिगत योग्यतानुसार प्रत्येक से काम ले। यदि कोई कमजोर बालक किसी प्रश्न के उत्तर देने में असफल होता है तो उसे दूसरे के दिये हुये ठीक उत्तर को दुहराने के लिए ही कहना चाहिए। इस प्रकार सभी विद्यार्थियों से कुछ न कुछ कार्य लेना चाहिए। तेज विद्यार्थी को ही बार-बार अवसर देना और कमजोर की अवहेलना करना सभी दृष्टि से अमनोवैज्ञानिक है। इससे कक्षा-विनय में बड़ी गड़बड़ी आ जाती है। पाठ्य-वस्तु में शिक्षक को स्वयं बड़ी रुचि लेनी चाहिए, अन्यथा वह उसे लड़कों के लिए रुचिकर न बना सकेगा। पढ़ाने में उसे ऐसा दत्तचित्त रहना चाहिए कि उसे मालूम ही न हो कि घण्टा कैसे बीत गया।

कक्षा में लड़कों के कई प्रकार की शरारत को अविनय का रूप दिया जा सकता है। इनका वर्गीकरण हम निम्नलिखित रूप से कर सकते हैं :—

साधारण अपराध—

१—दूसरों को चिढ़ाना, बाल खोंचना या चिकोटी काटना।
२—कुछ खटपट करते रहना।
३—दूसरों से बात-चीत करना।

४—दूसरों पर बोली काटना।

५—दूसरों की गलती पर हँस देना।

६—कान में फुस-फुस कुछ कहना।

इन अपराधों से कक्षा में यदाकदा अविनय आ जाया करती है। इनसे अव्यवस्था नहीं उत्पन्न होती। इनका रूप व्यक्तिगत होता है। बालक जान-बूझ कर कक्षा में अविनय नहीं लाना चाहता। अतः इस प्रकार की गड़बड़ी का अधिकतर उत्तर-दायित्व शिक्षक पर ही है, क्योंकि उसके पढ़ाने की अमनोवैज्ञानिक प्रणाली के कारण बालकों का ध्यान इधर-उधर बँट जाता है।

दूसरे तरह के अपराध जानबूझ कर बालकों द्वारा कक्षा में किये जाते हैं, और उनसे व्यक्तित्व पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है।

जान-बूझ कर शरारत करना—

१—कागज या चॉक का टुकड़ा आदि दूसरों के ऊपर फेंकना।

२—आज्ञा का उलंघन करना।

३—अशिष्टता की बात कहना।

४—हड़ताल करना अर्थात् काम करने से मुख मोड़ लेना।

व्यक्तिगत समस्यायें—(इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत कठिनाइयों से होता है) :—

१—झूठ बोलना, धोखा देना अथवा चोरी करना।

२—क्रोध दिखलाना।

३—आलसी बालक।

४—दुष्चरित्र बालक।

'साधारण अपराध' तथा 'जान-बूझ कर शरारत' से उत्पन्न अविनय-समस्या का समाधान सामूहिक रूप से किया जा

सकता है, क्योंकि उनमें प्रायः व्यक्तित्व की विकट समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता। कुछ तात्कालिक कारणवश ही अविनय उत्पन्न हो जाती है और चतुर शिक्षक इसका निराकरण बड़ी सरलता से कर सकता है। पर व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान कुछ कठिन हो जाता है। यह ध्यान रहे कि ये समस्यायें कहीं सामूहिक रूप न धारण कर लें। उदाहरणार्थ, चोरी, करने, झूठ अथवा धोखा देने वाले लड़के के चरित्र का सूक्ष्म अध्ययन कर उसके दोष को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए। इस प्रयत्न में कक्षा-वातावरण का सहारा न लेना ही मनोवैज्ञानिक होगा, क्योंकि ये सब कक्षा-अविनय की समस्यायें नहीं हैं।

व्यक्तिगत समस्याओं को कक्षा की सामूहिक समस्या से न मिलाना।

शिक्षक की योग्यता तथा अन्य आवश्यक बातों के होते हुये भी कभी-कभी कक्षा में विनय स्थापित करने में कठिनाई होती है। किसी विषय में रुचि का विकास प्रायः परिश्रम करके किया जाता है। कुछ दिन तक पढ़ लेने के बाद बालक किसी विषय में रुचि दिखलाता है। इसके अतिरिक्त किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए विषय के अरुचिकर होने पर भी कुछ व्यक्ति अथवा बालक अपना ध्यान उस पर लगा सकते हैं। जहाँ रुचि अथवा उद्देश्य का अभाव रहता है वहीं अविनय की समस्या उपस्थित होती है। क्योंकि स्वस्थ बालक चुपचाप नहीं बैठ सकता। कक्षा-कमरे की कुछ स्थितियाँ भी बालकों के ध्यान लगाने में

रुचि और उद्देश्य का अभाव, कक्षा-कमरे की कुछ वस्तुएँ बाधक।

विघ्न डालती हैं। उदाहरणार्थ, अधिक गर्मी अथवा सर्दी, हवा और प्रकाश का ठीक न आना, बैठने की अव्यवस्था, समय-सारिणी का अमनोवैज्ञानिक होना तथा कमरे का अति आकर्षक होना आदि बातें विनय-स्थापन में रोड़े का काम करती हैं। अधिक गर्मी अथवा सर्दी होने के कारण बालकों का मन काम में न लगना स्वाभाविक है। शरीर के कष्ट में रहने से ध्यान का आकर्षित होना बड़ा कठिन होता है। फलतः ऐसी स्थिति में लड़कों का इधर-उधर करना आश्चर्यजनक नहीं। स्कूल समय में विभिन्न विषयों का समय-सारिणी में इस प्रकार संगठन हो कि बालकों का मस्तिष्क शीघ्र थक कर ऊब न जाय। आकर्षक चित्रों आदि के टँगे रहने से बालकों का ध्यान बहुधा उन्हीं की ओर जाया करता है और प्रस्तुत विषय में उनकी अरुचि हो जाती है। इस प्रकार की आवश्यक सुविधा के अभाव में शिक्षक को कक्षा में विनय रखने में कठिनाई का सामना करना हो तो आश्चर्य नहीं।

समस्या का समाधान शीघ्रातिशीघ्र, व्यक्तिगत समस्याओं पर कक्षा के बाहर विचार।

विनय-समस्या की अवहेलना कभी न करनी चाहिये। अवसर के अनुसार उचित साधन का अवलम्बन लेना आवश्यक है। इसमें किंचित देरी व अवहेलना भविष्य के लिए हानिकर सिद्ध हो सकती है। यदि सारी कक्षा में गड़बड़ी मच गई हो तो तत्काल उसी स्थल पर समस्या का समाधान करना चाहिए। पर यदि समस्या का सम्बन्ध कुछ थोड़े ही बालकों से है तो उसका निराकरण कक्षा के बाहर किया जा सकता है। बहुत साधारण बात के होने पर शिक्षक ऐसा व्यवहार करे कि विनय ठीक करने में पूरी कक्षा का कम

से कम समय नष्ट हो। कभी सर का हिला देना या आँखों से घूर देना ही पर्याप्त हो सकता है। कभी किसो एक लड़के से कुछ कहने की आवश्यकता हो सकती है। कभी पूरी कक्षा से गम्भीर शब्दों में विनय की आवश्यकता पर कुछ कहना आवश्यक हो सकता है। समस्या के समाधान में शिक्षक को ध्यान रहे कि उसकी मुद्रा से तनिक भी क्रोध का आभास न मिले। यदि विनय के स्थापन में शिक्षक शान्ति से काम लेता है तो सारी गड़बड़ी पानी के बुलबुले के सदृश शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। अवसर पर विनय स्थापित कर बाद में कुछ विशेष बालकों से अलग बातचीत करना विनय के हित में शिक्षक के लिए आवश्यक हो सकता है, जिससे भविष्य में वही गड़-बड़ी फिर न दोहराई जाय।

विनय-स्थापन के लिए किन-किन उपायों का सहारा लेना लाभप्रद है और किनका हानिकर—यह सरलता से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जो साधन एक अवसर पर उपयुक्त सिद्ध होता है वही दूसरे स्थल पर हानिकर भी हो सकता है। तथापि यहाँ कुछ ऐसे साधनों का उल्लेख किया जाता है जो कभी-कभी सहायक सिद्ध हो सकते हैं :—

कुछ अच्छे साधन—

१—कक्षा से निकाल देना।
२—किसी काम से कक्षा के बाहर भेज देना।
३—कुछ सुविधायें छीन लेना।
४—कक्षा के अन्य बालकों से अलग कर देना।
५—कक्षा ही में कुछ दूसरा काम करने के लिये कहना।
६—बैठने का स्थान बदल देना।
७—अभिभावक और बालक से अलग-अलग बात करना।

८—बालक को अलग बुलाकर व्यक्तिगत रूप से समझाना।
९—विनय के महत्त्व को समझाना।

कुछ कम प्रयोग में लाये जाने वाले साधनः—

१—सारी कक्षा के सामने लज्जित करना।
२—शारीरिक दण्ड देना।
३—बालक को प्रधानाध्यापक के पास भेज देना।
४—कक्षा से कुछ दिन के लिये निकाल देना।
५—करने के लिये कुछ कठिन कार्य देना।
६—स्कूल-समय के बाद रोक रखना।

अवांछित साधन (जिनका बहुत कम प्रभाव पड़ता है):—

१—कुछ के अपराध के लिए सारी कक्षा को दण्ड देना।
२—हठात् क्षमा-याचना के लिये बालक को बाध्य करना।
३—धमकी देना।
४—कार्य करने से रोकना।
५—विषाक्त व्यंग करना।

हानिकर साधन (जिनका उलटा प्रभाव पड़ता है) :—

१—बालक का मजाक उड़ाना या बहुत घुड़कना।
२—अपशब्द कहना अथवा व्यक्तिगत दोषों की ओर बार-बार संकेत करना।
३—कोसना अथवा लज्जित करने के लिए अनुचित बातें कसना।

शिक्षक के व्यवहार व स्वभाव पर भी विनय-स्थापन बहुत कुछ निर्भर रहता है प्रायः यह देखा गया है कि एक ही प्रकार के साधन के अवलम्बन में अपने अनुभव पर एक शिक्षक विनय-स्थापन में सफल

अच्छे और बुरे साधन का निराकरण।

होता है और दूसरा असफल। सबसे अच्छा तो यही होगा कि शिक्षक अपने अनुभव से अच्छे अथवा बुरे साधन का निराकरण कर ले। पर सदा ऐसा सम्भव नहीं। अतः यहाँ कुछ ऐसे उपायों की ओर संकेत किया जाता है जिनका सहारा लेने से शिक्षक को विनय-स्थापन में सरलता हो सकती है :—

विनय-स्थापन के कुछ उपाय

१—अवसर पर बालक की प्रशंसा करना। यदि सम्भव हो तो स्कूल तथा उसके प्रतिनिधियों की भी प्रशंसा करना।

२—यदाकदा बालकों से उनकी रुचियों पर बात करना, पर उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध न स्थापित करना।

३—आवश्यकता पर बालक को उचित संकेत द्वारा सहायता देना। यह संकेत ऐसा हो कि बालक अपने उत्तरदायित्व को समझे।

४—बालक के स्कूल-कार्य में रुचि दिखलाना। दूसरी कक्षा में किये हुये उसके कार्य पर भी समय-समय पर आवश्यक बात कर लेना।

५—कहीं भी भेंट होने पर बालक से प्रसन्नचित्त होकर बोलना। उसके प्रणाम-संकेत का मुस्कराते हुये उत्तर देना।

६—बालकों से गप न मारना। उनसे बातचीत में मर्यादा का उलंघन न करना।

७—अपने व्यवहार और बातचीत में ईमानदारी का परिचय देना।

८—अपनी शक्ति के बाहर वचन देकर झूठा न बनना,

और बालकों को विश्वास देना कि शिक्षक के शब्द सदा विश्वसनीय होते हैं।

९—पहनावा ऐसा हो कि बालक उससे अरुचि न दिखलावें।

१०—दूसरे शिक्षकों की बालकों के सामने निन्दा न करना।

११—यथासम्भव स्कूल के कार्य में योग देना जिससे बालकों में शिक्षक के प्रति विश्वास आ जाय।

१२—बालकों के साथ ऐसा कोई व्यवहार न करना जिससे मालूम हो कि उन्हें लज्जित अथवा उनके साथ अन्याय किया जा रहा है।

१३—अपने सभी व्यवहार में ईमानदारी दिखलाना और गलती हो जाने पर उसे स्वीकार कर लेना।

१४—बालकों की सारी बात सुन लेना और पूर्ण अन्वेषण के बाद चतुरता से न्यायपूर्वक अपनी राय देना।

१५—बालकों से वाद-विवाद न करना। उनकी बात सुन लेना और तब अपनी सीधे-सीधे कह देना।

१६—कक्षा-कार्य इस प्रकार आयोजित करना कि कहीं भी समय गँवाने का अवसर न हो।

१७—कक्षा-कमरे का प्रबन्ध ऐसा हो कि हवा, प्रकाश गर्मी अथवा सर्दी के कारण बालकों का मन न उचटे।

१८—बात-बात पर तनक उठना ठीक नहीं। यदि किसी बात से कक्षा-कार्य में विशेष विघ्न न पड़े तो उसकी अवहेलना करना, पर ऊधम के संकेत को प्रारम्भ में ही दबा देना।

मनोवैज्ञानिक विधियों से विषय में बालकों की रुचि उत्प करना।

१९—कक्षा में ऐसे स्थान पर खड़ा होना कि सारे बालकों को सरलता से देखा जा सके। शिक्षक के खड़े होने से श्यामपट अथवा मानचित्र बालकों की दृष्टि से छिप न जाय।

२०—यह याद रहे कि जिस बालक की क्रिया से अविनय का संकेत मिलता है, वही सदा प्रधान दोषी नहीं होता।

२१—कक्षा में बालकों की व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार व्यवहार करना।

२२—जिस बालक में अविनय का चिह्न दिखलाई पड़े उसे योग्यतानुसार कुछ निश्चित कार्य देना।

२३—कक्षा में अविनय का अन्य शिक्षकों में विज्ञापन न करना। अवसर पर नीतिपूर्वक बर्तना। बाद में कुछ बालकों से आवश्यक बात कर कठिनाई को दूर करना।

इन कुछ उपायों के अतिरिक्त प्रधान बात तो है शिक्षक की तात्कालिक नीति-कुशलता। समय व परिस्थिति के अनुसार शिक्षक को शीघ्र व स्वयं अपनी कार्य-प्रणाली निर्धारित कर लेनी चाहिये :—

कक्षा में विनय-स्थापन के सम्बन्ध में जो कुछ ऊपर कहा गया है उसके आधार पर नीचे विनय-स्थापन के कुछ सिद्धान्तों का उल्लेख किया जा सकता है :—

विनय-स्थापन के सिद्धान्त

१—अवसर विशेष पर आत्म-संयम के आधार पर उचित रूप से बर्तना विनय की सच्ची परीक्षा है।

२—विनय-स्थापन के लिए निश्चित किए हुये नियम स्पष्ट हों और अवसर पर उनके प्रयोग में तनिक भी हिचकिचाहट न दिखलाना। यदि नियम में कुछ गलती मालूम हो तो उसे शीघ्र बदल देना।

३—अपराध के अन्वेषण में व्यक्तिगत भावों से प्रभावित न होना। सत्य का आदर करना। नियम के सामने सभी बालकों को बराबर समझना।

४—यदि अपराध का अन्वेषण और उचित दण्ड का निर्णय अवसर पर न हो सके तो रुक जाना। पर निर्णय हो जाने पर दण्ड शीघ्र दे देना।

५—बड़े बालकों को सबके सामने दण्ड न देना। दण्ड व्यक्तिगत और विश्वस्त हो।

६—निश्चित नियम के पालन में सभी शिक्षकों का एकमत होना। उसके बर्तने में सबको सहयोग देना।

७—दण्ड के निर्धारण में सम्भावित क्षति, बालक की अवस्था तथा भावी प्रभाव पर ठीक से ध्यान देना।

८—विनय-स्थापन में प्रत्येक शिक्षक को अपना-अपना उत्तरदायित्व समझना आवश्यक है। केवल एक के उद्योग से विनय-स्थापन सम्भव नहीं।

९—बालकों को उपदेश से उदाहरण अधिक अच्छा लगता है।

१०—स्वतः प्रेरणा से उत्पन्न विनय सर्वश्रेष्ठ होती है।

११—किसी स्कूल की विनय सम्बन्धी नीति का निर्माण छोटी कक्षाओं से ही धीरे-धीरे होता है। अतः प्रारम्भ से ही

उस पर ध्यान देना आवश्यक है। इस प्रकार एक विशिष्ट परम्परा को जन्म देना चाहिए।

१२—बालकों में उत्तरदायित्व ढोने की शक्ति उत्पन्न करना विनय-स्थापन का सरलतम साधन है।

सहायक पुस्तकें

१—डब्लू० एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग-अध्याय १, २, ३।

२—जेम्स वेल्टन—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड्स ऑव् टीचिङ्ग (१६२६)-पृष्ठ २६-२८, २६-३०।

३—ह्यु गूस—लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग-पृष्ट १६२-५, ३८८, ४३६-४१।

४—जे० एच० पेन्टन—मॉडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस ऐण्ड टेकनिक-पृष्ठ ७८, २६०, २६८।

५—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड् इन एडूकेशन-पृष्ट २४६-२८१।

६—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड प्रैक्टिस ऑव् टीचिङ्ग इन सेकेण्डरी स्कूल्स-पृष्ट ७०२-७१८।

७—टी० रेमॉन्ट—प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन-पृष्ट, ६३, १७६, ३४६

८—वार्ड ऐण्ड रॉसक्यू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग-अध्याय ५।

६—केनिथ एम० रोच—आइ वान्ट टु टीच-पृष्ट ३६-४४।

१०—जे० इड्स—फ़ॉर टीचर्स ऑव् टुडे—अध्याय ७।

११—ऑलसेन ऐण्ड अदर्स—स्कूल ऐण्ड कम्युनिटी-पृष्ट, ३६।

१२—सहाय ऐण्ड रॉबर्ट्सन—द साइन्स ऐण्ड आर्ट ऑव् टीचिङ्ग—पृष्ट, ४६७-४७२।

१३—ऐसेहेल डी० उडरफ—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिङ्ग-पृष्ट—५३, १४६।

१४—मरसेल जेम्स एल०—द साइकॉलॉजी ऑव् सेकेण्डरी स्कूल

टीचिङ्ग—अध्याय १६ ।

१५—स्कॉर्लिङ्ग, रैले—स्टूडेण्ट टीचिङ्ग—अध्याय ३ ।

१६—प्रेसी, एस० एल०—साइकॉलॉजी ऐण्ड द न्यू एड्रकेशन—अध्याय ६ ।

१७—गैरिसन, नोबुल ली—द टेकनिक ऐण्ड ऐडमिनिस्ट्रेशन ऑव् टीचिङ्ग—अध्याय १६ ।

१८—रिव्लिन' हैरी एन०—एडूकेटिङ्ग फ़ॉर ऐडजेस्टमेण्ट—अध्याय १३ ।

१९—स्ट्रक एफ० थ्योडोर—क्रिएटिव टीचिङ्ग-अध्याय ४ ।

२०—विकमैन, ई० के—चिल्ड्रेन्स बिहेवियर ऐण्ड टीचर्स ऐटीट्यूड्स ।

छठा अध्याय

पाठ के कुछ प्रकार

१—कुछ साधारण बातें:—

विभिन्न विधियाँ एक ही साध्य के साधन ।

शिक्षा आचार्यों ने शिक्षा की विभिन्न विधियों का उल्लेख किया है। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि ये विधियाँ एक ही साध्य के विभिन्न साधन हैं। सफल शिक्षक होने के लिये इन साधनों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा जाता है। परिस्थिति के अनुसार शिक्षक को इन सभी विधियों का अवलम्बन लेना पड़ता है। विज्ञान, इतिहास, गणित, भाषा तथा भूगोल आदि विषयों के अध्यापन में समयानुसार हमें विभिन्न विधियों की आवश्यकता होती है। शिक्षण-कला के पूर्ण ज्ञान वाला अध्यापक यह शीघ्र समझ लेता है कि 'कब किस विधि का सहारा लिया जाय। हमें बालकों को इस प्रकार शिक्षा देनी है कि उनका मन न ऊबे—विषय चाहे कितना ही कठिन क्यों न हो। इस अध्याय में हम यही देखेंगे कि वे विधियाँ कौन-सी हैं जिनसे पाठ्य-वस्तु बालक के लिए रोचक बनायी जा सकती है।

बालक के स्वभाव पर

हम पीछे कई बार संकेत कर चुके हैं कि शिक्षा में बालक का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। जो कुछ ज्ञान उसे देना है वह गौण है, सबसे प्रधान बालक ही है। अतः विषय को रोचक बनाने के

ध्यान देना, बालक 'करने' से सीखता है।

लिए सबसे पहले हमें बालक के स्वभाव पर ध्यान देना है। बालक का स्वभाव हर समय कुछ न कुछ करते रहना है। स्वस्थ अवस्था में वह कभी सुस्त नहीं बैठा रहता। शान्त होकर किसी बात के सुनने में उसकी कम रुचि होती है। अतः पहली बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि हम बालकों को क्रियाशील रखें। सब कुछ स्वयं कहते या करते जाना वर्त्तमान मनोवैज्ञानिक शिक्षण-विधियों का गला घोंटना है। बहुत से शिक्षक ऐसे होते हैं जो ग्रामोफोन के रेकार्ड की तरह बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। उन्हें अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन का अधिक मोह रहता है और बालकों को कुछ सिखाने का कम। शिक्षा देने का प्रधान ध्येय बालक के चरित्र का विकास करना है, अर्थात् उसे, रहना सिखाना है। बालक 'करने' से ही सीखता है, क्योंकि उसका स्वभाव ही क्रियाशीलता का द्योतक है। इसलिए ज्ञान उसे इस प्रकार देना है कि वह उसके अनुभव का अंग हो जाय, अर्थात् उसका वह दैनिक कार्य में उपयोग कर सके। किताबी ज्ञान का मूल्य बहुत कम होता है। वह बहुत दिन तक स्थिर नहीं रहता, क्योंकि उसका दैनिक जीवन से सम्बन्ध नहीं होता।

पुराने अनुभव का आधार, बालक बिना सोचे समझे कुछ नहीं करता, नये विषय को

हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही नया ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि नये ज्ञान का सम्बन्ध पुराने अनुभव से कुछ न हुआ तो वह समझ में न आयेगा। इसलिए मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि बालक की रुचि "शुद्ध नवीनता" में नहीं होती; अर्थात् उसे यदि कोई एकदम नवीन बात सिखलाई

मूलवृप्रत्त्यात्मक इच्छा का अंग बनाना।

जाय तो उसके समझ में न आयेगी। यदि नये ज्ञान को उसके पुराने अनुभव का एक अंग बना दिया जाय तो उसके लिए रुचिकर हो जायगा। बालक का सीखना स्कूल आने से बहुत पहले ही प्रारम्भ हो जाता है। बालक कोरी पटिया नहीं कि उस पर चाहे जो बातें लिख दी जाँय। बालक अपने विचार, बुद्धि और तर्क-शक्ति द्वारा स्वयं निर्णय करता है। इसीलिए तो इस काम को न कर वह उस काम को करता है। कुछ लोगों की धारणा है कि बालक अनुकरणशील होता है और बिना समझे बूझे दूसरों का अनुकरण किया करता है। पर ऐसा सोचना गलत है, क्योंकि बालक में एक प्रौढ़ व्यक्ति की सभी मानसिक शक्तियाँ वर्त्तमान रहती हैं। अन्तर केवल मात्रा का रहता है, प्रकार का नहीं। नए ज्ञान को यदि बालक के पुराने ज्ञान से सम्बन्धित न किया गया तो उसे नया ज्ञान देना व्यर्थ होगा। बालक अपनी मूल-प्रवृत्तियों के आधार पर कुछ अनुभव प्राप्त करता है। मूल-प्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति जिन बातों से होती है उसमें उसकी रुचि हो जाती है। अतः नए विषय को किसी न किसी प्रकार बालक की मूल-प्रवृत्त्यात्मक इच्छा का अंग बनाना आवश्यक है। शिक्षक बालक की युयुत्सा, जिज्ञासा, आत्म-गौरव, अथवा विधायकता मूल-प्रवृत्ति का सरलता से सहारा ले सकता है। बालक के विकास में मूल-प्रवृत्तियों का बड़ा भारी हाथ रहता है। आरम्भ में वह मूल-प्रवृत्त्यात्मक जीव होता है। अतः शिक्षक उसकी मूल-प्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की अवहेलना नहीं कर सकता।

प्रायः यह देखा जाता है कि शिक्षक बिना कुछ निश्चित

उद्देश्य लिए ही पढ़ाते चले जाते हैं। इससे यह मालूम होता है कि अध्यापन-कार्य में उनकी रुचि कम हो गई है और इसलिये पढ़ाने के पहले वे विषय की तैयारी नहीं करते। यदि प्रस्तुत विषय के पढ़ाने का उद्देश्य पहले से ही निश्चित कर लिया जाय तो अध्यापन बालकों के लिए निश्चय ही रुचिकर हो जायगा, क्योंकि तब उन्हें भी अपने परिश्रम का उद्देश्य ज्ञात रहेगा और वे स्वभावत: उसकी प्राप्ति की ओर अग्रसर होंगे। कभी-कभी ऐसा होता है कि बालक समझते ही नहीं कि वे क्या पढ़ रहे हैं और प्रस्तुत विषय का का ज्ञान उन्हें किस ओर ले जायगा। ऐसी स्थिति में वे कक्षा की पढ़ाई मे रुचि नहीं लेते। इसलिये पाठ का उद्देश्य बता देना बड़ा आवश्यक है। कुछ शिक्षक कहेंगे कि कभी-कभी विषय ऐसा होता है कि उसका उद्देश्य बतलाना कठिन है। कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं। प्रस्तुत विषय का मुख्य उद्देश्य बतलाने के प्रयत्न में पढ़ाने के लिए शिक्षक की पूरी तैयारी हो जाती है। यदि हम जानते हैं कि हम क्या करने जा रहे हैं तो हमारी उसमें अधिक रुचि हो जाती है। बालक भी अपने सामने एक निश्चित उद्देश्य चाहता है। उद्देश्य का ज्ञान होने से वह अपनी शक्ति उसके प्राप्ति के लिए केन्द्रित कर देता है।

पाठ का उद्देश्य बता देना आवश्यक।

शिक्षक को सबसे पहले पाठ्य-क्रम को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। यह सच है कि निर्धारित पाठ्य-क्रम में वह किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं ला सकता, पर निश्चित सीमा के अन्दर उसे उपयुक्त पाठ्य-वस्तु चुनने की

पाठ्य-क्रम अच्छी प्रकार जानना।

कुछ स्वतन्त्रता अवश्य होती है। बालकों के विकास के अनुसार वह किसी विषय का उद्देश्य अच्छी तरह निर्धारित कर सकता है और यह भी समझ सकता है कि किसी विषय को कितना पढ़ाया जाय। पर इन बातों को समझने के लिये उसे निम्नलिखित बातें जाननी आवश्यक है :—

१—बालकों की उम्र और उनकी शक्तियाँ।

२—उनकी रुचियाँ और आवश्यकताएँ।

३—कक्षा की कठिनाइयाँ और समस्यायें।

४—अध्यापक के लिए प्राप्त सहायक सामग्री।

५—पहले कितना काम हो चुका है।

६—आगे क्या काम करना है।

बालकों ने जितना काम कर लिया उससे यह न समझना चाहिये कि वह उन्हें अच्छी तरह आ गया है। इसलिये नया काम प्रारम्भ करने के पहले बालकों के पूर्व ज्ञान की परीक्षा कर लेनी चाहिए जैसे बिना दृढ़ नींव का भवन बाद में धराशायी हो जाता है उसी प्रकार पीछे का पाठ बिना अच्छी तरह सीखे आगे का पाठ पढ़ने से वांछित सफलता नहीं मिलती।

ऊपर हमने शिक्षण के कुछ साधारण सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। अब हमें यह देखना है कि किसी पाठ का संचालन शिक्षक को किस प्रकार करना चाहिये। पाठ-संचालन में लगने के पहले उसे ऊपर कही हुई बातों पर ध्यान दे लेना होगा।

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाठ तीन प्रकार के होते हैं :—(१) ज्ञान, (२) कौशल और (३) रसानुभूति सम्बन्धी। उदाहरणार्थ, इतिहास का ज्ञान, कौशल, और पाठ ज्ञान सम्बन्धी, चित्रकला अथवा

रसानुभूति सम्बन्धी पाठ। किसी विदेशी भाषा का सीखना कला सम्बन्धी और कविता का पाठ रसानुभूति सम्बन्धी कहा जा सकता है। इन तीनों प्रकार के पाठों के लिए विभिन्न प्रकार की विधि और दक्षता की आवश्यकता होती है। नीचे हम यही विचार करेंगे कि इन तीन प्रकार के पाठों को किस प्रकार पढ़ाना चाहिये।

२—ज्ञान का विकास

(डेवलेपमेण्ट ऑव् नॉलेज)

कुछ समय पहले बालक को ज्ञान देने की धुन में शिक्षक यह न देखता था कि बालक के लिए उस ज्ञान की उपयोगिता क्या है। वह यह भी न देखता था कि बालक की विकास-स्थिति उस ज्ञान को समझने योग्य है या नहीं। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली इन दोषों को दूर करने की चेष्टा करती है। अब यह समझा जाता है कि 'सीखना' केवल चुपचाप सुनकर 'स्वीकार' कर लेना नहीं है। जैसे घड़े में पानी डाल दिया जाता है, उसी प्रकार बालक के मस्तिष्क में ज्ञान नहीं डाला जा सकता, क्योंकि बालक क्रियाशील होता है। घड़े के समान वह जड़ पदार्थ नहीं। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में एक ऐसी लहर चल पड़ी है कि 'सीखने' में "बाल-क्रिया" (प्युपिल ऐक्टिविटी) प्रधान मानी जाती है। अब जो कुछ पढ़ाया जाता है उसमें यह ध्यान रखा जाता है कि बालक के वर्त्तमान और भावी जीवन से उसका सम्बन्ध क्या हो सकता है। तीसरे अध्याय में स्कूल-क्षेत्र के विवेचन में हम इस पर अच्छी तरह प्रकाश डाल चुके

सीखने में 'बाल-क्रिया' प्रधान, पढ़ने का वर्त्तमान और भावी जीवन से सम्बन्ध।

हैं। स्कूल के नये दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि ज्ञान का तात्पर्य वास्तविक अनुभव से है। गत पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर ज्ञान के विकास के कुछ साधारण नियमों का यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा :—

१—'ज्ञान सीखने की क्रिया' सीखने वाले की योग्यतानुसार होनी चाहिए।

२—सीखने की क्रिया का प्रकार प्राथमिक और माध्यमिक श्रेणियों में समान होता है। मस्तिष्क के विकास के अनुसार उसकी गहनता तथा मात्रा में कुछ भेद आ जाता है।

३—सीखने में सरल या स्थूल से गहन अथवा सूक्ष्म की ओर जाना चाहिए।

४—ज्ञान का विकास क्रमशः होता है। अतः एक अवस्था का विकास दूसरे से भिन्न होगा।

५—सीखने में 'अंश' का 'सम्पूर्ण' से सम्बन्ध की अवहेलना न करनी चाहिए, अन्यथा सीखने वाला उसके महत्त्व को समझ सकेगा।

उपर्युक्त बातों के स्वीकार कर लेने से आधुनिक शिक्षण-प्रणाली में पहले से बहुत अन्तर आ गया है। लगभग एक शताब्दी पूर्व शिक्षण-विधि कुछ और ही थी। तब पहले सिद्धान्त का उल्लेख कर दिया जाता था। इसके बाद पठन-पाठन की सारी क्रिया उस सिद्धान्त के समर्थन की ओर केन्द्रित की जाती थी। अब इस प्रणालो को सिद्धान्ततः मान्यता नहीं दी जातो। पर खेद है कि अब भी बहुत से ऐसे स्कूल हैं जहाँ परीक्षा के भार अथवा आवश्यक सहायक सामग्री के अभाव के

बालक के ज्ञान व अनुभव को सुसंगठित करना।

कारण इसी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। मनोवैज्ञानिक आन्दोलन से ज्ञान के विकास में अब बालक के निजी अनुभव को ही प्रधानता दी जाती है। यदि बालक के निजी अनुभव पर सब जोर देकर शिक्षक उसके सीखे हुये ज्ञान को संगठित करने का प्रयत्न न करे तो बालक का मानसिक विकास सुसंगठित न हो सकेगा। और बालक विभिन्न सीखी हुई बातों में कोई सम्बन्ध न समझेगा। विभिन्न अनुभव उसके लिए रुचिकर भले ही हों पर उसके मानसिक विकास में वे विशेष योग न दे सकेंगे। वस्तुतः हमारा उद्देश्य है बालक का मानसिक विकास इस प्रकार करना कि वह वातावरण से उत्पन्न परिस्थितियों का बुद्धिमानी से सामना कर अपना जीवन सुचारु रूप से चला सके "उसके पास जो विचार आवें उसके सौन्दर्य और शक्ति को वह समझ सके और समय पर उसका सदुपयोग भी कर सके।"*

शिक्षक का उत्तरदायित्व पहले से भारी।

हम ऊपर 'सीखने' में बालक के "स्वानुभव" का उल्लेख कर चुके हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि शिक्षक का कार्य पहले से हल्का हो गया वरन् पहले से उसका उत्तरदायित्व अब बढ़ गया है। उसे बालकों के सामने पाठ्य-वस्तु इस प्रकार रखनी है कि वे उसे सरलता से सीख सकें। इसलिए इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान आदि विषयों के विभिन्न तत्वों को इस प्रकार बालकों के समक्ष उपस्थित करना है कि उनमें ज्ञान का विकास मनोवैज्ञानिक क्रम से हो। उसे बालकों की विभिन्न रुचियों, आवश्यकताओं और शक्तियों का ज्ञान रखना है, जिससे वह उनके विकास को उसी प्रकार सुचारु रूप से संचालित कर सके

* प्रोफेसर ए० एन० ह्वाइटहेड—द एम्स ऑव् एडूकेशन।

जैसे माली बाग के विभिन्न पौधों की उनकी आवश्यकतानुसार देख रेख करता है। इस दृष्टि से शिक्षक का काम पहले से बहुत ही अधिक हो गया है।

"प्रो० ह्यूग्स का कहना है कि बालकों के सामने नया ज्ञान उपस्थित करने की दो विधियाँ हैं :— १—व्याख्या के आधार पर उनसे स्पष्ट कह देना, अथवा २—सारी बातें कह कर निष्कर्ष निकालने के लिए उन्हें उत्साहित करना। बालकों के दृष्टिकोण से ज्ञान या तो दूसरों से सीधे प्राप्त किया जा सकता है या अपने परिश्रम से उसे खोजना है।"* शिक्षा में इन दोनों प्रकार के अनुभवों का बहुत महत्त्व होता है और ज्ञान के विकास में परिस्थिति के अनुसार दोनों की आवश्यकता होती है। व्यक्ति का जीवन इतना छोटा होता है कि सब कुछ अन्वेषण द्वारा ही वह नहीं सीख सकता। दूसरों द्वारा सिद्ध की हुई अथवा कही हुई बातें उसे मान लेनी होंगी। हाँ, यह बात ठीक है कि जिसका स्वयं पता लगाया जाता है उसका प्रभाव स्थायी हो जाता है।

दूसरों के अनुभव से तथा स्वयं परिश्रम करके सीखना।

हरबार्ट के नियमित पद—ज्ञान सम्बन्धी पाठ में प्राधानतः प्रस्तावना, विषय-प्रवेश, आत्मीकरण, सिद्धान्त-निरूपण और प्रयोग नामक विधियों का सहारा लेते हैं। अंग्रेजी में इन्हें क्रमशः प्रीपरेशन, प्रेज़ेन्टेशन, एसोशियेशन, जनरलाइज़ेशन और अप्लीकेशन कहते हैं। हरबार्ट के अनुसार यही 'पाँच नियमित पद' (फाइव् फार्मल स्टेप्स) कहे जाते हैं। साहित्य

---

* ए० जी० ह्यूगस ऐण्ड ई० एच० ह्यूगस—"लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग"—पृष्ठ २२२

अथवा भाषा के पाठ में सिद्धान्त-निरूपण के स्थान पर 'विचार-विश्लेषण' रख लेते हैं। इतिहास अथवा भूगोल के पाठ में विचार-विश्लेषण न रखकर 'पुनरावृत्ति व श्यामपट-संकेत' रख लेते हैं। पढ़ाई हुई बात लड़कों की समझ में आयी कि नहीं इसकी परीक्षा करने के लिए प्रायः सभी प्रकार के पाठ में 'प्रयोग' के पहले पुनरावृत्ति (रीकैपीचुलेशन) विधि काम में लाई जाती है। नीचे हम उपर्युक्त प्रत्येक विधि पर अलग-अलग विचार करते हुये यह स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे कि ज्ञान-प्रधान पाठ का संचालन किस प्रकार करना चाहिए।

प्रस्तावना

ऊपर हम यह संकेत कर चुके हैं कि अध्यापन-कार्य प्रारंभ करने के पहले शिक्षक को यह जान लेना आवश्यक है कि बालकों की पहुँच कितनी है, अर्थात् उनका पूर्वज्ञान क्या है। बिना इस ज्ञान के शिक्षक पाठ में बालकों की रुचि जागृत करने में समर्थ न होगा। जब तक उनकी रुचि जागृत न होगी वे कुछ सीख न सकेंगे। स्पष्ट है कि किसी पाठ की सफलता शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों के सहयोग पर निर्भर है। "वह क्रिया जिससे शिक्षक को यह पता लगता है कि शिक्षार्थी क्या जानता है और शिक्षार्थी को है कि वह क्या नहीं जानता और जिसके फलस्वरूप शिक्षार्थी में आगे सीखने की इच्छा जागृत हो जाती है 'प्रस्तावना' कहते हैं।* हम ऊपर कह चुके हैं कि

शिक्षक का बालक के पूर्व अनुभव से परिचित होना आवश्यक, पूर्व-ज्ञान को जागृत करना, बालक की परिस्थिति में अपने को डालना।

* राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग—अध्याय २,

पाठ्य-विषय का जीवन से दैनिक सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में शिक्षक को बालकों के पूर्व अनुभव से भली भाँति परिचित होना चाहिए। यह मानी बात है कि प्रत्येक बालक का पूर्व अनुभव दूसरे से भिन्न होगा। पर शिक्षक को औसत रूप में कुछ ऐसा अवश्य अनुमान लगा लेना है जिसे लगभग प्रत्येक बालक जानता हो। जब तक शिक्षक यह समझ लेगा वस्तु-स्थिति को पकड़ने में वह समर्थ न होगा। वह जो कुछ कहेगा बालकों की समझ में न आयेगा। हम यह जानते हैं कि कुछ सीखने के पहले बालक अपने पूर्व अनुभव से उसका सम्बन्ध जोड़ना चाहता है। यदि शिक्षक उसके पूर्वज्ञान से परिचित न हुआ तो बालक यह सम्बन्ध न जोड़ सकेगा और उसकी समझ में कुछ भी न आयेगा। बालकों के पूर्व ज्ञान से परिचय प्राप्त करने में बहुत अधिक समय लगाना मनोवैज्ञानिक न होगा। यदि प्रस्तुत पाठ पुराने विषय का ही एक अंग है तो दो-तीन प्रश्न ही बालकों में नये पाठ के लिए उत्सुकता पैदा कर देने के लिए पर्याप्त होंगे। अधिक प्रश्न से उनका मन ऊब सकता है। जो कुछ पढ़ाना है उसके प्रत्येक अंग से बालकों के पूर्व अनुभव का सम्बन्ध जोड़ना युक्ति संगत न होगा। 'शिक्षक को बहुत ही संक्षेप में बालकों के पूर्व ज्ञान को जागृत करना चाहिए, जिससे वे प्रस्तुत पाठ के लिए शीघ्र तैयार हो जाँय। यदि शिक्षक अपनी कक्षा को जानता है तो वह इसे बड़ी सरलता और शीघ्रता से कर सकता है। कक्षा उसके लिए नई हो तो अपने दूसरे सहयोगियों से उसकी पूरी जानकारी उसे प्राप्त कर लेनी चाहिए। बालकों की स्थिति में अपने को डालकर शीघ्रता से पाठ को प्रारम्भ कर देना कुशल शिक्षक का चिह्न है। यह जानना कि विद्यार्थी कहाँ हैं और कहाँ पहुँचने

के लिए उन्हें प्रयत्न करना चाहिये अच्छे अध्यापन के दो आवश्यक लक्षण हैं।※

प्रस्तुत पाठ की तैयारी कभी-कभी बहुत लम्बी हो सकती है। उसके लिए बाहर घूमने जाने अथवा कई दिन तक पढ़ाते रहना आवश्यक हो सकता है। जब तैयारी के लिये बाहर जाना हो तो शिक्षक को विशेष सतर्कता से काम लेना चाहिए। किसी ऐतिहासिक वा भौगोलिक स्थान या फ़ैक्टरी आदि का काम देखना निश्चय हो तो शिक्षक को पहले से ही यह जानना चाहिए कि वह किन-किन बातों की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करेगा। शिक्षक का यह सोच लेना कि वह सब कुछ जानता है और अवसर पर वह सब कह लेगा कदाचित् बुद्धिमानी से खाली होगा।

यह जानना कि बालक का ध्यान किन-किन बातों की ओर आकर्षित करना है।

प्रस्तावना से हम बालकों को यह बतलाना चाहते हैं कि उनके पूर्व अनुभव के किस भाग को प्रस्तुत पाठ में अधिक आवश्यकता होगी। आधी भूली हुई बातें प्रस्तावना से याद करा दी जाती हैं। कभी-कभी उनका परस्पर सम्बन्ध भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। यदि शिक्षक उन्हें मनोवैज्ञानिक ढंग से जागृत कर सका तो नए पाठ के सीखने की आवश्यकता का महत्त्व भी उनकी समझ में आ जायगा। इसको समझ लेने से नए पाठ को सीखने के लिए वे उत्सुक हो जायेंगे। इस प्रकार शिक्षक

पूर्व अनुभव को मनोवैज्ञानिक ढंग से जागृत करना।

※ जे० वेल्टन, "प्रिन्सीपुल्स ऐण्ड मेथड्स ऑव् टीचिङ्ग" अध्याय ३-पृष्ट ५६-७

को यह निश्चय हो जायगा कि परिश्रम का अधिक से अधिक फल मिलेगा।

उद्देश्य कथन

प्रस्तावना समाप्त होने के बाद उद्देश्य का कहना आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि पाठ का मुख्य उद्देश्य क्या है। कौन सी नयी बात वह बालकों को बतलाने जा रहा है। इससे उसका पूरा परिचय होना चाहिए। कुछ शिक्षकों को इसका ज्ञान नहीं रहता। वे केवल यही जानते हैं कि आधा, एक या दो पृष्ट बालकों को पढ़ा देना है। अतः दो एक पृष्ट पढ़ा देना ही उनका उद्देश्य होता है। इसका अर्थ यह है कि वे पाठ की तैयारी नहीं करते और अध्यापन-कार्य में उनकी रुचि नहीं। शिक्षक के सदृश् शिक्षार्थी को भी पाठ का उद्देश्य जानना आवश्यक है। इसके ज्ञान से वे अपने परिश्रम को एक निश्चित उद्देश्य की ओर केन्द्रित करते हैं। उद्देश्य-कथन में कोई कठिनाई न होनी चाहिये। उद्देश्य तो प्रस्तावना के फलस्वरूप निकल आता है। अतः उसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर देना उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रस्तावना। कुछ ऐसे पाठ होते हैं जिनमें उद्देश्य का स्पष्ट शब्दों में कहना कठिन हो सकता है, क्योंकि उनमें बालकों को स्वयं कुछ बातों का पता लगाना होता है। पर यहाँ पर भी उन्हें यह जानना चाहिए कि वे किस बात का पता लगाने जा रहे हैं। रसानुभूति के पाठ में उनसे यह कहना मनोवैज्ञानिक नहीं कि वे किसी कविता अथवा चित्र के अध्ययन में क्या पायेंगे। ऐसा कह देने से उनकी रसानुभूति स्वतन्त्र न हो सकेगी। शिक्षक की भावनाओं के अनुसार ही वे सोचने लगेंगे।

शिक्षक और छात्र दोनों के लिए उद्देश्य जानना आवश्यक।

पर उनसे इतना कह देना चाहिए कि उन्हें पता लगाना है कि कविता अथवा चित्र के बारे में उनके विचार क्या हैं। इसी प्रकार किसी विज्ञान के पाठ में बालकों को यह न जानना चाहिए कि किसी परीक्षण का उद्देश्य क्या होगा। फल तो उन्हें स्वयं परीक्षण करके ही देखना होगा।

विषय-प्रवेश और आत्मीकरण

एक प्रकार से 'विषय-प्रवेश' और 'आत्मीकरण' में विशेष अन्तर नहीं, क्योंकि विषय-प्रवेश का विस्तृत-रूप ही आत्मीकरण होता है। भाषा अथवा साहित्य के पाठ में दोनों में कुछ भेद आ जाता है। पर यह भेद केवल नाममात्र का है। शिक्षक द्वारा आदर्श पाठ कर देने को विषय-प्रवेश का नाम दे दिया जाता है, और उसके बाद जो विस्तृत व्याख्या की जाती है उसे आत्मीकरण कहा जाता है। शिक्षक को यह पहले से ही निश्चित कर लेना चाहिए कि एक बार वह कितने शब्द, या वाक्य पद लेगा। यदि इस निश्चय के अनुसार कार्य सुगमता से न चल सके तो परिस्थिति के अनुसार उसमें परिवर्त्तन करने की भी उसमें चतुरता होनी चाहिए। आत्मीकरण के समय शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि पाठ छात्रों का है और उसका नहीं। इसे भूल जाने से वह बालकों की रुचियों की अवहेलना करके अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन में ही लग जायगा है। ऐसा करना घातक होगा। शिक्षक का स्थान केवल पथ-प्रदर्शक का है। छात्रों के असफल होने पर ही उसे सहायता देनी है। यदि कोई विचार बालकों को सीधे देना आवश्यक हुआ तो 'संकेत' और

शिक्षक अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन न करे, पाठ छात्रों का है, शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक।

'सहानुभूति' का आश्रय लेना होगा। "इसे प्यार करो और उसे घृणा"–ऐसा कहना मनोवैज्ञानिक नहीं। ऐसा कहने से बालकों का मानसिक विकास कुण्ठित हो जायगा। वे कही हुई बात को ही स्वीकार कर लेंगे और स्वयं कुछ न सोचेंगे। यदि शिक्षक किसी भावना की छाप छात्रों को देना चाहता है तो उसे अपने व्याख्यान में उस भावना का स्वयं पूरे हृदय से अनुभव करना चाहिए। यदि शिक्षक किसी भावना का अनुभव करता है तो उसका प्रभाव बालकों पर निश्चय ही पड़ेगा। संकेत मात्र से ही वांछित विचार बालकों के मस्तिष्क में घर कर लेंगे और बालक भी समझेंगे कि वे विचार उन्हीं के मस्तिष्क की उपज हैं। यदि ऐसी कल्पना देने में शिक्षक सफल हुआ तो बालकों में वे विचार स्थायी हो जायेंगे।

आत्मीकरण के स्थल पर शिक्षक को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि छात्र उसकी बात को कहाँ तक समझ रहे हैं।

इस पर ध्यान रखना कि छात्र कहाँ तक समझ रहे हैं।

यदि इस बात का पता इसी स्थल पर चतुरता से लगा लिया जाय तो बाद में सिद्धान्त-निरूपण अथवा पुनरावृत्ति के अवसर पर विशेष कठिनाई न होगी। ऐसा न करने से कभी-कभी पुनरावृत्ति के समय शिक्षक यह देखेगा कि उसका सारा परिश्रम व्यर्थ गया। पर यह समझने की चेष्टा में पाठ का क्रम न टूटने पावे। अच्छा होगा कि कमजोर व असफल छात्रों से दूसरों द्वारा दिए गये कुछ ठीक उत्तर को ही दोहरवाया जाय।

सिद्धान्त-निरूपण

"सिद्धान्त निरूपण" का रूप कई प्रकार का हो सकता है

और प्रत्येक पाठ में इसका होना आवश्यक भी नहीं। उदाहरणार्थ, साहित्य, भाषा, भूगोल, आदि के पाठ में 'सिद्धान्त-निरूपण' न सम्भव ही है और न आवश्यक 'सिद्धान्त-निरूपण' से यह ठीक-ठीक समझा जाता है कि पाठ्य-वस्तु को बालक कहाँ तक समझने में समर्थ हुये हैं। व्याकरण, गणित विज्ञान आदि के पाठ में सिद्धान्त-निरूपण सम्भव होता है। अतः इन पाठों में सिद्धान्त-निरूपण से बालकों की गलत धारणा ठीक हो जाती है। साहित्य, भूगोल और इतिहास के पाठ के अन्त में श्यामपट-संकेत अथवा साधारण व्याख्या द्वारा छात्रों के गलत विचारों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे सिद्धान्त-निरूपण छात्रों की सहायता से किया जाता है उसी प्रकार व्याख्या अथवा श्यामपट्ट-संकेत भी उन्हीं का कार्य होना चाहिए।

सदा सम्भव नहीं, छात्रों की सहायता द्वारा।

प्रयोग

शिक्षण में 'प्रयोग' का महत्त्व स्पष्ट है। सीखी हुई बातें यदि प्रयोग में नहीं लाई जा सकतीं तो उन्हें "सीखी हुई" कहना भ्रम है। प्रयोग से यह देखा जा सकता है कि निकला हुआ निष्कर्ष ठीक है वा नहीं। ज्ञान को स्थायी बनाने के लिए उसका प्रयोग करना आवश्यक है। अतः सीखी हुई बातों को प्रयोग में लाने के लिए बालकों को पूरा अवसर देना चाहिए। व्याकरण, गणित और विज्ञान में किए गए सिद्धान्त-निरूपण प्रयोग द्वारा परीक्षा करना आवश्यक है। इस परीक्षा से मस्तिष्क में सीखी हुई बात ठीक-ठाक जम

इससे ज्ञान दृढ़।

जाती है। भाषा में जो कुछ नये शब्द सीखे जाते हैं उनको प्रयोग करने का अवसर बालकों को देना चाहिए। भूगोल में जो नई बातें सीखी जाती हैं उनका मानचित्र पर भरना आवश्यक है। प्रयोग से बालकों का ज्ञान दृढ़ हो जाता है और आगे सीखने के लिए वे तैयार हो जाते हैं।

३—कौशल का विकास

(डेवेलपमेण्ट ऑव् स्किल)

ज्ञान के पाठ में बालक को किसी विषय के बारे में कुछ कुछ 'सीखना' पड़ता है। कौशल के पाठ में उसे सीखने के साथ ही साथ कुछ करना भी होता है।

कौशल के पाठ में कुछ 'करना'।

उदाहरणार्थ, हस्तकला सम्बन्धी सारे कार्य कौशल के हैं। लिखना, पढ़ना या नई भाषा का सीखना कौशल के अन्तर्गत आता है। कौशल के पाठ में बालक को एक निश्चित स्तर तक आना अपेक्षित होता है। इसमें उसे अपनी मनमानी करने की स्वतन्त्रता कम होती है। उदाहरणार्थ, उसे किसी शब्द को एक निश्चित ढंग से ही पढ़ना होगा। वह १, २, ३, ४, के स्थान पर १, ३, ५, ७, आदि कह कर नहीं गिन सकता। इस दृष्टिकोण से बालक इस प्रकार के पाठों में अपनी मौलिकता नहीं दिखला सकता। परन्तु चित्रकला तथा लेख आदि जैसे पाठों में वह अपनी मौलिकता अवश्य दिखला सकता है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि कोई बालक कितनी मौलिकता दिखला सकता है। इसमें व्यक्तिगत भिन्नता और किसी विशिष्ट कौशल की बात आ जाती है।

प्रस्तावना

प्रस्तावना के महत्त्व पर पीछे हम प्रकाश डाल चुके हैं।

कौशल के पाठ में भी इसका स्थान उतना ही महत्वपूर्ण है।

अनुकूल शारीरिक और मानसिक स्थिति में करना।

कोई भी पाठ पढ़ाने के पहले शिक्षक को यह देख लेना चाहिए कि बालक नए अनुभव को सीखने के लिए तैयार हैं। अतः पाठ आरम्भ करने के पहले बालकों को अनुकूल शारीरिक और मानसिक स्थिति में कर लेना आवश्यक है, जिससे जो कुछ सिखाया जाय उसका अपेक्षित फल मिल सके। जब कोई नई बात सिखानी हो तो छात्रों को उसके सीखने की आवश्यकता भली-भाँति समझा देनी चाहिए। पूर्व ज्ञान से पाठ को इस प्रकार सम्बन्धित करना है कि छात्र नयी बात के सीखने की आवश्यकता को समझ सकें, या उनके काम में कोई ऐसी कठिन समस्या उपस्थित कर देनी है जिसकी पूर्ति में वे नये कौशल को सीख लें। इन सब विधियों के प्रयोग में यह ध्यान रहे कि बालकों की रुचि के बाहर कोई बात न आ जाय।

उद्देश्य-कथन

प्रस्तावना के बाद शिक्षक को पाठ का उद्देश्य कह देना चाहिए जिससे छात्र जानते रहें कि उन्हें किस ओर परिश्रम करना है। इस बात को मनोवैज्ञानिक ढंग से कहने पर पाठ में छात्रों की रुचि अन्त तक बनी रहेगी।

विषय-प्रवेश

विषय-प्रवेश का रूप पाठ-पाठ के साथ भिन्न-भिन्न होगा। विज्ञान, अंकगणित, लेख, संगीत, हस्तकला आदि प्रकार के पाठों के विकास में भिन्नता होगी। सर्व-प्रथम बालकों को आवश्यक क्रिया दिखलाई जाती है। इस समय उन्हें उसे खूब

आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर रास्ता

दिखा देना, व्यक्तिगत ध्यान देना अधिक आवश्यक।

ध्यानपूर्वक देखना अथवा सुनना होता है। इसके बाद देखे अथवा सुने हुये आदेश के अनुसार उन्हें स्वयं करना होता है। इस प्रकार शिक्षक का काम केवल आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर देना है और थोड़ा सा रास्ता भर दिखला देना है। इसके बाद सारी क्रिया छात्रों को ही करनी है। कक्षा में सभी बालक समान योग्यता के नहीं होते। ऐसी स्थिति में शिक्षक का कार्य कुछ कठिन हो जाता है। उसे अपनी कक्षा का संगठन इस प्रकार करना चाहिए कि कमजोर छात्रों की ओर आवश्यकतानुसार वह कुछ विशेष ध्यान दे सके। जिन छात्रों को सहायता की विशेष आवश्यकता नहीं होती उन्हें उसी विषय सम्बन्धी किसी दूसरे कार्य में लगा देना चाहिए। इस प्रकार कुछ बालकों को अलग करके कमजोर बालक पर बहुत अच्छी प्रकार ध्यान दिया जा सकता है।

अभ्यास

जब कार्य करने की विधि छात्र की समझ में आ जाय तो उसमें उसे अभ्यास देना आवश्यक होगा। इस समय शिक्षक को यह देखना चाहिये कि छात्र ठीक अभ्यास कर रहा है। उदाहरणार्थ, यदि लिखने का अभ्यास हो रहा है तो यह जानना चाहिए कि छात्र ने कलम ठीक से पकड़ी है तथा पुस्तक और आँख में पर्याप्त दूरी रखी गई है। सस्वर-वाचन के अभ्यास में देखना होगा कि शब्दों का उच्चारण और विराम आदि पर छात्र उचित ध्यान दे रहा है। अभ्यास में सारा समय लगा देना ठीक नहीं। उचित समय-विभाजन पर भी शिक्षक

व्यक्तिगत आवश्यकतानुसार सहायता देना।

को ध्यान देना चाहिए। मामूली सी बात पर बहुत अधिक अभ्यास देना व्यर्थ होगा। अभ्यास के समय शिक्षक का प्रधान कार्य निरीक्षण करना और आवश्यकतानुसार यहाँ-वहाँ छात्रों को सहायता देनी है।

कौशल के पाठ में छात्रों को यह जानना आवश्यक है कि उनकी कितनी उन्नति हो रही है। इस ज्ञान से उन्हें आगे बढ़ने में बड़ी प्रेरणा मिलेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि उनकी शक्ति के अन्दर ही उनसे काम लिया जाय, जिससे उन्हें अपने परिश्रम से कुछ न कुछ सन्तोष मिलता रहे। यदि ऐसा न हुआ तो पाठ से उन्हें आनन्द न आयेगा। बिना समझे हुये अभ्यास कराना व्यर्थ होगा। कई बार दोहराते रहना अच्छा अभ्यास नहीं है। अभ्यास के समय विद्यार्थी की मानसिक अवस्था यदि अनुकूल नहीं तो सब कुछ व्यर्थ जायगा। मानसिक अवस्था को अनुकूल रखने के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी जो कुछ करें उसके करने की आवश्यकता वे अनुभव करें। परिश्रम का उद्देश्य उनके सामने निश्चित रूप से स्पष्ट होना चाहिए।

उन्नति का ज्ञान, 'करने' की आवश्यकता का अनुभव करना।

त्रुटि संशोधन

अभ्यास के बाद त्रुटि संशोधन की समस्या आती है। बहुत से शिक्षकों का अपने स्कूल-समय का काफी भाग विद्यार्थियों के लिखित कार्य को संशोधित करने में चला जाता है। कुछ अध्यापक तो इसे बड़ी ही ईमानदारी से करते हैं। पर इतना ध्यान देने पर

तात्कालिक सुधार सदा सम्भव नहीं, मनोवैज्ञानिक क्षण पर

ध्यान, त्रुटि-संशोधन को मौलिक अनुभव का अंग बनाना।

भी कभी-कभी यह देखा जाता है कि एक ही गलती लड़के बार-बार करते हैं। फलतः यह सन्देह होने लगता है कि कदाचित् त्रुटि-संशोधन करना व्यर्थ है। पर ऐसा सोचना ठीक नहीं, क्योंकि त्रुटि-संशोधन से तत्काल सुधार अपेक्षित करना अपने को निराश करना है। सुधार न होने पर त्रुटि-संशोधन को छोड़ना ठीक नहीं। यदि मनोवैज्ञानिक क्षण पर त्रुटि संशोधित की गई तो उसका सुधार अवश्य होगा। मनोवैज्ञानिक क्षण में ठीक अवसर शीघ्रता और बालक की रुचि आदि सभी बातें आ जाती हैं। डा०- मॉन्तेसरी इसी मनोवैज्ञानिक क्षण की प्रतीक्षा करने के लिए शिक्षक से कहती है। उसका कहना है कि यदि बालक की समझ में कुछ न आये तो इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक ने मनोवैज्ञानिक क्षण (साइकॉलॉजिकल मोमेण्ट) समझने में गलती की है; अर्थात् उसने बालक की रुचि, तात्कालिक मानसिक तैयारी व शक्ति की उपेक्षा की है। अतः उसके परिश्रम का अपेक्षित फल नहीं मिला। स्पष्ट है कि अपने परिश्रम का अधिक से अधिक फल पाने के लिए शिक्षक को मनोवैज्ञानिक क्षण का सदा ध्यान रखना चाहिए। त्रुटि पकड़ लेने पर जल्दी से जल्दी उसके संशोधन के लिए छात्रों से कहना चाहिए। लेख और अनुवाद की गलतियाँ छात्रों को यदि दो-तीन सप्ताह बाद सुधारने का अवसर दिया गया तो उससे कुछ लाभ होना सन्देहात्मक है। यदि त्रुटि-संशोधन को मौलिक अनुभव का ही एक अंग बना दिया जाय तो संशोधित बात बालक के मस्तिष्क में बड़ी जल्दी बैठ जायगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभ्यास के समय शिक्षक की उपस्थिति आवश्यक है,

जिससे सभी गलतियों को संशोधित कर दिया जाय। यथा सम्भव गलतियों का संशोधन बालकों से ही करवाना चाहिए। उनके असफल होने पर शिक्षक की सहायता आवश्यक है।

परस्पर-आलोचना का अधिक प्रयोग, शिक्षक सर्वश्रेष्ठ आलोचक।

परस्पर की आलोचना को भी त्रुटि-संशोधन का अब एक अच्छा साधन माना जाता है। इस साधन का उपयोग लेख, सस्वर वाचन, उच्चारण तथा संगीत आदि के पाठ में किया जा सकता है। इससे आलोचित और आलोचक दोनों को लाभ होता है। आलोचक को यह समझना पड़ता है कि किसी कौशल के प्रदर्शन में किन-किन बातों पर ध्यान दिया जाता है। आलोचित यह जान जाता है कि उसने कहाँ गलती की। इस प्रकार दोनों को ठीक वस्तु का ज्ञान हो जाता है। पर इस विधि का अधिक प्रयोग ठीक नहीं, क्योंकि इससे कुछ बालकों में आत्महीनता की भावना आ सकती है और कुछ डर के मारे अपनी अच्छी बातों को भी बतलाने में संकोच करेंगे। वस्तुतः शिक्षक ही सर्वश्रेष्ठ आलोचक कहा जा सकता है।

विश्राम-काल की उपयोगिता।

कौशल के पाठ में शिक्षक को ध्यान रखना चाहिए कि छात्र अभ्यास करने में बहुत थक न जाँय। 'सीखना-क्रिया' केवल अभ्यास-काल तक ही सीमित नहीं रहती। कुछ लोगों की धारणा है कि सीखने की क्रिया के समाप्त हो जाने पर भी अनजान में व्यक्ति सीखी हुई बात को अपने मस्तिष्क में बैठाता रहता है। कुछ लोग इस धारणा के विपक्ष में हैं। इन दो धारणाओं के मतभेद से

अध्यापन व अभ्यास क्रिया का विशेष सम्बन्ध नहीं। पर दोनों पक्षों का यह मत है कि अभ्यास-क्रिया के बाद विश्राम-काल सीखने में बड़ा ही सहायक होता है। विश्राम के बाद विद्यार्थी अपने पाठ को अधिक स्फूर्ति से सीखते हैं।

व्यक्तिगत भेद के कारण मनुष्य के सीखने के लिए कोई एक सामान्य नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता। इस दृष्टि से शिक्षा को मनोवैज्ञानिक बनाने के लिए गत शताब्दियों में जितने प्रयत्न किए गए विफल रहे। इसलिए ऊपर जो कुछ कहा गया है उस पर 'लकीर के फकीर' के समान चलना हानिकारक है। बालकों के व्यक्तिगत भेद के अनुसार निर्धारित नियमों में परिवर्तन और सुधार करने की स्वतन्त्रता और क्षमता का शिक्षक में होना आवश्यक है। व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार ही बालकों को काम देना चाहिए। यह बात इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इस पर ऊपर कई बार संकेत किया गया है। यदि किसी बात के सीखने में कोई बालक दूसरों से अधिक समय लेता है तो उससे सहानुभूति दिखलाना आवश्यक है। उसकी हँसी उड़ाना या हतोत्साह करना अमनोवैज्ञानिक है। इससे व्यक्तित्व–विकास कुण्ठित हो जाता है और बालक में आत्महीनता की भावना आ जाती है।

व्यक्तिगत भेद के अनुसार सीखने का नियम बनाना कठिन, निर्धारित नियमों में परिवर्तन करने की शिक्षक में क्षमता।

कौशल के पाठ में जिन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए उनका उल्लेख नीचे किया जाता है।

१—कार्य को ठीक प्रकार प्रारम्भ करना बड़ा आवश्यक है। यदि प्रारम्भ अच्छा न हुआ तो बाद में बड़ी कठिनाई पड़ेगी। पहले गति (स्पीड) पर ध्यान न देकर रूप (फॉर्म) पर ध्यान देना चाहिए। किसी बात को सीखने के लिए केवल अभ्यास ही पर्याप्त नहीं। अभ्यास के साथ यह भी देखना चाहिए की उसकी विधि भी ठीक है, अन्यथा परिश्रम का समुचित फल न मिलेगा, और साथ ही कुछ गलत आदतों के पड़ने का भय भी रहेगा। उदाहरणार्थ, टाइप-राइटिङ्ग के पाठ में यदि प्रारम्भ ठीक न किया गया तो गलत आदत पड़ जायगी, और अँगलियों को ठीक रास्ते पर लाना कठिन हो जायगा।

ठीक प्रारम्भ, पहले रूप पर ध्यान, ठीक विधि।

२—सीखने वाले की मनोवृत्ति का सीखने पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पाठ में रुचि रहने से विद्यार्थी लगातार इस चेष्टा में रहता है कि दिन पर दिन उसकी उन्नति हो। कुछ-शिक्षकों की धारणा है कि रुचि के अभाव में भी अभ्यास से कोई चीज बहुत अच्छी तरह सीखी जा सकती है। इसके विपरीत कुछ का मत है कि रुचि ही प्रधान है और अभ्यास गौण है। वस्तुतः किसी एक ही पर बल देना अमनोवैज्ञानिक होगा। कोई चीज सीखने के लिए तो रुचि और अभ्यास दोनों की आवश्यकता होती है, रुचि के अभाव में अभ्यास के फलस्वरूप सफलता की भावना देकर शिक्षक पाठ में बालकों की रुचि उत्पन्न कर सकता है।

रुचि और अभ्यास दोनों आवश्यक।

३—किसी कौशल के सीखने में अनावश्यक को छोड़ प्रधान गतियों पर ध्यान देना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यहाँ एक प्रश्न यह

उठता है कि किसी कौशल के सीखने के लिए अनावश्यक गतियों के छोड़ने पर विशेष ध्यान देना चाहिए, अथवा 'प्रधान' पर ध्यान केन्द्रित करने पर। वास्तव में प्रधान गतियों पर ही विशेष ध्यान देना ठीक होगा। ऐसा करते रहने से अनावश्यक गतियाँ स्वत: छूट जाँयगी। यदि साइकिल चढ़ने वाला खम्भे से न भिड़ने की बड़ी चेष्टा में रहता है तो वह प्राय: उससे भिड़ ही जाता है। इसके विपरीत ठीक रास्ते पर चलने पर ध्यान केन्द्रित करने से वह सफल हो जाता है। "गलती न हो जावे" ऐसा सोचते रहने से विरुद्ध—संकेत का फल होता है और जो न करना चाहिए वही हम बहुधा कर बैठते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। अत: "क्या न करना चाहिए" न बता कर यदि छात्रों को यही बताया जाय कि "क्या करना चाहिए" तो अधिक लाभप्रद होगा। यदि बालक की कुछ बुरी आदत पड़ गई है तभी उससे यह कहा जा सकता है कि क्या न करना चाहिए, क्योंकि बुरी आदत को छुड़ाने के लिए ऐसा कहना आवश्यक है।

'प्रधान गतियों' पर ध्यान देना।

४—यथा सम्भव अभ्यास उसी परिस्थति में करने की चेष्टा करनी चाहिए जिसमें आगे चलकर उस कौशल का उपयोग हो। इस सिद्धान्त की अवहेलना करने से बहुत समय और शक्ति का अपव्यय होता है। टुकड़े-टुकड़े में बहुत देर तक अभ्यास करते रहना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि इससे मानसिक संगठन के बनने में बड़ी देर लगती है और कभी-कभी इसमें देर होने के कारण बालक की रुचि के भी लोप हो जाने

टुकड़े-टुकड़े पर बहुत देर तक अभ्यास न करना, दिन में कई बार अभ्यास करना।

का भय रहता है। सम्पूर्ण गति का भी अभ्यास अधिक देर तक न करना चाहिये। दिन में कई बार अभ्यास करना एक ही बार अधिक देर तक करते रहने की अपेक्षा कहीं अच्छा है।

४—रसानुभूति का पाठ
(ऐप्रीशिएशन लेसन)

संगीत, साहित्य व कला का मान, शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण, संवेगात्मक शक्तियों का विकास।

ऊपर कहा जा चुका है कि रसानुभूति के पाठ में साहित्य, कला अथवा संगीत के कुछ भाग को समझने में बालक को समर्थ किया जाता है। पहले संगीतज्ञों और कवियों के प्रति जन साधारण का का अच्छा रुख न था। वे पौरुषहीन कहे जाते थे। उनके प्रति लोगों की विचित्र धारणा थी। उन्हें लोग जीवन के साथ खेलने वाले जीव समझते थे। पर अब ऐसे मत में एकदम परिवर्त्तन आ गया है। अब उनके कार्य के मानवी गुण को लोग समझने की चेष्टा करते हैं और मानव जीवन के उत्थान में उनका भी एक हाथ माना जाता है। अब सौन्दर्य-प्रेम दिखलाना पौरुष-हीनता नहीं समझी जाती। अतः आज शिक्षा क्षेत्र में भी इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है और यह विषय विचार-णीय हो जाता है कि बालकों में साहित्य, कला व संगीत के प्रति कैसे प्रेम करना उत्पन्न किया जाय कि कोमल भावनाओं के प्रति उनका अनुराग हो जाय। मनोविज्ञान के अनुसार बालकों को रसानुभूति करने के योग्य बनाने के लिए कोई विशेष विधि नहीं। तथापि कुछ ऐसी विधियों का उल्लेख किया गया है। इनमें कुछ तो अपना कार्य कर तो जाती हैं और कुछ का फल उलटा ही होता है। इसलिए रसानुभूति के पाठ में शिक्षक का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण

है। अतः शिक्षक के व्यक्तित्व के कारण एक ही विधि सफल और असफल दोनों हो सकती है। अतः रसानुभूति का पाठ सभी पाठों से क्लिष्ट है। इसका संचालन अनुभवी अध्यापक ही कर सकता है। गणित अथवा इतिहास के पाठ की तरह "रस" (टेस्ट) नहीं पढ़ाया जा सकता। इसमें तो सारा कार्य इस प्रकार संचालित करना है कि छात्र "रस" का अनुभव स्वयं करें। यह तो स्वतः प्रेरणा की वस्तु है। इस प्रेरणा को जागृत करने के लिए हमें उसमें कुछ संवेगात्मक शक्तियों (इमोशनल फ़ोर्सेज) का विकास करना होगा।

रसानुभूति में वातावरण का प्रभाव:— बालक के विकास में वातावरण का बड़ा भारी हाथ होता है। वातावरण के ही कारण कुछ बालकों में दूसरों की अपेक्षा संगीत, साहित्य व कला के प्रति अधिक प्रेम दिखलाई पड़ता है। उचित वातावरण के उपस्थित करने में शिक्षक काफी योग दे सकता है। हर एक काम सुन्दर ढंग से करने के लिए कहना भी बालकों को सौंदर्य-प्रेम की ओर कुछ झुका सकता है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षक को न भूलना चाहिए कि वह भी वातावरण का एक अङ्ग ही है। वह अपने रहन-सहन व ढंग से बालकों में ऐसी आदत डालने में समर्थ हो सकता है जो उनमें सौन्दर्य-प्रेम उत्पन्न करने में सहायक हो सकती हैं। शिक्षक का ढंग ऐसा हो कि बालक अनजान में ही उसकी अच्छी आदतों को ग्रहण कर ले। इसमें अप्रत्यक्ष निर्देश बड़ा सहायक होता है। प्रत्यक्ष निर्देश देने में कभी कभी विरुद्ध-संकेत का फल हो जाता है और

वातावरण का स्थान, अप्रत्यक्ष निर्देश, बालकों में सौन्दर्य प्रेम का बीज वर्तमान, अनुभूति की ही बातें कहना।

बालक की क्रिया वांछित दिशा के प्रतिकूल होती है। बालकों में किसी वस्तु के लिए अनुराग उत्पन्न करना बड़ा ही कठिन काम है। इसमें बालकों के स्वभाव व रुचि का पूरा ज्ञान आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिए कि शोर मचाना बालकों का स्वभाव है और खेल के मैदान अथवा कक्षा में अवसर पाने पर वे इससे न चूकेंगे। इससे शिक्षकों को चिढ़ना न चाहिए। थोड़ी सी चेतना आ जाने से ही बालक भद्दे और सुन्दर के प्रति अपनी मुख-मुद्रा अथवा शब्द से उसके प्रति अपने भाव प्रकट कर देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बालकों में सौन्दर्य-प्रेम का बीज वर्तमान रहता है। उचित वातावरण के आयोजन से उस बीज को अंकुरित करने और बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस के लिए यह आवश्यक है कि बालकों के ऊपर कोई विचार जबरदस्ती न लादा जाय। ऐसे विचारों का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा। अपना विचार देते समय शिक्षक को यह कह देना चाहिए कि वे उसके विचार हैं। बालकों को अच्छी तरह समझा देना उचित है कि भली-भाँति समीक्षा कर लेने पर ही उन्हें किसी विचार को स्वीकार करना चाहिए। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि जिन बातों में उसका विश्वास न हो अथवा जिन्हें उसने स्वयं अच्छी प्रकार न समझ लिया हो, उनका उल्लेख वह बालकों के सामने न करे—अन्यथा विरुद्ध-संकेत के प्रभावस्वरूप बालकों में उनके प्रति अरुचि पैदा हो जायगी। इस प्रकार उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से रसानुभूति के अनुकूल वातावरण का सृजन किया जा सकता है।

रसानुभूति के पाठ का ठीक संचालन आनन्द और खेल की मुद्रा में होता है। अतः इसे अन्य पाठों की तरह

हरबार्ट के नियमित पदों के अन्दर ठीक बाँध नहीं सकते, तथापि प्रस्तावना, विषय-प्रवेश, अभ्यास और पुनरावृत्ति का उल्लेख इसमें भी किया जा सकता है। इन्हीं सब पदों पर नीचे हम अलग अलग विचार करेंगे।

हरबार्ट के नियमित पदों में क्रमबद्ध करना सरल नहीं।

प्रस्तावना

जिस पाठ की रसानुभूति शिक्षक बालकों से कराना चाहता है—उसका उसे पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। कभी-कभी विषय-ज्ञान होते भी शिक्षक अपनी किसी विशिष्ट रुचि के कारण बालकों को उसकी रसानुभूति नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में शिक्षक को उस पाठ का संचालन न करना चाहिए, क्योंकि वह बालकों को रसानुभूति के पथ पर लाने में समर्थ न हो सकेगा। रसानुभूति-पाठ के संचालन के पूर्व शिक्षक को उसके लिए समुचित वातावरण का आयोजन कर लेना आवश्यक है। बाह्य वस्तुओं से बालकों का ध्यान इधर-उधर डिग न जाय इसका भी शिक्षक को ध्यान रखना है। अतः उसे हर समय विभिन्न सरस रुचियों के आधार पर बालकों का ध्यान पाठ की ही ओर आकर्षित करते रहना है। इसके लिए, जैसा ऊपर कहा गया है, शिक्षक को संकेत-शक्ति का सहारा लेना होगा। शिक्षक को छात्रों की शक्तियों और कमजोरियों का ज्ञान होना चाहिए, जिससे वह समझ सके कि छात्र कैसे पाठ का रसानुभूति कर सकते हैं। स्पष्ट है कि प्रस्तुत पाठ का सम्बन्ध बालक के पूर्व ज्ञान से इस प्रकार जोड़ना है कि वह उनके लिए एकदम नया न मालूम हो।

समुचित वातावरण उपस्थित करना, जीवन से सम्बन्धित बातों का उल्लेख, छिपे भाव की ओर संकेत करना।

यथासम्भव जीवन के अनुभव से सम्बन्धित बातों का उल्लेख समयानुसार करते रहना चाहिए। ऐसा करने से प्रस्तुत विषय को बालक अच्छी प्रकार समझते जाँयगे। पाठ में आये हुए कठिन शब्द और अलंकार आदि का अर्थ एक दिन पहले ही बतला दिया जाय तो अच्छा है, क्योंकि शब्दार्थ और रसानुभूति साथ ही साथ नहीं चल सकते। रसानुभूति के पाठ में शब्दों का अर्थ नहीं बताया जाता, वरन् उनमें छिपे हुये भाव की ओर संकेत किया जाता है। शब्दार्थ बतलाने की धुनि में रसानुभूति गौण पड़ जायगी। जिस पद में बहुत कठिन शब्द हों उसे रसानुभूति के पाठ में रखना ही गलत है। जिस पद में सरल-सरल शब्द होते हैं उन्हीं की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रसानुभूति की ओर कराई जा सकती है। उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह हुआ कि रसानुभूति के पाठ में हमें दो बातों पर ध्यान देना है :—१—छात्रों को रसानुभूति के लिए तैयार होना चाहिए; और, २—पाठ का संचालन इस प्रकार किया जाय कि छात्र उसका आनन्द ले सकें।

रसानुभूति के पाठ में "प्रस्तावना" का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। ऊपर हम अनुकूल वातावरण का उल्लेख कर चुके हैं। वातावरण के अन्तर्गत कक्षा की स्थिति और बालकों की मुद्रा का भी तात्पर्य समझ लेना चाहिए। यदि कमरा बहुत गर्म अथवा ठण्डा है; या लड़के यदि बहुत थके हुए हैं तो रसानुभूति का पाठ सफल न हो सकेगा। क्या ही अच्छा होता यदि कक्षा का वातावरण ही संकेतात्मक हो। इसीलिए तो नाट्यशाला और सिनेमाघरों में भाँति-भाँति के सुन्दर चित्र

कक्षा की स्थिति और बालकों की मुद्रा, अनुकूल वातावरण।

बने और टँगे रहते हैं। यदि प्राकृतिक शोभा से सम्बन्धित पाठ हुआ तो उसे तत्सम्बन्धी वातावरण अर्थात् बाग, नदी, मैदान आदि के समीप बालकों को ले जाकर उन्हें आवश्यक आनन्द व अनुभूति की प्रेरणा देनी चाहिए। इस प्रेरणा से उनका मानसिक विकास वांछित दिशा की ओर अग्रसर होगा। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यह ठीक है कि ऐसा सदा सम्भव नहीं। पर यहाँ आदर्श की ओर संकेत कर देना अनुपयुक्त न होगा। बाग आदि के स्वाभाविक वातावरण का कुछ आभास देने के मिस कक्षा में फूलों व डालियों आदि का सुन्दर ढंग से सजा देना भी कुछ सहायक हो सकता है। ऐसे ही कुछ चित्रों को भी लाकर उपस्थित करना अमनोवैज्ञानिक न होगा। पर यह ध्यान रहे कि इन फूलों, डालियों और चित्रों से कक्षा का वातावरण इतना कृत्रिम न हो जाय कि बालक पाठ की ओर ध्यान न देकर उन चित्रों की ही ओर आकर्षित होता रहे। उपर्युक्त ढंग के अनुसार वातावरण की तैयारी बालकों को मूक शब्दों में बतलायेगी कि कुछ प्रासंगिक बात होने वाली है। इस प्रकार पाठ के लिए वे उत्सुक हो जायेंगे।

वातावरण को इस प्रकार उपयुक्त बनाने के अतिरिक्त शिक्षक अपनी वाणी द्वारा भी बालकों में पाठ के लिए अनुकूल मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकता है।

शिक्षक का भाग। किसी स्थल पर उसे अन्तर्गत कथा की ओर संकेत करना होगा, कहीं उसे अपने ही अनुभव का विवरण देना आवश्यक हो सकता है, तो कहीं पर प्रश्नों द्वारा बालकों के पूर्वज्ञान को ही जागृत करना अनुकूल दिखलाई पड़ सकता है। इस प्रकार विविध ढंगों से शिक्षक को रसानुभूति के पाठ की तैयारी करनी होगी।

विषय-प्रवेश

प्रस्तावना के बाद विषय-प्रवेश की समस्या आती है। यथा-सम्भव विषय-प्रवेश का ढंग कलात्मक हो। इस स्थल पर शिक्षक को लेखक अथवा कवि के भावों का सफल अभिनय करना चाहिए। इसके लिये लम्बे-लम्बे वक्तव्य देना आवश्यक है। यदि शिक्षक लेखक की बात को समझता है और प्रकाशित भावों का स्वयं अनुभव करता है तो उनका बालकों पर वांछित प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। यह बात विस्तृत व्याख्या के समय ही लागू नहीं, वरन् आदर्श पाठ के समय भी यह अक्षरशः सत्य है। यदि कवि के भावों के प्रति सहानुभूति अथवा तादात्म्य का अनुभव करते हुये आदर्श पाठ किया गया तो आधी विजय वहीं हो जाती है। एक वातावरण उपस्थित हो जाता है, बालकों के कान खड़े हो जाते हैं, और उनकी रुचि पाठ के अन्त तक बनी रहती है। आदर्श पाठ के बाद विस्तृत व्याख्या का नम्बर आता है। वस्तुतः यह भी विषय-प्रवेश का ही एक अंग है। यदि ऊपर कही हुई बातों के अनुसार कक्षा का वातावरण अनुकूल हुआ तो प्रस्तुत विषय पर लड़के अपनी सम्मति देने में नहीं हिचकेंगे। शिक्षक की बात पर वे आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। बालकों को अपने भाव-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त अवसर देना रसानुभूति पाठ का प्राण है। यदि इसमें शिक्षक उन्हें उत्साहित कर सका तो बालक अवश्य ही रसानुभूति में

कवि के भावों के प्रति शिक्षक की सहानुभूति और तादातम्य, आदर्श पाठ, बालकों को अपने भाव-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त समय देना, तुलनात्मक अध्ययन, अपनी मानसिक अनुभूति।

सफल होंगे। यदि बालक भाव-प्रकाशन में संकोच दिखा रहा है तो उसके लिये उसे विवश करना अमनोवैज्ञानिक होगा। सहानुभूति दिखलाने से ऐसे बालक भविष्य में भाव-प्रकाशन सरलता से कर सकते हैं। लेखकों और कवियों का तुलनात्मक अध्ययन भी रसानुभूति में सहायक होता है। कभी-कभी दूसरी भाषा के लेखकों व कवियों का उदाहरण भी अप्रासंगिक न होगा। पाठ का संचालन इस प्रकार करना है कि बालक अपनी सम्मति पक्ष या विपक्ष में शिक्षक के भावों से प्रभावित होकर न दें। उन्हें अपने भाव-प्रकाशन अपनी अनुभूति के आधार पर करना है। शिक्षक की बातों को दोहरा देने से तो अच्छा यह है वे एकदम चुप रह जाँय या यह कह दें कि उनकी समझ में कुछ नहीं आता। "आनन्द तो अपनी मानसिक अनुभूति की वस्तु है। यह शिक्षक की आज्ञा का फल नहीं हो सकता। बालकों की मुद्रा का अध्ययन आवश्यक है। उनकी मुद्रा से जिसका आभास नहीं मिलता उसके प्रकाशन के लिए प्रश्नों का सहारा लेना भ्रम है। इससे पाठ में बालकों की सारी रुचि लुप्त हो जाती है और बालकों में थकान आ जाती है। कुछ बालक अपने भाव-प्रकाशन में बड़ा संकोच करते हैं। बालक कुछ नहीं कहता तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसे कुछ नहीं आता। रसानुभूति उस कोमल पौधे के समान है जिसके लिए बड़ी सहानुभूति और सतर्कता की आवश्यकता है।"※

छोटे बालकों के साथ विशेषकर संवेगात्मक भावनाओं का ही सम्बन्ध रखना ठीक होगा। पर कुछ बड़े बालकों के

※ पिनसेण्ट—"द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग मेथड", पृष्ठ २४६

विकास अवस्था पर ध्यान।

साथ बौद्धिक विषयों की भी चर्चा छेड़ी जा सकती है। लेखक, कवि अथवा संगीतज्ञ की शैली और छन्द पर विवेचना करना उनके लिये अनुपयुक्त न होगा।

अभ्यास

स्वयं रचना करने के लिये छात्रों को उत्साहित करना।

कुछ लोगों की धारणा है कि जो लोग स्वयं कविता करते, लिखते अथवा चित्र बनाते हैं वे औरों की अपेक्षाकृत पद्यांश, गद्यांश अथवा चित्र का रसास्वादन अधिक सरलता से कर पाते हैं। यह बात कुछ हद तक ठीक भी है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि दूसरे रसास्वादन में असफल रहते हैं। तथापि अच्छा होगा यदि बालकों को गद्य, पद्य तथा चित्र की रचना करने के लिये उत्साहित किया जाय। इसमें कुछ सफलता मिल जाने से बालक निश्चय ही किसी कला की रसानुभूति शीघ्र कर सकेंगे। छोटे व बड़े सभी बालकों को उनकी शक्ति के अनुसार इसके लिये उत्साहित किया जा सकता है। बालक का प्रयत्न कितना ही बुरा क्यों न हो, पर शिक्षा-दृष्टि से उसका महत्त्व बड़ा भारी है। वह उसकी रसानुभूति में अवश्य ही सहायक होगा।

पुनरावृत्ति

अब पुनरावृत्ति की बारी आती है। प्रायः सभी पाठों में इसकी आवश्यकता होती है। इससे शिक्षक को अपनी सफलता का कुछ अनुमान मिल जाता है। दूसरे, इससे पाठ के आवश्यक अंगों पर बालकों का ध्यान फिर आकर्षित हो जाता है। इस प्रकार स्मृति में भी इससे कुछ सहायता मिलती है।

रसानुभूति के पाठ में भी पुनरावृत्ति का यही उद्देश्य होगा। यहाँ पर कुछ ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनसे यह पता चल जाय कि विषय को बालक कहाँ तक समझ सके हैं।

सहायक पुस्तकें

१—जे० एच० पैन्टन—माडर्न टीचिङ्ग प्रैक्टिस एण्ड टेकनिक—अध्याय ५–६
२—विद्‌रिङ्गटन, एच० सी०—द प्रिन्सीपुल्स आव् टीचिङ्ग
३—बर्टन, विलियम एच०—द गाइडेन्स आव् लर्निङ्ग एक्टीविटीज़—अध्याय ३
४—लैन्सेलॉट—परमानेन्ट लर्निङ्ग—अध्याय २, ६
५—डेविस, राबर्ट ए०—साइकॉलॉजी आव् लर्निङ्ग—अध्याय ६
६—स्ट्रक, एफ़० थ्योडोर—क्रिएटिव् टीचिङ्ग
७—किंग्सले हावर्ड एल०—द नेचर ऐण्ड कण्डीशन आव् लर्निङ्ग—अध्याय ६
८—ओपडाइकजार्ज हावर्ड—आर्ट एण्ड नेचर आव् एप्रीसिएशन
९—प्रेसकॉट, डी० ए०—इमोशन एण्ड द एडूकेटिव् प्रोसेस
१०—स्मिथ, रीड—द टीचिंङ्ग आव् लिटरेचर इन हाई स्कूल—अध्याय १०
११—डब्लू एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स आव् टीचिंङ्ग—पृष्ठ २४–४२

सातवाँ अध्याय

कुछ शिक्षण-सूत्र-वाक्य और विधियाँ

(क) शिक्षण-सूत्र-वाक्य

शिक्षण में सहायक।

शिक्षण-शास्त्र में कुछ सूत्र बड़े प्रचलित दिखलाई पड़ते हैं। उदाहरणार्थ, सरल से जटिल की ओर (फ्रॉम सिम्पुल टु कॉम्प्लेक्स), ज्ञात से अज्ञात की ओर (फ्रॉम नोन टु अननोन), विशिष्ट से सामान्य की ओर (फ्रॉम पर्टीक्यूलर टु जनरल), स्थूल से सूक्ष्म की ओर (फ्रॉम कॉन्क्रीट टु ऐबस्ट्रैक्ट) विश्लेषण से संश्लेषण की ओर (फ्रॉम एनलीसिस टु सिनथेसिस), सम्पूर्ण से अंश की ओर (फ्रॉम होल टु द पार्ट्स), तथा मनोवैज्ञानिक हो—वैज्ञानिक नहीं (साइकॉलॉजिकल-नॉट लॉजिकल)—आदि सूत्रों का उल्लेख किया जाता है। ये सूत्र शिक्षण-कार्य में सहायक होते हैं। वस्तुतः जान या अनजान में सभी शिक्षक इन्हीं सूत्रों में से किसी के आधार पर समय-समय पर अपना कार्य करते हैं। अतः इनका थोड़ा विस्तारपूर्वक यहाँ विवेचन कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

१—सरल से जटिल की ओर

पहले जटिल उपस्थित करने से सफलता

गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि बालकों को किसी बात के सिखलाने के पूर्व हमें उनके पूर्व अनुभव का अच्छी प्रकार अनुमान लगा लेना है। इस सिद्धान्त से यह संकेत मिलता है कि शिक्षा देने में हमें बालक की रुचि पर ध्यान रखना

की संभावना नहीं, है। यदि उसकी रुचि के अनुसार पाठ का संचालन किया जा सका तो उसका विकास-क्रम अविरल गति से चलता रहेगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि बालक के सामने सबसे पहले जटिल वस्तु को न उपस्थित कर दिया जाय। बालकों को सफलता की भावना देना आवश्यक है। उनकी आत्म-गौरव अथवा आत्म-प्रदर्शन की मूल-प्रवृत्ति विशेष रूप से जागृत रहती है। वे दूसरों को दिखलाना चाहते हैं कि कुछ कर दिखाने में वे भी समर्थ हैं। यदि इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति न की गई तो उन्हें गहरी ठेस लगेगी। इसकी पूर्ति उनके सामने सरल वस्तु के उपस्थित करने से ही हो सकती है। यदि यकायक उन्हें कोई जटिल प्रश्न करना हुआ तो वे हिम्मत हार बैठेंगे और किसी काम में उनका मन न लगेगा। अतः उनके सामने पहले सरल वस्तु को ही रखना चाहिये, जिससे उनमें सन्तोष और सफलता की भावना आ जाय। पर सरल और जटिल वस्तु का निर्णय कैसे किया जाय? जो एक के लिए सरल है वही दूसरे के लिए कठिन हो सकता है। जो एक समय कठिन है वही दूसरे समय सरल जान पड़ता है। बचपन में हमें जो बातें बहुत जटिल मालूम होती थीं अब वे सरल दिखलाई पड़ती हैं। किसी व्याकरण शास्त्री के लिए वर्ण सरलतम ध्वनि होती है और उसके बाद शब्द और वाक्य का नम्बर आता है। पर बालक के लिए निरर्थक ध्वनि से कोई प्रयोजन नहीं। वह उसमें रुचि नहीं दिखला सकता। अतः सरल व जटिल का निर्णय करते समय हमें बालक के पूर्व अनुभव और मानसिक स्थिति का पूरा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। शिक्षक को यह न भूलना

सरल और जटिल का निर्णय कठिन।

चाहिए कि जो उसे सरल दिखलाई पड़ता है वही बालकों के लिए कठिन हो सकता है। बालकों के लिए सरल क्या है इसका पता कुछ प्रश्नों से चल सकता है। विकास-अवस्था से भी इसका कुछ ज्ञान हो जाता है। कभी-कभी पाठ का प्रारम्भ बहुत जटिल विचारों अथवा शब्दों से किया जा सकता है, यदि वे विचार या शब्द बालकों की समझ के भीतर हों। अतः "सरल से जटिल की ओर" बढ़ने का तात्पर्य सरलतर से कुछ कठिनतर की ओर बढ़ना है।

२—ज्ञात से अज्ञात की ओर

बालकों को जो मालूम है उसकी स्मृति उन्हें बड़ी जल्दी आ जाती है। पर उसके रुचिकर होने में सन्देह हो सकता है। सुनी हुई बात अथवा कथा को दुबारा सुनने में वह आनन्द नहीं आता जो नई में आता है। इसलिए शिक्षक कभी-कभी एकदम नए विषय से भी अपना पाठ प्रारम्भ कर सकता है। पर उस नए विषय का बालक के पूर्व अनुभव से यदि सम्बन्ध न हुआ तो प्रस्तावना रोचक न हो सकेगी। नए विषय की थोड़ी सी झाँकी देने के बाद शिक्षक को बालक के पूर्व ज्ञान से ही पाठ प्रारम्भ करना चाहिए। अज्ञात विषय का ज्ञात से सम्बन्ध स्थापित कर देना शिक्षक की कुशलता का द्योतक है। वस्तुतः शिक्षक का सारा परिश्रम इसी उद्देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित होना चाहिए। ज्ञात विषय को ही बार बार दोहराना अरुचिकर और व्यर्थ है और अज्ञात विषय को पूर्व ज्ञान से अलग कर उपस्थित करना उसको और भी कठिन बनाना है। इसलिये ज्ञात और अज्ञात का सम्बन्ध स्थापित करते हुये बालकों का मानसिक विकास करना ही शिक्षण का उद्देश्य कहा जा सकता है।

ज्ञात और अज्ञात में सम्बन्ध स्थापित करना।

३—विशिष्ट से सामान्य की ओर

हमारा सामान्य ज्ञान विशिष्ट ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। सामान्य तो विशिष्ट ज्ञान का ही निचोड़ है। अतः विशिष्ट ज्ञान बिना सामान्य ज्ञान नहीं बन सकता। इस सूत्र में हमें परिणामात्मक प्रणाली का आभास मिलता है। यदि पहले बालक के सामने सामान्य को ही रखा जाय तो वह दूसरों की बात को झट स्वीकार कर लेगा। उसे अपनी तर्क-शक्ति से काम लेने की आवश्यकता न होगी। इसका फल यह होगा कि बात उसकी समझ में न आयेगी। पढ़ाते समय भले ही उसकी समझ में कुछ आ जाय, पर वह उसके मानसिक संगठन का स्थायी अंग न हो सकेगा। अतः विशिष्ट से सामान्य की ओर चलना मनोवैज्ञानिक होगा। बालक के लिए विशिष्ट और सामान्य क्या है इसका पता लगाने के लिए उसके मानसिक विकास और पूर्व ज्ञान से पूरा परिचय प्राप्त करना होगा।

परिणामात्मक प्रणाली का आभास।

४—स्थूल से सूक्ष्म की ओर

बालक सूक्ष्म को समझ सके और उसकी कल्पना उसी से भरी हो इसीलिए उसे शिक्षा दी जाती है। जिसका जितना अधिक मानसिक विकास होता है वह उतना ही सूक्ष्म को सोच व समझ सकता है। सूक्ष्म को समझने की शक्ति का विकास धीरे-धीरे होता है। प्रारम्भ में बालक केवल स्थूल को ही समझने में समर्थ होता है। खिलौना

सूक्ष्म के समझने योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य, स्थूल के आधार पर सूक्ष्म का ज्ञान सम्भव।

कुर्सी, मकान, माता-पिता आदि का बोध उसे शीघ्र हो जाता है, क्योंकि वह उन्हें छू व देख सकता है। सूक्ष्म को समझने की शक्ति यकायक किसी एक दिन नहीं आ जाती। इसका विकास तो क्रमशः होता है। जब बालक सूक्ष्म को समझने लगता है तो हमारी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। हम चाहते हैं कि ईमानदारी, न्याय-प्रियता, दयालुता तथा सत्यता आदि सूक्ष्म भावों को बालक समझने लगे। इसको समझाने के लिये इनकी परिभाषा का सहारा लेना मनोवैज्ञानिक न होगा, क्योंकि बालक पहले स्थूल को ही समझता है। उदाहरणार्थ, बालक पहले लाल वस्तु को देखता है। कई प्रकार की लाल वस्तुएँ देखते-देखते उसे "लाल रंग" अर्थात् एक "सूक्ष्म भाव" का बोध हो जाता है। लाल रंग के समझ लेने का आधार लाल रंग वाली स्थूल वस्तु ही है। इसी प्रकार 'सत्यता'—सूक्ष्म भाव को समझाने के लिये उसका ध्यान किसी सत्य बोलने वाले व्यक्ति की ओर खींचना चाहिए। अतः सत्यता के प्रति उसमें प्रेम उत्पन्न करने के लिये शिक्षक को किसी व्यक्ति अर्थात् "स्थूल वस्तु का ही आधार मानना चाहिये। सत्य बोलने वाले लड़के अथवा हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर आदि महापुरुषों अर्थात् स्थूल प्रमाणों से उसे 'सत्यता' सूक्ष्म भाव का ज्ञान तथा उसके प्रति प्रेम व स्थायीभाव बालक में उत्पन्न किया जा सकता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ने का बड़ा भारी महत्त्व है। मनुष्य सूक्ष्म की ओर बढ़ सकता है, इसीलिये वह पशुओं की श्रेणी से ऊपर है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही 'सूक्ष्म' ज्ञान का प्राप्त करना है। जिसे जितना ही इसका ज्ञान रहता है वह उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। अतः शिक्षक का यह प्रयत्न होना चाहिये कि बालक सूक्ष्म के आधार पर कल्पना व तर्क कर सके।

पर ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इसका विकास क्रमशः प्रयत्न करने पर होता है। हम सभी लोगों का यह अनुभव है कि पहले सूक्ष्म बात कह देने से बालक की समझ में कुछ नहीं आता है। पर स्थूल के आधार पर उसे समझाया जाय तो सूक्ष्म को वह झट पकड़ लेता है। ज्यामिति अथवा विज्ञान के पाठ में स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने का पग-पग पर उदाहरण है। यदि इनमें स्थूल का सहारा न लिया जाय तो काम न बनेगा। यही बात किसी भी पाठ में स्पष्ट देखी जा सकती है।

५—विश्लेषण से संश्लेषण की ओर

बालक के पूर्वज्ञान का विश्लेषण करके ही शिक्षक को उसे नए ज्ञान देने का आयोजन करना चाहिए। उदाहरणार्थ, भूगोल का कोई ज्ञान देने के लिए बालक के वातावरण में तत्सम्बन्धी प्राप्त वस्तुओं के विश्लेषण से पाठ का प्रारम्भ करना चाहिए। पर यह ध्यान रहे कि केवल विश्लेषण से ही काम नहीं चल सकता। विश्लेषण के बाद ज्ञान के विभिन्न अंगों का संश्लेषण भी बालकों के सामने रखना होगा। तभी वे कुछ निश्चित विचार ग्रहण कर सकेंगे। विश्लेषित विभिन्न अंगों में सामञ्जस्य दिखलाना आवश्यक है। कभी-कभी तो सबसे पहले संश्लेषित रूप की ही झाँकी दे देनी आवश्यक होती है। तत्पश्चात् विभिन्न अङ्गों का विश्लेषण कर एक निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। उदाहरणार्थ, बालक को पहले पृथ्वी का गोला दिखाकर, समुद्र व जमीन आदि का साधारण ज्ञान देना आवश्यक प्रतीत होता है, उसके बाद विभिन्न अङ्गों

दोनों का सम्मिश्रण 'विश्लेषण-संश्लेषण' ही ठीक विधि।

का ज्ञान देना मनोवैज्ञानिक होगा। यही विधि अन्य विषयों में भी काम में लायी जाती है। व्याकरण में पहले पूरे वाक्य को सामने रखा जाता है। इसके बाद उसके विभिन्न अंगों का विश्लेषण कर एक सामान्य नियम का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार सबसे पहले हम अविश्लेषित सम्पूर्ण को रखते हैं; तब विश्लेषण या संश्लेषण पर पहुँचते हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पढ़ाने की विधि विश्लेषण या संश्लेषण ठीक नहीं। डा० लॉरी के अनुसार दोनों का सम्मिश्रण विश्लेषण-संश्लेषण विधि ही ठीक होगी।*

६—सम्पूर्ण से अंश की ओर

कुछ लोगों का कहना है कि शिक्षक को सम्पूर्ण से प्रारम्भ कर उसके विभिन्न अंशों की ओर बढ़ना चाहिए। पर यहाँ

वह सम्पूर्ण जिसे बालक जानता हो।

सम्पूर्ण का अर्थ उस "सम्पूर्ण" से है जिसे बालक जानता है। ऐसा अर्थ न करने पर यह सूत्र पाठन-विधि में कुछ भी सहायक न होगा। उदाहरणार्थ, यदि गुलाब के फूल पर कोई पाठ देना है तो गुलाब के वृक्ष से हमें प्रारम्भ करना चाहिए, क्योंकि बालक इस वृक्ष से परिचित होते हैं। तत्पश्चात् इसके विभिन्न अंशों पर प्रकाश डाला जा सकता है।

७—मनोवैज्ञानिक हो, वैज्ञानिक नहीं

उपर्युक्त पाठन-सूत्रों के विवेचन में हम वस्तुतः वैज्ञानिक विधि का ही उल्लेख करते रहे हैं। अब हमारे सामने प्रश्न

'बालक की रुचि'

यह है कि शिक्षण में "बालक की रुचि", ध्यान और ग्रहण-प्रक्रिया

---

* टी रेमॉण्ट—'द प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन' पृष्ठ १६४

ध्यान और ग्रहण-प्रक्रिया पर ध्यान; मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक विधि एक दूसरे पर निर्भर।

अर्थात् मनोवैज्ञानिक विधि पर भी ध्यान चाहिए या विषय की केवल वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति पर ही ?" सर्व प्रथम मनोवैज्ञानिक विधि पर ही ध्यान रखना उपयुक्त होगा। उदाहरणार्थ, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भाषा के अध्यापन में सर्व प्रथम ध्वनि और वर्ण से ही प्रारम्भ करना चाहिए। परन्तु मनोविज्ञान बतलाता है कि बालक की रुचि निरर्थक ध्वनिओं और वर्णों में नहीं होती। उसका सार्थक वस्तु से प्रेम होता है। इसलिए उसके सामने सर्व प्रथम वाक्य ही रखना ठीक होगा, क्योंकि उसमें उसे कुछ सार्थकता दिखलाई पड़ती है। ऐसे ही इतिहास के अध्यापन में ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से चलकर वर्त्तमान काल तक आना वैज्ञानिक होगा। पर बालक की पुरानी बातों में रुचि नहीं। उसे तो वर्त्तमान से प्रेम होता है। मनोविज्ञान की यही माँग है। बालक सम्बन्धो हमारा नित्य का अनुभव भी यही बतलाता है। अतः उसकी शिक्षा में हमें उसकी रुचि और मानसिक विकास अवस्था पर ध्यान देना है। पर एक तरह से देखा जाय तो वैज्ञानिक विधि भी अमनोवैज्ञानिक नहीं ठहरती, क्योंकि उपर्युक्त विवरण में यथास्थान हम बालकों की रुचि, ध्यान-प्रक्रिया और विकास-अवस्था पर उचित ध्यान देने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। वस्तुतः वह विधि वैज्ञानिक नहीं जो कि अमनोवैज्ञानिक है।

(ख) कुछ शिक्षण-विधियाँ

उपर्युक्त पाठन-सूत्रों के आधार-भूत कई शिक्षण-विधियाँ निकल पड़ी हैं। यद्यपि सब एक ही साध्य के विभिन्न साधन

हैं, पर उनका महत्त्व समान नहीं। किसी की एकदम निन्दा कर त्याग देना भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि अवसर के अनुसार हमें प्रायः सभी विधियों की आवश्यकता होती है। शुद्ध रूप से किसी एक विधि से ही काम चलाना कठिन है। हमें दूसरों की भी सहायता लेनी पड़ती है। अतः अच्छा होगा यदि नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण विधियों पर संक्षेप में विचार कर लिया जाय।

१—सुकराती विधि (सॉक्रैटिक मेथड)

सुकरात एथेन्स का एक बहुत बड़ा महात्मा आज से २॥ हजार वर्ष पहले हो चुका है। उसका यह विश्वास था कि किसी को जबर्दस्ती ज्ञान देना एकदम व्यर्थ है, क्योंकि इससे व्यक्ति कुछ सीखता नहीं। उसकी धारणा थी कि जान अथवा अनजान में ज्ञान का पुञ्ज सबके मस्तिष्क में पड़ा रहता है। सुन, देख व पढ़कर सभी लोग कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। पर सब उसे अपने मानसिक संगठन का व्यवस्थित अंग नहीं बना पाते। सुकरात अपनी इस धारणा के आधार पर लोगों के अव्यवस्थित ज्ञान को व्यवस्थित बनाना चाहता था। इसके लिये उसने 'प्रश्न-विधि' का सहारा लिया। उसने अपनी इस विधि का इतना सफल प्रयोग किया कि वह सुकराती विधि से ही प्रसिद्ध हो गई है।

जबर्दस्ती ज्ञान देना व्यर्थ।

सुकरात राह चलते किसी भी स्थान पर लोगों को छेड़ दिया करता था और अपने वैज्ञानिक प्रश्नों द्वारा लोगों के विचारों को सुव्यवस्थित और ठीक बनाने का प्रयत्न करता था। इस प्रकार सबको ठीक रास्ते पर लाना

प्रश्नों के आधार पर व्यक्ति के ज्ञान को

सुव्यवस्थित करना, ज्ञान इस प्रकार देना कि यह न मालूम हो कि वह बाहर से आया, छात्र में जिज्ञासा जगा देना।	उसने अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लिया था। वह अपने प्रश्नों के आधार पर ही दूसरों को ठीक-ज्ञान देना चाहता था, जिससे व्यक्ति यह समझे कि पाया हुआ ज्ञान उसी का है और किसी ने जबरदस्ती स्वीकार करने को उसे बाध्य नहीं किया है।

इस विश्वास के आ जाने पर व्यक्ति तदनुसार चलने के लिये स्वभावतः बाध्य हो जायगा—ऐसा सुकरात का विश्वास था। सुकरात की प्रणाली बड़ी मनोवैज्ञानिक है। इसीलिये तो जिज्ञासुओं की उसके पास सदा भीड़ लगी रहती थी। सुकरात विशेषतः धर्म, नीति, आचार-शास्त्र व राजनीति पर प्रश्न किया करता था। सर्वप्रथम वह युवक के ज्ञात विषय पर ही पहली चोट मारता था। युवक के उत्तर पर वह दूसरी शंका उपस्थित कर प्रश्न पर प्रश्न किए जाता था। इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में अन्ततः युवक वांछित ज्ञान पर आ जाता था और उसे इसका सच्चा बोध भी हो जाता था। सुकरात अपने को मस्तिष्क-रूपी शिशु जनाने वाला पुरुषदाई कहा करता था। दाई माँ के पेट में बाहर से कोई बच्चा डाल नहीं देती। वह केवल पेट में उपस्थित बच्चे को बाहर निकल आने में सहायक मात्र होती है। इसी प्रकार सुकरात की शिक्षा का आदर्श था। वह व्यक्ति के मस्तिष्क में बाहर बसे ज्ञान नहीं ठूँसना चाहता था। वह वहाँ उपस्थित ज्ञान को ही ठीक से व्यवस्थित और पल्लवित होने में दाई के समान सहायता देना चाहता था। सुकरात अपने विद्यार्थी को किसी परीक्षा में उत्तीर्ण करने के हेतु परिश्रम नहीं करता था, वह तो अपने

विद्यार्थी में केवल जिज्ञासा जगा देना चाहता था, जिससे वह उसकी तुष्टि के लिये आगे परिश्रम करे।

आजकल सुकरात-प्रणाली का काफी प्रयोग किया जाता है। शिक्षक अपने पाठ के संचालन में हर पद पर प्रश्नों का सहारा लेता है। प्रस्तावना के स्थल पर वह प्रश्नों द्वारा बालकों को आवश्यक पूर्व-ज्ञान की याद दिलाता है। सिद्धान्त-निरूपण प्रश्नों के आधार पर ही बनता है। ग्रहण (अण्डरस्टैन्डिग) और धारणा (रीटेन्शन) शक्ति की परीक्षा प्रश्नों द्वारा ही की जाती है। यह सब सुकराती विधि ही है। पर बहुत से प्रश्नों की झड़ी लगा देना भी ठीक नहीं। प्रश्न उपयुक्त ही हों। उनमें विध्वंसक आलोचना का आभास न मिले। ऐसे प्रश्न बालकों से न पूछना चाहिये और न उन्हें इसके लिये उत्साहित ही करना चाहिये।

सुकराती-प्रणाली का बहुत प्रयोग।

२—अगमन-विधि (इनडक्टिव् मेथड)

किसी बात को बालकों को सीधे न बताकर उदाहरणों द्वारा उन्हीं से सिद्धान्त का निरूपण कराना अगमन-विधि का काम है। चतुर्भुज की परिभाषा देने के पहले विभिन्न प्रकार के चतुर्भुज सामने रखकर उनके साधारण गुणों की बालकों से व्याख्या कराकर चतुर्भुज की परिभाषा का निर्माण करना अगमन-विधि के अनुसार चलना है। इस विधि को अगमन-विधि कहते हैं, क्योंकि इसमें विद्यार्थी विशिष्ट से सामान्य की ओर बढ़ता है। पहले विशिष्ट बातों का विश्ले-

उदाहरण द्वारा सिद्धान्त का निरूपण करना, बालक की उत्सुकता जीवित।

षण के आधार पर अध्ययन किया जाता है। तत्पश्चात् एक सामान्य बात का निर्माण किया जाता है। इसीलिये इसको कुछ लोग विश्लेषण-विधि (एनलीटिक मेथड) भी कहते हैं। अगमन-विधि मनोवैज्ञानिक मालूम होती है। इससे बालकों पर जोर नहीं पड़ता। उनका मस्तिष्क थकता नहीं, क्योंकि सरल प्रश्नों के आधार पर वे सारी बातें समझते जाते हैं और वे सन्तोष और सफलता का अनुभव करते हैं। अतः यह विधि उन्हें बड़ी सरल लगती है। शिक्षकों का यह अनुभव होगा कि कभी-कभी बालक इस विधि के सहारे यकायक बहुत जल्दी ही सामान्य नियम की ओर संकेत कर बैठते हैं। ऐसे अवसर पर उन्हें कितनी प्रसन्नता होती होगी। इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं, क्योंकि सभी को इसका किसी न किसी अवसर पर कुछ व्यक्तिगत अनुभव होगा। इस विधि में बालक की उत्सुकता प्रारम्भ से अन्त तक बनी रहती है।

उदाहरण देने में विशेष सतर्कता।

अगमन-विधि के प्रयोग के समय उदाहरण देने में शिक्षक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है। उपस्थित की हुई वस्तुओं की समानता और भिन्नता की ओर बालकों का ध्यान ठीक-ठीक आकर्षित करना आवश्यक है। सिद्धान्त-निरूपण में कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। समानता और भिन्नता के ही सहारे विशिष्ट से सामान्य की ओर आना होता है। चतुर्भुज का ज्ञान देने में शिक्षक कई चतुर्भुजों का आकार बालकों के सामने रखता है। विभिन्न आकार के चतुर्भुजों में समानता और भिन्नता दोनों हैं। अतः बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वे गलत निष्कर्ष पर न पहुँच जाँय।

३—निगमन-विधि (डिडक्टिव् मेथड)

निगमन विधि अगमन का एकदम उलटा है। अगमन-विधि में हम विशिष्ट से सामान्य की ओर चलते हैं और निगमन में सामान्य से विशिष्ट की ओर चला जाता है। निरूपित सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की सत्यता की परीक्षा करना निगमन-विधि का काम है। उदाहरणार्थ, पहले बालकों को यह बता दिया जाता है कि एक त्रिभुज के तीनों कोण दो समकोण के बराबर होते हैं। बालक विभिन्न प्रकार के त्रिभुजों के कोणों को नाप कर इस सामान्य नियम की सत्यता पहचान कर तदनुसार और आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार सामान्य नियम इसमें पहले दिया जाता है। परन्तु सामान्य नियम का पहले देना घोड़े के आगे गाड़ी का रखना है। त्रिभुज का ठीक-ठीक ज्ञान करने के लिए सबसे पहले बालक को एक ही त्रिभुज का समझना आवश्यक है। ऐसा न करने से वह परिभाषा रट कर काम निकालने का प्रयत्न करेगा और उसका मानसिक विकास ठीक न होगा। इस प्रकार निगमन-विधि अमनोवैज्ञानिक मालूम पड़ती है। इसमें बिना उदाहरण दिये बालक कुछ न समझ सकेगा। पर हमें बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि निष्कर्ष पर वह स्वयं पहुँच जाय। अंकगणित, विज्ञान और ज्यामिति की परिभाषा उसे अपने मानसिक परिश्रम से स्वयं निकालनी चाहिए।

सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न बातों की परीक्षा करना।

अगमन और निगमन में भेद

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अगमन विधि शिक्षा देने

का साधन है और निगमन-विधि आदेश (इन्स्ट्रक्शन) देने का।

अगमन शिक्षा के लिए और निगमन आदेश के लिए

अगमन में देरी अवश्य लगती है। पर शिक्षा-क्रिया शीघ्र नहीं पूरी हो सकती। मानसिक विकास की गति भी तो धीमी होती है। अतः अगमन-विधि ही सच्ची शिक्षा-विधि है। निगमन में शीघ्रता अवश्य होती है। पर इसमें यह जानना कि बालक किसी विषय को समझते हुये आगे बढ़ रहे हैं कठिन है, क्योंकि बहुत से ऐसे नियम होते हैं जिन्हें बिना स्वयं परीक्षा किये वे नहीं समझ सकते। अगमन निगमन से अधिक स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले व्यक्ति स्वयं सब कुछ सोच समझ लेता है। अगमन से आत्मनिर्भरता बढ़ती है और निगमन से दूसरों पर निर्भर रहने की आदत पड़ जाती है।

४—वास्तविक शिक्षण-विधि 'अगमन-निगमन'

उपर्युक्त विवरण से मालूम होता है कि अगमन और निगमन विधियाँ परस्पर विरोधी हैं। पर बात ऐसी नहीं।

दोनों एक दूसरे पर निर्भर, दोनों विधियों की आवश्यकता।

वस्तुतः दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक का काम दूसरे के बिना नहीं चल सकता। शिक्षा में केवल एक ही से सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। शिक्षक को दोनों विधियों की आवश्यकता होती है। कभी-कभी शिक्षक दोनों विधियों का एक ही साथ प्रयोग करता है। अगमन-विधि के प्रयोग में शिक्षक यह मान लेता है कि अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर बालक दिये उदाहरणों को समझ लेगा। इस प्रकार शिक्षक यह कल्पना

कर बैठता है कि बालक कुछ साधारण नियमों का ज्ञान रखता है। यह सत्य भी है, क्योंकि जैसा पहले ही कहा आ चुका है कि बालक का मस्तिष्क कोरी पटिया की तरह रिक्त नहीं होता। कुछ उदाहरणों को बालक के सामने रख कर शिक्षक उसे निगमन-विधि के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करता है। इस प्रकार जिसे हम अगमन कहते हैं वही बालकों की दृष्टि से निगमन है। इसी प्रकार निगमन-विधि के अनुसार शिक्षक जब किसी सिद्धान्त का उल्लेख करता है तो बालक उसे अगमन-विधि के अनुसार ही समझता है। इसके आधार पर बहुत से शिक्षा-शास्त्रियों का कहना है कि वास्तविक शिक्षण-विधि अगमन और निगमन का मिश्रण है। यदि अगमन-विधि से शिक्षक कोई सिद्धान्त-निरूपण निकलवाता है तो निगमन-विधि से उसे सिद्धान्त की पुष्टि कराना आवश्यक है। सिद्धान्त-निरूपण पर ही आकर रुक जाना गलत होगा। विशेष उदाहरणों द्वारा बालकों से उसकी परीक्षा कराना उसके बोध के लिए अति आवश्यक है।

५—ह्यूरिस्टिक (अन्वेषण) विधि

"बालकों से कम से कम कहा जाय तो अच्छा है। यथा-सम्भव उन्हें स्वयं अन्वेषण कर सत्य को पहिचानने के लिए प्रेरित करना चाहिये" ह्यूरिस्टिक विधि की यही माँग है। इस प्रकार ह्यूरिस्टिक विधि अन्वेषण की पद्धति है। यह वही पद्धति है जिसका रूसो ने अपने 'एमील' ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है। इस विधि के समर्थकों का कहना है कि इससे बालकों की तार्किक शक्ति का विकास होता है। अतः सबको इसी विधि से पढ़ाना चाहिए;

स्वयं अन्वेषण के लिए बालक को प्रेरित करना।

अर्थात् प्रत्येक बालक को अनुसन्धानकर्त्ता अथवा आविष्कारक बना देना है। इस विधि के प्रवर्त्तन का विशेष श्रेय प्रो० आर्मस्ट्राँङ्ग को दिया जाता है। ह्य रिस्टिक शब्द ग्रीक भाषा के 'ह्य रिस्टिको' शब्द से निकला है। ह्यूरिस्टिको का अर्थ "मैं मालूम करता हूँ" होता है। प्रो० आर्मस्ट्राँङ्ग का विश्वास है कि सत्य की स्वयं खोज करने में बालक को आनन्द आता है। अतः सत्य का कुछ विवरण देकर उसे खोजने के लिए बालक को उत्साहित करना चाहिए। दिन पर दिन अब स्कूल को ऐसा स्थान माना जाने लगा है जहाँ व्यक्ति वैज्ञानिक विधि से देखना, सोचना और बोलना सीखता है। अतः स्व-शिक्षा का महत्त्व अब सबकी समझ में पहले से अधिक आने लगा है। बालक में अन्वेषण और आविष्कार की प्रवृत्ति देनी है। ह्यूरिस्टिक विधि का यही अभिप्राय है। इस विधि से हम कुछ हद तक बालक को उसकी उन्नति के लिए स्वयं उत्तरदायी बना देते हैं। ह्यूरिस्टिक और अगमन विधि में काफी समानता दिखलाई पड़ती है।

जिज्ञासा और विधायकता-मूल-प्रवृत्ति को भोजन देना, बालक सब कुछ स्वयं नहीं खोज सकता, इस विधि को बहुत दूर तक न खींचना।

उपर्युक्त विवरण से ह्य रिस्टिक विधि मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है। इसका तात्पर्य बालक की जिज्ञासा व विधायकता-मूल-प्रवृत्ति को भोजन देना है। बालक स्वभावतः स्फूर्तिपूर्ण होते हैं। अतः इसके अनुकूल भी ह्यूरिस्टिक विधि दिखलाई पड़ती है। पर प्रत्येक बात के लिए बालक को खोजने के लिए प्रेरित करना युक्तिसंगत नहीं। हमारा जीवन इतना छोटा है कि सब कुछ हम स्वयं खोजकर नहीं सीख

सकते। दूसरे के परिश्रम का फल हमें स्वीकार ही करना होगा। जो बात सिद्ध की जा चुकी है उसे स्वीकार कर लेना ही उचित है। दूसरे, सभी लोगों में अन्वेषक व आविष्कारक बनने की शक्ति भी नहीं होती। यह शक्ति तो केवल थोड़ों में ही होती है। आविष्कारक का मस्तिष्क परिपक्व रहता है। वह किसी समस्या के सभी पहलू पर सन्तोषजनक रूप में विचार कर सकता है। बालक का मस्तिष्क अबोध रहता है। वह किसी समस्या को सभी दृष्टिकोण से देखने में समर्थ नहीं हो सकता। जब तक उसके सामने आवश्यक उपकरणों का वैज्ञानिक आयोजन रखकर उसे उचित प्रेरणा न दी जायगी वह कुछ सार्थक करने में सफल न हो सकेगा। यह सत्य है कि प्रत्येक बालक में कुछ मौलिकता होती है, पर वह उसके केवल खेल ही तक सीमित रहती है। यदि सब कुछ बालक पर ही छोड़ दिया जाय तो उतावलेपन में गलत निष्कर्ष पर चले आना उसके लिए कठिन न होगा। पर इसका यह अर्थ नहीं कि ह्यूरिस्टिक विधि की उपयोगिता नहीं। उपर्युक्त विवरण का उद्देश्य केवल इतना ही है कि इस विधि को बहुत दूर तक खींच ले जाने में अर्थ का अनर्थ हो जाने का भय है।

वस्तुतः ह्यूरिस्टिक विधि सर्वश्रेष्ठ पद्धतियों में से है। यथासम्भव इसका प्रयोग बड़ा ही लाभदायक सिद्ध होगा।

अगमन विधि से निराकरण पर पहुँचाना।

इस विधि का तात्पर्य शिक्षक को यह समझना चाहिए कि किसी समस्या का स्पष्टीकरण 'यकायक बालकों के सामने नहीं कर देना है। उनकी योग्यतानुसार समस्या का विभिन्न अंगों में आवश्यक विभाजन कर उन्हें अगमन-विधि से निराकरण पर पहुँचाना है। इस प्रकार

विश्लेषण, अगमन और ह्यूरिस्टिक में बड़ी समानता दिखलाई पड़ती है। अगमन और विश्लेषण विधि में सर्वप्रथम बालकों के सामने विभिन्न प्रकार के उदाहरण रखे जाते हैं, जिससे सत्य पर वे अपने आप पहुँच जाँय। ऐसा करने में उनके पूर्व ज्ञान और विकास-अवस्था पर पूरा ध्यान रखा जाता है। शिक्षक केवल पथ-प्रदर्शक का काम करता है। ह्यूरिस्टिक-विधि में भी उसकी यही चेष्टा होती है। अतः इन प्रणालियों में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखलाई पड़ता।

यदि अपने पूर्व ज्ञान के आधार पर बालकों को कुछ नया ज्ञान सीखना है तो ह्यूरिस्टिक-विधि सहायक हो सकती है।

ह्यूरिस्टिक विधि का अन्य विधियों से मेल, प्रत्येक विषय में इसका प्रयोग सरल नहीं।

यहाँ ह्यूरिस्टिक विधि और निगमन में मेल दिखलाई पड़ता है। निगमन में ज्ञात सिद्धान्तों के आधार पर कुछ बातों को समझने की चेष्टा की जाती है। नये प्रश्नों को हल करने के लिए बालकों को उनके पूर्व ज्ञान के आधार पर उत्साहित किया जा सकता है। गणित में ऐसे अवसर बहुत आते हैं। कभी-कभी एक ही प्रकार के कई प्रश्नों को बालकों के सामने किया जाता है और इस प्रकार साधारण नियम पर बालकों को स्वतः लाया जाता है। पर यह सदा सम्भव नहीं होता। शिक्षक को कभी-कभी स्वयं नियम बतला देना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार ह्यूरिस्टिक विधि बड़ी लाभदायक प्रतीत होती है और इससे अन्य विधियों से कुछ मेल भी दिखलाई पड़ता है। पर इसे बहुत दूर तक खींचना उतना ही बुद्धिमानी से खाली होगा जितना कि इसे पूरा छोड़ देना। प्रत्येक विषय में इस विधि

का प्रयोग सम्भव नहीं। गणित व विज्ञान में इसका प्रयोग कुछ सम्भव भी है, पर साहित्य, राजनीति और इतिहास आदि विषयों में इसका प्रयोग कैसे किया जाय? कुछ लोगों का मत है कि ऐसे विषयों में इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। पर क्या किसी पद्य के सौन्दर्य का पता लगाना, किसी घटना के फल पर अपने विचार प्रकट करना या किसी घटना के कारणों की खोज करना ह्यूरिस्टिक विधि की ओर संकेत नहीं करता?

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमान्ट—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन-अध्याय, ८
२—जे० वेल्टन—लॉजीकल बेसि स ऑव् एडूकेशन
३—स्पेन्सर—एडूकेशन
४—सली—टीचर्स हैण्डबुक ऑव् साइकॉलॉजी
५—ड्यूई—द स्कूल ऐण्ड सोसाइटी
६—एच० एस० पौरा—द साइकॉलॉजी ऑव् लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग
७—ए० डी० उडरफ—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिङ्ग
८—डब्लू० एम० राइबर्न—द प्रिन्सीपुल्स ऑव् टीचिङ्ग-अध्याय, २
९—सहाय, राबर्टसन ऐण्ड जॉग—द साइन्स ऐण्ड आर्ट ऑव् टीचिङ्ग-अध्याय-४, ५

आठवाँ अध्याय

प्रश्न व उत्तर

(क) प्रश्न

१—कुछ साधारण बातें

बालकों में प्रश्न पूछने की आदत।

बालकों में जिज्ञासा मूल-प्रवृत्ति विशेषत: उग्र अवस्था में रहती है। अत: वे प्रश्न बहुत पूछा करते हैं। प्रश्न के ही आधार पर वे वातावरण पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त कर अपना मानसिक विकास करते हैं। स्कूल में आने की अवस्था प्राप्त करने के पहले भी वे बहुत से प्रश्न किया करते हैं। स्कूल में आने के समय उनके प्रश्नों की मात्रा कुछ कम हो जाती है, क्योंकि उस काल तक उनका मानसिक विकास वातावरण की साधारण वस्तुओं के समझने योग्य हो जाता है। तथापि प्रश्न पूछने की प्रवृत्ति उनमें होती ही है। वे प्रश्न पूछना चाहते हैं; पर स्कूल वातावरण की कृत्रिमता उनकी इस इच्छा-पूर्ति में बाधक होती है। इसीलिए तो बालक घर में अपने माता-पिता व भाई-बहिन से अधिक प्रश्न पूछते हैं। स्कूल में प्रश्न पूछने की इच्छा रखते हुए भी डर वश वे चुप रहते हैं। गत पृष्ठों में हम कई बार कह चुके हैं कि स्कूल का वातावरण कृत्रिम न हो। कृत्रिमता बालकों के मानसिक विकास में बाधक होती है, क्योंकि इससे प्रश्न पूछ कर अपनी जिज्ञासा प्रवृत्ति को वे तृप्त नहीं कर पाते। स्पष्ट है कि उनकी शिक्षा अथवा विकास-क्रम में "प्रश्न" का बड़ा महत्त्व है।

जिस शिक्षक को कक्षा में जितने ही अधिक प्रश्न किए जाते हैं उसका अध्यापन उतना ही सफल मानना चाहिए। योग्य शिक्षक प्रश्न पूछने के लिए बालकों को उत्साहित करता है। वह बीच-बीच में रुककर विद्यार्थियों को प्रश्न पूछने को प्रेरित करता है। यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि उनके प्रश्नों का किस रूप में उत्तर देना चाहिये। यह तो व्यक्तिगत प्रश्नों की कोटि पर ही निर्भर करेगा। कुछ प्रश्न मूर्खतापूर्ण हो सकते हैं और बालकों को उनके प्रश्नों को गलतियों की ओर संकेत कर देना उचित होगा। कुछ प्रश्नों में विचारहीनता दिखलाई पड़ती है। ऐसे प्रश्नों का उत्तर स्वयं प्रश्नकर्ता से ही पूछना चाहिए, जिससे उसे अपनी गलती का पता लग जाय। कुछ प्रश्नों से ऐसा पता चल सकता है कि बालकों ने पाठ को एकदम समझा ही नहीं है। ऐसी दशा में पाठ को फिर से दोहराना आवश्यक होगा। यदि किसी प्रश्न के उत्तर में सारी कक्षा की रुचि न हो तो उसका उत्तर अलग ही देना चाहिए, जिससे कुछ के लिए सबका समय नष्ट न हो। कुछ प्रश्न आगे आने वाली बात की ओर संकेत कर सकते हैं। ऐसे प्रश्नकर्त्ता की प्रशंसा अवश्य कर देनी चाहिये, परन्तु उत्तर प्रसंग आने पर ही देना चाहिए। कुछ प्रश्नों का उत्तर प्रश्नकर्त्ता से दो-तीन प्रश्न पूछ लेने पर ही निकल आता है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि बालकों की शंका का समाधान यथासम्भव शीघ्र ही करना चाहिए। जब बालकों की जिज्ञासा का सहानुभूतिपूर्वक निराकरण नहीं होता तो वे प्रश्न पूछने में डरने लगते हैं। अतः शिक्षक को इस

ठीक प्रश्न पूछने के लिये बालक को उत्साहित करना, उत्तर देने में सावधानी, शंका का समाधान शीघ्र।

विषय में बड़ी सतर्कता दिखलानी है, जिससे बालकों की जिज्ञासा कुण्ठित न हो जाय। बहुत सम्भव है कि शिक्षक बालक के किसी प्रश्न का उत्तर न दे पावे। ऐसे अवसर पर स्पष्ट शब्दों में अपनी असमर्थता प्रकट कर देना ही उचित है। टाल-मटोल अथवा गलत उत्तर देना अक्षम्य अपराध है। इस ओर हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं। जो शिक्षक बालकों को प्रश्न करने के लिए उत्साहित करते हैं उन्हें अवश्य ही कुछ ऐसे प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा जिनका उत्तर अवसर पर तत्परता से देना कठिन हो सकता है। ऐसे समय शिक्षकों का घबड़ाना ठीक नहीं। ऐसे प्रश्नों में सच्ची रुचि दिखलाकर शिक्षकों को उन्हें लिखकर दूसरे दिन उनका ठीक उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए। कुछ प्रश्न ऐसे भी हो सकते हैं जिनका पूरा उत्तर बालकों की समझ में नहीं आ सकता। ऐसे प्रश्नों का उतना ही उत्तर देना चाहिए जितना कि वे समझ सकें। शेष को आगामी पाठ में सम्मिलित कर लेना मनोवैज्ञानिक होगा।*

शिक्षक के प्रश्न कम महत्त्वपूर्ण नहीं

बालकों के प्रश्न-प्रकार का हम संक्षेप में विवेचन कर चुके। अध्यापन में शिक्षकों को भी प्रश्न पूछने पड़ते हैं और इन प्रश्नों का बालकों के प्रश्न से कम महत्त्व नहीं। अध्यापन की सफलता शिक्षक के प्रश्न पूछने की कला पर बहुत हद तक निर्भर है, क्योंकि सभी अध्यापन-प्रणालियों में प्रश्न का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। प्रश्न की अनेक उपयोगितायें हैं। पर ठीक-ठीक उनका यहाँ विवरण देना

---

* ह्यूगस-लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग-अध्याय, १६

सरल नहीं। तथापि उनकी उपयोगिताओं का संक्षेप में हम नीचे उल्लेख करते हैं :—

२—प्रश्न करने के उद्देश्य

१—विद्यार्थियों की सफलता का अनुमान लगाना।

२—उन्हें आगे के लिये आवश्यक प्रेरणा देना।

३—यह जानना कि दिये हुये काम को वे कहाँ तक कर रुके हैं।

४—व्यक्तिगत कमजोरियों का पता लगाना।

५—अभ्यास देना।

६—कल्पना-शक्ति का विकास करना।

७—बालकों की रुचियों का पता लगाना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि प्रश्न करने की एक कला होती है और सफल शिक्षक होने के लिए उस कला का सीखना आवश्यक है। शिक्षक को यह जानना चाहिये कि प्रश्न करने में किन-किन बातों पर ध्यान देना अपेक्षित है। इन्हीं सब बातों पर नीचे सूत्र-रूप में संकेत किया जा रहा है, क्योंकि उनके विस्तृत व्याख्या की विशेष आवश्यकता नहीं।

३—अच्छे प्रश्नों के लक्षण

१—प्रश्न पाठ के उद्देश्य के अनुसार होने चाहिए। शिक्षक को भी अपने उद्देश्य का ठीक-ठीक पता होना चाहिए। प्रश्न ऐसे हों कि वे एक निश्चित उद्देश्य की ओर संकेत करें।

२—प्रश्न ऐसे हों कि पाठ्य-ज्ञान विद्यार्थियों से ही निकल आवे और शिक्षक उपदेशक न होकर पथ-प्रदर्शक ही बना रहे।

३—जिन प्रश्नों से कल्पना-विकास में सहायता नहीं

मिलती वे निम्नकोटि के होते हैं। जिन प्रश्नों से छात्रों में चेतना, व एकाग्रता आती है वे ही प्रश्न अच्छे होते हैं।

४—प्रश्न की शब्दावली, सरल, स्पष्ट और निश्चित हो। कम अनुभवी शिक्षक व्यर्थ के लम्बे-लम्बे प्रश्न पूछा करते हैं। उदाहरणार्थ, "*तुम लोगों में से कौन बता सकता है कि* पानीपत की लड़ाई किन-किन में हुई?" "*हाँ तो अब कह जाओ कि* वह कैसे विजयी हुआ?" "*क्या तुम्हें मालूम है कि* ओस क्यों पड़ती है?"—ऐसे शब्दावलियों के प्रश्नों का पूछना समय नष्ट करना है। इन प्रश्नों में तिरछे अंश एकदम व्यर्थ हैं।

५—प्रश्न बालकों के अनुभव व योग्यतानुसार हों। कभी-कभी कुछ कठिन प्रश्न भी विद्यार्थियों से पूछे जा सकते हैं, यदि उनके उत्तर सभी विद्यार्थियों की समझ में आ जांय। इस प्रकार कुशाग्र-बुद्धि बालकों की विचार-शक्ति का कमजोर भी कुछ लाभ उठा सकेंगे। कमजोर विद्यार्थियों से अत्यन्त कठिन प्रश्न पूछना समय का खोना है।

६—प्रश्नों की भाषा में भिन्नता का होना आवश्यक है।

७—प्रश्न ऐसे हों कि उनका एक ही उत्तर हो, क्योंकि ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने में बालकों को कठिनाई नहीं होती। एक उत्तर के अनुपयुक्त होने पर तुरन्त ही वे दूसरा उत्तर दे देते हैं:—जैसे "स्टेशन पर हम क्या देखते हैं"—इस प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं। प्रश्नों का एक ही विचार से सम्बन्ध होना आवश्यक है। जिस प्रश्न के बड़े लम्बे उत्तर होते हैं उनके उत्तर में बालक रुचि नहीं लेते। जिन प्रश्नों के लम्बे उत्तर अपेक्षित हों उन्हें कई भागों में बाँट देना मनोवैज्ञानिक होगा।

८—प्रश्न की शब्दावली पाठ्य-पुस्तकों की न हो, अन्यथा बालक भी अपने वाक्यों का प्रयोग न कर पुस्तक के ही शब्दों

को याद कर उत्तर देने की चेष्टा करेगा। ऐसी स्थिति में यह जानना कठिन हो जायगा कि उसने प्रस्तुत विषय को समझा है या नहीं। अतः शिक्षक को अपनी ही भाषा में प्रश्नों को पूछना चाहिए। इससे बालक भी अपने वाक्यों में उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

९—जिन प्रश्नों के उत्तर "हाँ" या "नहीं" में आ जाते हैं उन्हें पूछना ठीक नहीं, क्योंकि उनसे विचार-शक्ति के विकास में सहायता नहीं मिलती; जैसे, क्या सिनेमा देखना अच्छा है ?

पर कभी-कभी यह देखा जाता है कि ऐसे प्रश्नों के पूछने की आवश्यकता हो जाती है। स्वीकृति मात्र के लिए जो प्रश्न पूछे जाते हैं उनके उत्तर "हाँ" या "नहीं" में ही आते हैं। किसी विषय का वर्णन करते समय बीच में कभी-कभी स्वीकृति लेने के लिए ऐसे प्रश्न पूछने पड़ते हैं। पर यदि गम्भीरता-पूर्वक सोचने के बाद ही 'हाँ' या 'नहीं' उत्तर आता है तो ऐसे प्रश्नों का पूछना अमनोवैज्ञानिक नहीं। कभी-कभी बालकों में कुतूहल जागृत करने अथवा उन्हें सोचने को विवश करने के लिए भी ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं।

१०—अध्यापक को प्रत्येक बात को साधिकार कहने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे छात्रों के समर्थन की अपेक्षा न होनी चाहिये। जो ऐसी आशा करते हैं वे सफल शिक्षक नहीं होते। छात्रों से कुछ कहने के बाद "ठीक है न, है न !" आदि पूछना ठीक नहीं।

११—सभी प्रश्नों का एक दूसरे से सम्बन्ध होना चाहिए। ऐसा न होने से शिक्षा का उद्देश्य नष्ट हो जाता है। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब प्रश्नों में सार्थकता हो। पूर्व ज्ञान की परीक्षा में छात्रों से छुटपुट प्रश्न भी पूछे जा सकते हैं। ऐसे प्रश्नों में परस्पर सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं।

१२—प्रश्न पूछने का स्वर बहुत मीठा हो। घुड़क कर बहुत कर्कश ध्वनि में प्रश्न पूछना ठीक नहीं। प्रसन्न मुद्रा से प्रश्न पूछने से बालकों में उत्साह बढ़ता है और वे अपनी कठिनाइयाँ शिक्षकों के सामने रखने मेंहिचकते नहीं।

१३—प्रश्न पूरी कक्षा से पूछने के बाद किसी बालक को उत्तर के लिए सम्बोधित करना चाहिए। प्रश्नों का वितरण ऐसा हो कि यथासम्भव अधिक से अधिक बालकों को उत्तर देने का अवसर मिल सके। तेज बालक से ही बार-बार प्रश्न पूँछ कर कमजोर की अवहेलना करना अनुचित है। वस्तुतः शिक्षक की सफलता तो कमजोर बालक से उत्तर निकलवाने में है। उत्तर जानने वाले छात्रों से हाथ उठाने का आदेश दिया जा सकता है। इससे उनमें कुछ क्रियाशीलता आ जाती है।

१४—प्रश्नों को दोहराना ठीक नहीं। उन्हें दोहराने से बालकों में पहली बार ध्यान से न सुनने की आदत पड़ जाती है, और इससे कुछ बालकों की विचार-प्रक्रिया में भी विघ्न पड़ता है।

४—प्रश्नों के प्रकार

प्रश्नों के उद्देश्य और उनके करने की मनोवैज्ञानिक विधि का विवेचन कर लेने पर उनके प्रकार पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। प्रश्नों का वर्गीकरण उनके उद्देश्य तथा उनसे सम्बन्धित मानसिक-प्रक्रिया के आधार पर किया जा सकता है। इस तरह का वर्गीकरण ठीक दिखलाई पड़ता है, क्योंकि जो प्रश्न अभ्यासात्मक होंगे उन्हें विचारात्मक कहना उपयुक्त

प्रश्नों का वर्गीकरण मानसिक प्रक्रिया के आधार पर।

न होगा। अभ्यासात्मक प्रश्नों में तो विशेषकर स्मृति की परीक्षा होती है। शिक्षण के विषय को रोचक बनाने के लिए कई प्रकार के प्रश्न पूछने चाहिए। अतः प्रश्नों के प्रकार का पता लगाना आवश्यक है।

रिस्क महोदय के अनुसार स्वरूप की दृष्टि से प्रश्नों के दो प्रकार हो सकते हैं :—(१) स्मृत्यात्मक और (२) विचारात्मक।

स्मृत्यात्मक और विचारात्मक।

स्मृत्यात्मक प्रश्नों में पिछली याद की हुई बातों को दोहराना होता है, पर विचारात्मक प्रश्नों में उपस्थित विषय पर अपनी कल्पना द्वारा किसी नई बात का सृजन करके उत्तर देना पड़ता है। इनका उद्देश्य कल्पना-शक्ति को जागृत करना होता है। कभी-कभी बालकों के सामने एक नई समस्या रख दी जाती है। इससे यह जाना जाता है कि पठित वस्तु को अच्छी प्रकार समझकर छात्रों ने उसे गुना है कि नहीं अथवा उसका वे प्रयोग कर सकते हैं या नहीं। नीचे कुछ प्रश्नों का उदाहरण दिया जाता है :—

(१) कारण बतलाने वाले प्रश्न

१—चन्द्रग्रहण किसी अन्य तिथि को न लगकर पूर्णिमा ही के दिन क्यों लगता है ?

२—पानीपत की पहली लड़ाई में हिन्दुओं की क्यों हार हुई ?

३—तुलसीदास जी ने भरत के लिए क्यों कहा है कि—"भरत महा महिमा जल रासी, मुनि मत ठाढ़ि तीर अबला सी।

४—पद्य गद्य से क्यों अधिक प्रभावशाली होता है।

५—मोड़ पर रेल की पटरियाँ एक दूसरे से ऊँची-नीची क्यों रखी जाती हैं।

(२) सम्बन्ध बतलाने वाले (रीलेशन्शिप)

१—भोजन का स्वास्थ्य से क्या सम्बन्ध है ?

२—विज्ञान के अध्ययन में गणित की अधिक आवश्यकता क्यों पड़ती है ?

(३) निर्णयात्मक (डिसीजन)

१—भगतसिंह और सुभाषचन्द्र बोस में तुम किसको अधिक प्यार करते हो ?

२—लिखित और मौखिक परीक्षा में तुम्हें अधिक अच्छी कौन लगती है ?

(४) विश्लेषणात्मक (एनलीसिस)

१—किन-किन गुणों के कारण तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं ?

(५) तुलनात्मक (कम्पैरीजन)

१—अशोक और अकबर की शासक की दृष्टि से तुलना करो।

(६) वर्गीकरणात्मक (क्लासीफिकेशन)

१—चमगादड़ पशु है कि पक्षी ?

(७) वर्णनात्मक (डिसकशन)

१—महात्मा गांधी की अहिंसा नीति की व्याख्या करो।

२—भक्ति-काल के कवियों की प्रधान विशेषताओं की ओर संकेत करो।

(८) आलोचनात्मक (क्रिटिसिज़्म)

किसी पद्य अथवा गद्य खण्ड या किसी छात्र के कथन की आलोचना के लिए कहना।

(९) विवेचनात्मक (डेवेलपिङ्ग)

इन प्रश्नों का उद्देश्य मस्तिष्क को कुशल बनाने का है। इससे विचार-शैली के व्यवस्थित और नियमित होने में बड़ा योग मिलता है। इससे छात्रों में उचित-अनुचित, शुद्ध-अशुद्ध का सतर्क निर्णय करने की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे प्रश्नों से बालक स्वयं कल्पना व तुलना करके परिणाम निकालता है, और अपने विचारों को इस प्रकार अंकित करने का प्रयत्न करता है कि लोगों पर उसकी शैली का वांछित प्रभाव पड़े। ऐसे प्रश्नों की रचना शिक्षक को ऐसी सतर्कता से करनी चाहिए कि बालकों को खूब सोचना पड़े। उदाहरणार्थ,

१—बिजली से मनुष्य को अधिक लाभ या हानि हुई है?

२—भौगोलिक दृष्टि से इङ्गलैण्ड और जापान की तुलना करो।

(१०) आवृत्यात्मक (रीवीज़नल)

ऐसे प्रश्नों में, जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, स्मृति की परीक्षा होती है। इससे पठित पाठ की परीक्षा की जाती है। उदाहरणार्थ,

१—किसी स्थान का जलवायु किन-किन बातों पर निर्भर करता है?

२—सन १८५७ के गदर के क्या-क्या कारण थे?

३—गाने की कितनी शैलियाँ हैं?

(११) प्रस्तावनात्मक (प्रीपरेटरी)

ऐसे प्रश्नों से पूर्व-ज्ञान की परीक्षा कर यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि विद्यार्थी आगे पढ़ने के लिये तैयार है अथवा नहीं। ऐसे प्रश्नों का क्रमिक होना आवश्यक है। ऐसा मालूम हो कि एक प्रश्न दूसरे से निकल रहा है।

(ख) उत्तर

१—उत्तर निकलवाना

जिस प्रकार प्रश्न करने की एक कला होती है वैसे ही उसी से सम्बन्धित उत्तर निकलवाने की भी एक कला मान ली जाय तो अनुपयुक्त न होगा। ट्रेनिङ्ग कॉलेज के विद्यार्थी कभी-कभी बड़ी-बड़ी आशायें लेकर पढ़ाने जाते हैं, पर जहाँ उनका मनचाहा उत्तर न आया, या गलत उत्तर आया तो उनका सारा मनसौदा बिगड़ जाता है और उनके मुख पर असफलता की रेखा स्पष्ट खिंच जाती है। ऐसी स्थिति में वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। कभी-कभी छात्रों से ऐसे उत्तर आते हैं कि शिक्षक हतबुद्धि सा हो जाता है। एक प्रसंग का उल्लेख यहाँ कर देना असंगत न होगा। एक छात्राध्यापक महोदय 'शेर और खरगोश' की कहानी पढ़ाने के लिए एक चित्र कक्षा में ले गये। उनके पूछने पर कि 'यह किसका चित्र है?" लड़कों ने कहा "आपका"। ऐसे उत्तर पर अध्यापक की मुद्रा ऐसी बिगड़ी कि सभी लड़के हँस पड़े और उनका उस दिन का पाठ चौपट हो गया। परिस्थिति को सँभालने के लिये हँसमुख मुद्रा और धैर्य के साथ शिक्षक को दुबारा पूछना चाहिये था कि "इसमें किन-किन जानवरों का चित्र है" ?, "अथवा इसमें तुम किसका चित्र देखते हो" यदि ऐसे ही अवसरों पर शिक्षक सावधानी व धीरता दिखलाए तो बालकों के उद्दण्ड उत्तर को भी किसी न किसी प्रकार वह एक व्यवस्थित ढंग पर ला सकता है। हाँ, यह सत्य है कि उत्तर देना बालकों के अधीन है। पर शिक्षक के कौशल का प्रमाण यह है कि छात्रों के उत्तर से वह अपना अभीष्ट सिद्ध करे।

शिक्षक में धैर्य और सतर्कता आवश्यक।

यहाँ शिक्षक में अधिक चतुरता अपेक्षित है। स्पष्ट है कि प्रश्न करने से उत्तर निकलवाने की कला कम महत्त्वपूर्ण नहीं, यद्यपि उत्तर प्रश्न पर ही अवलम्बित होता है।

यथासम्भव प्रत्येक को अवसर देना, कमजोर छात्रों से ठीक उत्तर दोहरवाना, सहानुभूतिपूर्वक उत्तर निकलवाना, उत्तर सोचने के लिए समय देना, छात्र को उसके नाम से सम्बोधित करना।

हम ऊपर कह आये हैं कि प्रश्न पूरी कक्षा से पूछ कर एक लड़के को उसके उत्तर के लिए सम्बोधित करना चाहिए। पर वह एक लड़का कौन हो? इसका निर्णय किस आधार पर किया जाय? प्रश्न करने पर कभी-कभी बहुत से छात्र उत्तर देने के लिये उत्सुक हो जाते हैं। उनकी यह उत्सुकता विनय-व्यवस्था में भी गड़बड़ी मचा देती है। कुछ लड़के बिना पूछे ही एक साथ उत्तर दे बैठते हैं। कुछ हाथ ऊपर उठाकर इस प्रकार हिलाने लगते हैं कि बहुत ही बुरा लगता है। यह आवश्यक नहीं कि उत्सुक दीखने वाले छात्र से ही उत्तर लिया जाय और दूसरों की अवहेलना की जाय। यथासम्भव प्रत्येक को अवसर देना चाहिए। अच्छा होगा कि शिक्षक कक्षा को पार्श्वों में बाँट ले और बारी-बारी से लड़कों से प्रश्न करे। उत्तर लेने के लोभ में तेज बालकों से ही प्रश्न पूछते रहना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। इससे अन्य छात्र उदास हो जाते हैं और कुछ ऊँघने भी लगते हैं। अतः प्रश्नों का वितरण ऐसा हो कि यथासम्भव प्रत्येक छात्र में क्रियाशीलता आ जाय। यदि छात्र बहुत कमजोर हुआ तो उसे दूसरों द्वारा दिये हुये ठीक उत्तर को ही दोहराने के लिए कहना चाहिए। यदि उत्तर देने में कुछ गलती

हो रही हो तो छात्र को डाँटकर बैठा देना अमनोवैज्ञानिक होगा। ऐसे समय शिक्षक को बीच-बीच में सहानुभूतिपूर्वक कुछ सहारा दे देना चाहिए, अर्थात् बीच-बीच में आवश्यक शब्द उसे कह देना चाहिए। यदि उत्तर का कुछ भी अंश ठीक हो तो उसके लिए छात्र को थोड़ी प्रशंसा अवश्य दे देनी चाहिए। पर प्रशंसा ऐसी न हो कि वह अपनी योग्यता का गलत अनुमान लगा ले। बार-बार शाबाशी देने की सकुनतक्रिया भी बड़ी बुरी लगती है। शिक्षक को बारी-बारी से इस प्रकार प्रश्न पूछने चाहिए कि सारी कक्षा उसके प्रभाव से आक्रान्त रहे। यदि पहली बार किसी आगे बैठे हुये छात्र से प्रश्न किया जाता है तो दूसरी बार किसी कोने या बीच में बैठे हुये छात्र से पूछना ठीक होगा। प्रश्न पूछ लेने के बाद तुरन्त उत्तर की अपेक्षा न करनी चाहिए। छात्रों को उत्तर सोचने के लिए कुछ समय देना आवश्यक है। कुछ शिक्षक प्रश्न पूछने के बाद "तुम बताओ" इतने झटके से कहते हैं कि लड़का चौंक उठता है। प्रश्न का उत्तर बड़ी सरलता से माँगना चाहिए। तर्जनी अंगुली से इंगित करते हुये नाम पुकार कर प्रश्न करना बड़ा मनोवैज्ञानिक है। अपना नाम सबको बड़ा प्यारा होता है। जब छात्र शिक्षक के मुख से अपना नाम सुनते हैं तो वे बड़े प्रसन्न होते हैं। वे इस बात की गुरुता अनुभव करते हैं कि "मास्टर साहब को मेरा भी नाम याद है।" इसलिये शिक्षकों को अपने छात्रों का नाम अवश्य याद कर लेना चाहिए। छात्रों को नाम लेकर पुकारने से विनय-स्थापन में भी कुछ सहायता मिलती है। बहुधा देखा जाता है कि बहुत से शिक्षक महोदय बालक का नाम जानते हुए भी इस बात का अभिनय करते हैं कि मानो वे उसके नाम से अनभिज्ञ हैं, ऐसा करने में वे एक

प्रकार का बड़प्पन अनुभव करने का थोथा प्रयास करते हैं और ऐसी मुख-मुद्रा बनाते हैं मानो बालक का नाम लेना उनके महत्त्व व गौरव के प्रतिकूल है और उससे अनभिज्ञता प्रकट करना किसी ऊँचे पदाधिकारी की सी गंभीरता व महत्ता रखता है। वास्तव में शिक्षक को न केवल नाम ही जानना चाहिये अपितु बालक के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। शिक्षक के द्वारा किसी प्रकार का कृत्रिम दम्भ करना बालक को मार्मिक आघात पहुँचा सकता है और उसकी जान बूझ-कर की गई अवहेलना के समकक्ष है, तथा उसके व्यक्तित्व की अस्वीकृति व निरादर है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि निर्देशक (प्वाइन्टर) अथवा रोलर से प्रश्न पूछते समय बालकों की ओर संकेत करना अच्छा नहीं। इससे छोटे-छोटे बालक दण्ड पाने के लिए भय से आती हुई बात भी भूल जाते हैं, और बड़े छात्रों को भी यह बहुत ही बुरा लगता है, क्योंकि इसमें कुछ अनादर का भाव छिपा रहता है।

सम्बोधित करते समय छात्रों को 'तुम' ही का प्रयोग करना चाहिए। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उन्हें अनादर की दृष्टि से देखना चाहिए। "आप" शब्द के प्रयोग से छात्रों के मन में शिक्षक के दब्बूपन की भावना आ जाती है और कभी-कभी वे शिक्षक के सर पर चढ़ने के लिये तैयार हो जाते हैं। यही कारण है कि "आप कह कर सम्बोधित करने वाले अध्यापक की कक्षा में बहुधा विनय-व्यवस्था ढीली दिखलाई पड़ती है। तुम शब्द के प्रयोग में आत्मीयता झलकती है। इसीलिये तो माँ को बहुधा तुम ही कह कर सम्बोधित किया जाता है।

छात्र से समीपता स्थापित करने के लिये "तुम" शब्द का प्रयोग।

शिक्षक को ध्यान रहे कि प्रश्न पूछने पर सम्बोधित विद्यार्थी अपने स्थान पर शीघ्र खड़ा होकर उत्तर के लिये तैयार हो जाँय। बड़ी कक्षा के विद्यार्थियों में इसमें बड़ा आलस्य दिखलाई पड़ता है। कुछ लड़के अँगड़ाइयाँ लेते हुये उठते हैं। कुछ इतने टेढ़े खड़े होते हैं कि अष्टावक्र का चित्र सा खिंच जाता है। कुछ मेज पर झुक कर खड़े होते हैं। कुछ बेंच पर एक पैर रखकर खड़े होते हैं। खड़े होने के इन सब आसनों (पॉस्चर्स) और उत्तर देने की क्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि हमारे शरीर से तत्परता की मुद्रा नहीं झलकती तो किसी काम में हमारा मन एकाग्र नहीं हो सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि उत्तर देते समय छात्र ठीक से खड़े हों। छात्रों का उत्तर देने के समय ठीक से खड़ा होना विनय-व्यवस्था के ही अन्तर्गत आता है। छोटी कक्षा के नन्हें-नन्हें बालक तत्परता से 'सावधान' के आसन में सैनिकों की तरह खड़े होने में बड़ा आनन्द लेते हैं। अतः ऐसे विद्यार्थियों का तो विशेषतः सैनिकों की भाँति खड़े होने की शिक्षा देनी चाहिए। शिक्षक को यह समझ लेना चाहिए कि जिस विद्यार्थी को प्रश्न का उत्तर नहीं आता वह बड़ी ढिलाई से खड़ा होता है। ऐसे विद्यार्थियों पर प्रारम्भ में ही बहुत समय नष्ट कर देना ठीक न होगा। यदि उत्तर देने में बालक बिलकुल असमर्थ हो तो शिक्षक को दूसरे से उत्तर माँगना चाहिए। असफल विद्यार्थियों को बैठने को आज्ञा ठीक उत्तर की आवृत्ति कर लेने के बाद ही देनी चाहिए। यदि कोई बालक औसत से बहुत नीचे हुआ और किसी उत्तर के दोहराने में निरा असफल होता हो तो उसे कक्षा के बाहर ही आवश्यक

उत्तर देने के समय छात्रों का ठीक से खड़ा होना, असमर्थ विद्यार्थी पर अधिक समय देना ठीक नहीं।

माँगना बुरा न होगा। परन्तु इन पाठों में भी कहीं-कहीं प्रसंगानुसार छूट देनी आवश्यक हो सकती है।

२—उत्तर का रूप कैसा हो ?

अब हमें यह देखना चाहिये कि उत्तर किस रूप में स्वीकार किया जाय। शिक्षा-शास्त्रियों ने आदर्श उत्तर के निम्नलिखित गुणों की ओर संकेत किया है :—

१—व्याकरण और भाषा की दृष्टि से शुद्ध (ग्रैमेटिकल)
२—उचित (प्रॉपर)
३—प्रासंगिक (रेलेवेण्ट)
४—संगत (लॉजीकल)
५—सार्थक (मीनिङ्गफुल)
६—आवश्यक (नेसेसरी)

यद्यपि यह सब गुण इतने स्पष्ट हैं कि इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं, पर नीचे कुछ उदाहरणों का दे देना अप्रासंगिक न होगा।

भाषा की शुद्धता पर प्रत्येक विषय में ध्यान।

शिक्षक को यह समझना ठीक नहीं कि भाषा की शुद्धता पर ध्यान केवल भाषा तथा साहित्य के पाठ में ही देना चाहिए। गणित, विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास आदि सभी प्रकार के पाठों में भी भाषा की शुद्धता पर ध्यान देना आवश्यक है। भाषा ही एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्ति अपने भावों का प्रकाशन करता है। इस साधन के अभाव में विषय-ज्ञान रखता हुआ भी व्यक्ति कुछ कहने में असमर्थ होता है। इसी साधन के सहारे प्रत्येक विषय में पुस्तकों की रचना की जाती है। प्रायः सभी का यह अनुभव होगा कि भाषा-शक्ति के

सहारे साधारण सी बात का भी इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि मुख से बरबस "वाह ! वाह !" निकल पड़ता है। भाषा की शुद्धि में केवल व्याकरण सम्बन्धी ही गलतियों पर ध्यान देना अपेक्षित नहीं। यह भी ध्यान देना आवश्यक होगा कि बालक प्रधानतः एक ही भाषा का प्रयोग कर रहा है। हिन्दी और अँग्रेजी की खिचड़ी भाषा का प्रयोग करना अथवा तत्सम संस्कृत व फारसी के शब्दों का प्रयोग करना ठीक नहीं। ऐसी गड़बड़ी प्रायः हिन्दी-भाषी विद्यार्थियों में अधिक होती है; क्योंकि अभी सर्वमान्य रूप से यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि हिन्दी में किन संस्कृत, फारसी या उर्दू के शब्दों को स्वीकृत किया जाय। दूसरे, अँग्रेजी भाषा की अब तक इतनी प्रधानता रही है कि हम बिना दो एक अँग्रेजी शब्द का प्रयोग किये अपने भावों का प्रकाशन कर ही नहीं पाते। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि अँग्रेजी भाषा का प्रयोग करना पाप है। अभिप्राय केवल इतना ही है कि बालकों में भाषा-शक्ति के विकास के लिए यथासम्भव एक सर्वमान्य शब्दावलियों पर निर्भर रहना ठीक होगा। यदि इस बात पर हम प्रारम्भ से ही ध्यान दें तो बालकों अर्थात् भावी नवयुवकों से खिचड़ी भाषा का प्रयोग निकालना कठिन न होगा।

उत्तर के औचित्य पर ध्यान देने का अर्थ यह है कि विद्यार्थी भद्दे शब्दों का प्रयोग न कर बैठें। कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनका प्रयोग घरेलू अथवा 'लँगोटिया-यारी-मण्डली' में ही होता है। सभ्य समाज में उनका प्रयोग बड़ा भद्दा लगता है। उदाहरणार्थ, कक्षा में यह कहना कि "पण्डितजी ने आज खूब लड्डू और पूड़ी झोरी" ठीक न होगा। "झोरो" शब्द का

भद्दे शब्द का प्रयोग नहीं, मानसिक अवस्था विकास के अनुसार।

प्रयोग वीभत्स है। कक्षा में इसके स्थान पर "खाई" शब्द का ही प्रयोग करना ठीक होगा। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। उचित उत्तर का सम्बन्ध बालकों की मानसिक अवस्था से भी है। उनकी अवस्थानुसार एक ही प्रश्न का उत्तर थोड़े में अथवा विस्तार पूर्वक लिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'अकबर के शासन प्रबन्ध' के वर्णन में पाँचवीं और दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों के उत्तर में बड़ी भिन्नता होगी।

केवल आवश्यक बातें ही बतलाना।

प्रासंगिक उत्तर का अर्थ यह है कि जितना पूछा जाय उतना ही उत्तर भी दिया जाय। कभी-कभी विद्यार्थी प्रश्न का ठीक अर्थ न समझने से अथवा जितना आता है सब दिखलाने की उत्कट इच्छावश आवश्यकता से अधिक बातें कह और लिख जाता है। बालकों से स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिए कि उत्तर देने के पहले वे प्रश्न की माँग को भलीभाँति समझ लें और सब कुछ आते हुये ज्ञान को प्रदर्शित कर देने के लोभ का वे संवरण करें।

माँग और पूर्ति में संगति।

संगत उत्तर का अर्थ यह है कि प्रश्न की माँग और पूर्ति में संगति दिखलाई पड़े। उदाहरणार्थ, "तुम्हारे पास कितनी भैंसे हैं?" का उत्तर "मेरे पास चार गायें हैं" असंगत है, क्योंकि प्रश्न भैंस की संख्या की माँग करता है, गाय की नहीं।

प्रश्न के उद्देश्य की पूर्ति।

सार्थक उत्तर का अर्थ है कि उसमें निरर्थक बातें न हों और कहने का तात्पर्य तथा प्रश्न का उद्देश्य पूरा हो। उदाहरणार्थ, "महात्मा बुद्ध कौन थे?"—इस प्रश्न का यह उत्तर कि शुद्धोधन के पुत्र"—सार्थक नहीं। वस्तुतः

शुद्धोधन के पुत्र राजकुमार सिद्धार्थ थे, न कि गौतम बुद्ध। 'गौतम बुद्ध' से बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध का ही संकेत होना चाहिए।

शब्दाडम्बर न हो।

आवश्यक उत्तर का तात्पर्य यह है कि उसमें व्यर्थ का शब्दाडम्बर न हो! प्रायः लड़के परीक्षाओं में कई कापियाँ रंग आते हैं, पर उन्हें अंक बहुत कम मिलते हैं। यह भ्रान्ति सी फैल गई है कि पृष्ठ भरने से अधिक नम्बर मिलते हैं। उदाहरणार्थ, महाराणा प्रताप कौन थे ?"—इस प्रश्न के उत्तर में राजपूत-कुल-कमल-दिवाकर, भारत गौरव, प्रातः स्मरणीय, देश-भक्त तथा स्वतन्त्रता देवी के पुजारी श्रीमान् महाराणा प्रताप को कौन नहीं जानता ? वे राणा साँगो के पुत्र थे।" इस उत्तर में बहुत से विशेषणों का शब्द-जाल बड़ा ही बुरा और अनावश्यक है।

(३) अशुद्ध उत्तरों को कैसे ठीक किया जाय ?

शुद्ध शब्द की ओर शीघ्रातिशीघ्र ध्यान आकर्षित करना, सबके असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता।

ऊपर हम कह आये हैं कि गलत उत्तर देने पर बालकों को डाँटना व फटकारना अमनोवैज्ञानिक है ; ऐसा करने से बालक उत्साहहीन हो जाता है और सही उत्तर भी देने में गलती के भय से हिचकिचाता है। उत्तर में दो प्रकार की गलती होती है १—भाषा और २—तथ्य की। बालकों के गलती करने पर यथा-सम्भव शीघ्रतिशीघ्र शुद्ध शब्द की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना चाहिए। यदि किसी वाक्य को शुद्ध करने के लिये उसे श्यामपट्ट पर लिखना आवश्यक हुआ तो उसे वहाँ अधिक देर तक न रहने

देना चाहिए। गलतियों के अधिक देर तक सामने रहने से उनका प्रभाव बुरा पड़ता है। उच्चारण, व्याकरण अथवा भाषा सम्बन्धी गलतियाँ जल्दी से जल्दी ठीक करना आवश्यक है। गलती ठीक करने के लिए पहले किसी दूसरे बालक से ही कहना चाहिए। पूरी कक्षा के असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता अपेक्षित है। इसका अर्थ यह नहीं कि "तुम बताओ, तुम बताओ" की प्रत्येक बालक पर आवृत्ति की जाय। तीन-चार से पूछने के बाद "कौन बता सकता है?" इतना कह देने से ही पूरी कक्षा से पूछने का अभिप्राय हो जाता है। ट्रेनिङ्ग कालेज के विद्यार्थियों को यह प्रश्न बहुत तंग किया करता है कि "बालकों की गलतियों का सुधार कब किया जाय।" इस संबन्ध में कोई कड़ा नियम नहीं बनाया जा सकता। शीघ्रातिशीघ्र गलती का परिमार्जन कर देना ही अधिक मनोवैज्ञानिक दीख पड़ता है, क्योंकि तभी बालक अच्छी तरह सीख सकता है। परन्तु इस नियम में एक छूट भी दी जा सकती है। उदाहरणार्थ, बालक का स्वरवाचन यदि बहुत अच्छा हो रहा है और बीच में एकाध बार कोई गलती होती है तो उसके वाचन में विघ्न डालना ठीक न होगा। वाचन समाप्त होने के बाद ही उससे कहना उचित है। पर ऐसे उदाहरण बिरले ही होते हैं। भाषा भूगोल, इतिहास, गणित तथा विज्ञान आदि के पाठ में उत्तर की त्रुटि को तत्काल ही शुद्ध करना ठीक है। स्पष्ट है कि त्रुटि संशोधन की समस्या ऐसी है कि उस विषय में शिक्षक ही निर्णय कर सकता है। परिस्थिति के अनुसार उसे किसी गलती को तुरन्त या बाद में ठीक करने की स्वतन्त्रता है; पर यह याद रहे कि किसी भी गलती की अवहेलना न हो। बालकों के सामने कोई गलत

उदाहरण न आवे। इसके लिए कुछ शिक्षा-शास्त्रियों का तो कहना है कि पहले ठीक उत्तर देने वाले छात्रों से ही पूछना चाहिए और उसके बाद उसकी आवृत्ति कमजोर छात्रों से करा लेनी चाहिए। पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं मालूम होता। इससे कुछ छात्रों में मानसिक आलस्य और उदासीनता आ जायगी और अपना काम दूसरे के उत्तर की आवृत्ति करने तक ही वे सीमित समझेंगे।

छात्रों के उत्तर को न दोहराना।

कुछ अध्यापकों में बालकों के उत्तर दोहरा देने की आदत पड़ जाती है। यह निन्दनीय है, क्योंकि इससे समय नष्ट होता है और बालकों में ध्यानपूर्वक बात सुनने की आदत नहीं पड़ती। वे सोचते हैं कि 'मास्टर साहब' तो एक बार आवृत्ति अवश्य ही करेंगे। हम यह मानते हैं कि बालकों के उत्तर को दोहराना शिक्षक के लिए कभी-कभी आवश्यक हो जाता है, पर इसकी आदत न पड़े तो अच्छा है।

जोर से उत्तर निकलवाना।

शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्न को तरह उत्तर पर भी इतना जोर दिया जाय कि कक्षा के सभी छात्र उसे भली-भाँति सुन लें। कुछ छात्रों में बड़े धीरे से बोलने की आदत होती है और कुछ इतने जोर से बोलते हैं कि वह उद्दण्डता सी जान पड़ती है। धीरे से बोलने वाले छात्रों को मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से उत्साहित करना चाहिए। "आज खाया नहीं क्या रे ?"—अथवा "बुड्ढा हो गया क्या रे ?" इत्यादि कहकर छात्रों को लज्जित करना उचित

नहीं। मीठे व गम्भीर स्वर में उन्हें बोलना सिखलाने के लिए आवश्यक है कि शिक्षक भी वैसा ही व्यवहार करे।

यद्यपि छात्रों के ठीक उत्तर देने पर उनकी प्रशंसा का संकेत कर देना मनोवैज्ञानिक है; पर 'शाबाश', 'ठीक' या 'बहुत ठीक' इत्यादि शब्दों की झड़ी लगा देना बड़ा ही बुरा है। कुछ शिक्षकों को इन शब्दों के प्रयोग करने की इतनी आदत पड़ जाती है कि छात्र उनका 'उपनाम' ही "शाबाश" व 'ठीक' इत्यादि रख देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि शिक्षक को बहुत संभल कर व्यवहार करना चाहिए।

बहुत से प्रशंसा-सूचक शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं।

कभी-कभी उत्तर निकलवाने में शिक्षक को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि छात्रगण उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते। ट्रेनिङ्ग कॉलेज के विद्यार्थी तो इसे अपनी बड़ी भारी असफलता समझते हैं और निरुत्साह में अपना सारा पाठ बिगाड़ बैठते हैं। प्रश्न का यथोचित उत्तर न आने पर शिक्षक को अपने प्रश्न के रूप पर दृष्टि-पात करना चाहिए; क्योंकि कभी-कभी प्रश्न की विषमता ही इसमें बाधक होती है। ऐसी स्थिति में विश्लेषण कर प्रश्न को कई अंगों में बाँट देना चाहिए। उत्तर देते समय बीच-बीच में छात्रों को दो एक शब्द या विचार का सहारा दे देना चाहिए। इससे उनका लाभ होता है। छात्र उत्तर देने में सफल होकर सन्तोष का अनुभव करते हैं।

कठिन प्रश्नों का विश्लेषण और उनके उत्तर में बीच-बीच में सहायता।

कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार कभी-कभी छात्रों को

भी प्रश्न पूछने का अवसर देना चाहिए। पठित-विषय की कठिनाई को समझने के लिये छात्रों को प्रश्न पूछने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस प्रकार बिना विचार-विनिमय हुये पाठ के आवश्यक अंगों पर सभी छात्रों का ध्यान सरलता से न जायगा। शिक्षक को उचित है कि छात्र के प्रश्न का आदर्श रूप से उत्तर दे, जिससे वे उत्तर देने की कला सीख सकें और अपनी भाषा सुसंगठित और संयत बना सकें। पर छात्रों को किसी भी प्रकार के विषयान्तरित प्रश्न करने की स्वतन्त्रता दे देना मूर्खता का द्योतक होगा। आजकल कुछ ऐसी हवा उड़ी है कि कुछ छात्र अध्यापकों का मजाक उड़ाने को ताक में रहा करते हैं। ऐसी स्वतन्त्रता मिलने पर वे ऐसे मन गढ़न्त प्रश्न पूछने लगेंगे जो अध्यापक के सामर्थ्य के बाहर हो सकते हैं। कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिये "मुझे नहीं आता" यह कहकर शिक्षक सत्य की रक्षा भले ही कर ले। पर इससे उसकी अल्पज्ञता का प्रकाश बालकों को मिल ही जाता है। फलतः उनका अज्ञात मन शिक्षक का आदर नहीं करता। अज्ञातमन सदा भोला और सच्चा होता है। वह अपनी इच्छा की पूर्ति व्यक्ति के अनजान में भी कर लेता है। शिक्षक के कुछ अच्छी बात कहने पर भी छात्र उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। इस प्रकार शिक्षक का आधा अस्तित्त्व ही नष्ट हो जाता है। अतः छात्रों को विषयान्तरित प्रश्न करने की स्वतन्त्रता न देनी चाहिए।

छात्रों को भी प्रश्न पूछने की आवश्यक सुविधा, विषयान्तरित प्रश्न पूछने की स्वतन्त्रता नहीं।

सहायक पुस्तकें

१—रिस्क—प्रिन्सीपिल्स ऐण्ड प्रैक्टीसेज़ ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स—अध्याय २३

२—बॉसिङ्ग नेलसन एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स–अध्याय १०
३—हीर एमॉस एल०—स्टेप्स टु बेटर टीचिङ्ग–अध्याय १६
४—स्ट्रक, एफ० थ्योडोर—क्रिएटिव् टीचिङ्ग–अध्याय ६
५—लैन्सलॉट, डब्लू० एच—परमानेण्ट लर्निङ्ग–अध्याय १७
६—उडरफ़, एसेहेल डी०—द साइकॉलॉजी ऑव् टीचिङ्ग
७—चतुर्वेदी और रुद्र—अध्यापन कला, अध्याय ८, ६
८—हा गुस—लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग–अध्याय १६

———

नवाँ अध्याय

शिक्षण के कुछ अन्य उपकरण

१—शिक्षक द्वारा व्याख्या

आवश्यकतानुसार कम से कम, उतार-चढ़ाव, उचित मुख-मुद्रा और अंग संचालन, अधिक उपदेशात्मक नहीं।

प्रश्न करने के अतिरिक्त कभी-कभी शिक्षक को अपनी व्याख्या-शक्ति के आधार पर भी बालकों को समझाना पड़ता है। अतः अब व्याख्या के ढंग तथा उनके अपेक्षित गुणों का उल्लेख करना आवश्यक दीख पड़ता है। अध्यापक को विषय का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। सभी दृष्टिकोण से उसे अपने विषय पर पाण्डित्य होना चाहिए। उसमें बालकों के प्रति सहानुभूति का होना आवश्यक है। इसके बिना वह उनकी कठिनाइयों को न समझ सकेगा। व्याख्या देने के आवेश में शिक्षक को यह न भूलना चाहिए कि बालकों को व्याख्यान विशेष अच्छा नहीं लगता। उन्हें तो अपनी ही क्रियाशीलता में आनन्द आता है। ऊँची कक्षाओं में प्रश्नोत्तर-प्रणाली में विद्यार्थियों को जितना आनन्द आता है उतना शिक्षक की वाणी में नहीं। अतः शिक्षक को अपनी व्याख्या का प्रयोग मनोवैज्ञानिक रूप में उचित ढंग से करना चाहिए। शिक्षक को अपनी वाणी में भावानुसार आवश्यक उतार-चढ़ाव लाना आवश्यक है। इसके बिना उसका प्रभाव बहुत ही कम पड़ता है। ऐसी दशा में कक्षा में विद्यार्थी ऊँघते हुये देखे जाते हैं। उचित मुख-

मुद्रा और अंग-संचालन से व्याख्या की नीरसता कम हो जाती है। कथन को अधिक उपदेशात्मक बनाना ठीक नहीं, क्योंकि कोरे उपदेश बालकों को अच्छे नहीं लगते। कथन का अधिक वैज्ञानिक व साहित्यिक होना भी रुचिकर नहीं होता। कथन के समय बालकों की सीमित योग्यता पर ध्यान देना आवश्यक है।

शिक्षक को अन्य विषयों का भी ज्ञान, उनकी ओर प्रसंगानुसार संकेत।

कथन को रोचक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षक को अपने विषय के अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण रुचि के विषयों का ज्ञान हो, जिससे प्रसंगानुसार विषयान्तर में वह प्रस्तुत विषय का अन्य विषयों से सम्बन्ध की ओर भी संकेत कर सके। यदि भूगोल, इतिहास तथा साहित्य आदि पढ़ाते समय चित्रकला, संगीत, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा राजनैतिक विषयों पर प्रसंगानुसार कुछ संकेत किया जा सका तो मानो सोने में सुगंध भी आ गई। इससे विद्यार्थियों में शिक्षक के प्रति श्रद्धा और प्रेम बढ़ जाता है और उसकी बात को वे ध्यानपूर्वक सुनते हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि पाठ्य-विषय को छोड़ इन्हीं सब विषयों पर व्याख्यान दिया जाय।

आत्म-प्रशंसा न हो।

शिक्षक को अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। कुछ शिक्षक अवसर पर अपने विषय में बातें करते नहीं थकते। इसका बालकों पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी आलोचना-शक्ति बड़ी पैनी होती है। वे ऐसे अध्यापकों का लोहा कभी नहीं मानते। उनकी विद्वता पर भी उनका

विश्वास नहीं रहता जिस विषय से शिक्षक का परिचय न हो उस पर उसका न बोलना ही ठीक होगा।

अपने कथन में शिक्षक यदि तुलना का आधार ले तो वह विषय को बालकों के लिए सरलता से बोध-गम्य बना सकता है। तुलना, विरोध व समानता दोनों दिखला कर की जा सकती हैं। भूगोल के पाठ में जापान और बृटिश द्वीप समूह की, इतिहास में अशोक व अकबर तथा साहित्य में तुलसी व सूर आदि की तुलना विषय को अधिक रोचक बना देगी। ज्ञात से तुलना करने पर अज्ञात का समझना कठिन नहीं, क्योंकि इससे भावों, विचारों और परिस्थितियों का ऐसा साहचर्य्य आ जाता है जो मानसिक प्रक्रिया में बड़ा सहायक होता है। इस विधि की सहायता से विद्यार्थी नये ज्ञान को अपने मन में सरलता से बैठा लेते हैं और नये विषय के बारे में ठीक बातों का स्वयं अनुमान लगाने में वे सफल हो जाते हैं।

तुलना का आधार।

विरोधात्मक भावों के उपस्थित करने से भी आवश्यक बातें समझने में बड़ी सहायता मिलती है। साहित्य में क्लिष्ट शब्दों को उनके विरोधी शब्दों से विद्यार्थियों को सरलता से समझाया जा सकता है। जैसे "अनुपम" का अर्थ निकालने के लिए पूछा जा सकता है कि 'भद्दा का उलटा क्या है?' उत्तर 'सुन्दर' आया। इस प्रकार अनुपम तथा अन्य क्लिष्ट शब्दों का अर्थ सरलता से समझाया जा सकता है। पर इस प्रकार की व्याख्या में शिक्षक को यह ध्यान रखना चाहिए कि बतलाया हुआ शब्द पहले

विरोधी शब्दों, परिभाषा, विग्रह, वस्तु वा चित्र-प्रदर्शन, तथा अभिनय आदि की सहायता।

का केवल पर्यायवाची ही न हो, वरन् समानार्थक भी हो, यदि यह सम्भव न हो तो कठिन शब्दों की व्याख्या परिभाषा से भी की जा सकती है। कभी-कभी इस विधि में अधिक सुविधा होती है। व्याख्या के समय शब्दों का विग्रह करना भी आवश्यक हो सकता है। भाव-स्पष्टता के लिये उपयुक्त वस्तु अथवा चित्र-प्रदर्शन में भी कोई हानि नहीं। क्रिया की ओर संकेत करने वाले शब्दों का स्पष्टीकरण उचित अभिनय द्वारा ही करना ठीक होगा। ऊँची कक्षाओं में शब्द की उत्पत्ति की ओर भी विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

व्याख्या के बीच-बीच में प्रश्न।

किसी परिच्छेद की व्याख्या में शिक्षक का सर्वप्रथम कठिन शब्दों की ओर ध्यान देना चाहिये। इसके बाद पूरे परिच्छेद के भाव को बालकों से सरल भाषा में कहलवाना चाहिए। उनके असफल होने पर शिक्षक स्वयं व्याख्या दे। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि उसकी व्याख्या लम्बी न हो और सरल शब्दों की व्याख्या में समय नष्ट न किया जाय। चतुर शिक्षक व्याख्या के समय भी बीच-बीच में बालकों से प्रश्न पूछा करते हैं।

वर्णन-प्रणाली; छात्रों के निजी अनुभव की ओर भी संकेत करना; यथास्थान चार्ट, चित्र

भूगोल व इतिहास के पाठ में वर्णन का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। वर्णन में शिक्षक को बड़ी सतर्कता से काम लेना है। बीच-बीच में बालकों के व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों का पूछना बड़ा ही आवश्यक है। पाठ कितना ही क्लिष्ट क्यों न हो, पर किसी न किसी प्रकार उसमें बालकों

और श्यामपट का उपयोग।

के निजी अनुभव की ओर संकेत किया ही जा सकता है। यह बात, विज्ञान गणित व नागरिक-शास्त्र आदि सभी विषयों में लागू है। शिक्षक को यह ध्यान रखना है कि वर्णन बहुत लम्बा न हो। वर्णन के पूरे कथानक को छोटी-छोटी अन्वितियों में बाँट कर एक अन्विति के अन्त में बालकों से कुछ प्रश्न करना आवश्यक है। इससे उनमें क्रियाशीलता आ जाती है और यह पता चल जाता है कि अध्यापन को वे कहाँ तक समझ रहे हैं। भूगोल और इतिहास के शिक्षण में विशेषतः इन विधियों का अनुसरण किया जाता है। वर्णन करते समय यथास्थान चार्ट, चित्र, मान-चित्र और श्यामपट के प्रयोग की भी आवश्यकता होती है। इन सबों के उपयोग से वर्णन में सरसता आ जाती है, क्योंकि सदा वर्णन ही राम-बाण नहीं सिद्ध हो सकता।

२—प्रदर्शन-सामग्री

चार्ट, मानचित्र व चित्र जो दिखलाये जाँय उनका रुचिकर होना आवश्यक है। छोटे बच्चों की कक्षा में तो इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उन्हें तड़क-भड़क से विशेष रुचि होती है। सूक्ष्म को वे सरलता से नहीं समझ सकते। इसलिए उनके सामने यथा-सम्भव स्थूल का ही रखना अधिक मनोवैज्ञानिक होगा। परन्तु प्रदर्शन-सामग्री इतनी आकर्षक न हो कि मुख्य विषय गौण हो जाय। इससे साधन का ही महत्त्व साध्य से बढ़ जाता है। कुछ नये-नये अध्यापक कक्षा में प्रदर्शन-सामग्री इतनी ले जाते

रुचिकर, पर विशेष आकर्षक नहीं, प्रदर्शन-वस्तु का बहुत छोटा होना ठीक नहीं।

हैं कि कभी-कभी उन्हें कई आदमियों के ढोने की आवश्यकता हो जाती है। फलतः उनका पाठ मदारी का खेल हो जाता है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि प्रदर्शन-वस्तु इतनी बड़ी हो कि उसे एक स्थान से ही सभी लड़के समझ सकें। यदि उसे दिखाने के लिए शिक्षक को एक कोने से दूसरे कोने जाना हुआ तो 'विनय-व्यवस्था' में गड़बड़ी होगी और समय भी नष्ट होगा। कोने-कोने जाकर दिखलाने में सभी बालकों को समान अवसर भी नहीं मिलता। अतः उनमें से कुछ अप्रसन्न और उदास हो जाते हैं। वे समझते हैं कि 'मास्टर साहब' की सहानुभूति उनकी ओर कम है।

प्रदर्शन-वस्तु का पाठ के अनुसार होना बड़ा ही आवश्यक है। पहाड़ी दृश्य को समझाने के लिए अनेक पहाड़ के चित्र दिखलाना युक्तिसंगत नहीं। एक ही का काफी लम्बा चित्र पर्याप्त होगा। प्रदर्शन-वस्तु को शीघ्र ही दिखलाकर दृष्टि से ओझल कर देना ठीक नहीं।

पाठ के अनुसार, बालकों के सामने काफी देर तक रखना।

वांछित प्रभाव के लिये उसे बालकों के सामने काफी देर रखना आवश्यक है। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार प्रदर्शन-वस्तु को शीघ्र ही दृष्टि से परे कर देना चाहिए, नहीं तो बालक पाठ पर ध्यान न देकर उसी को देखते रहते हैं। किसी प्रदर्शन-वस्तु को कितनी देर तक बालकों को दिखलाय जाय इसका निर्णय शिक्षक ही कर सकता है। प्रसंगानुसार वही इस बात को समझ सकता है। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रदर्शन-वस्तु का जरा सा दर्शन करा कर ढक देना न दिखलाने से भी बुरा है।

३—श्यामपट का प्रयोग

अध्यापन में श्यामपट का प्रयोग बड़ा महत्त्वपूर्ण है। प्रायः

आलसी शिक्षक ही श्यामपट के प्रयोग से डरते हैं; उन्हें मौखिक वर्णन ही अच्छा लगता है। ऐसे अध्यापक बालकों पर वांछित प्रभाव डालने में सफल नहीं होते। किसी प्रदर्शन-वस्तु के स्थान पर शिक्षक का श्यामपट पर रेखा-चित्र खींच देना पाठ में कभी-कभी अधिक सहायक होता है। एक तो इसमें समय कम लगता है, दूसरे बालक भी वैसा ही बनाने की चेष्टा कर सकते हैं, तीसरे इससे शिक्षक की बड़ी धाक जम जाती है। अतः शिक्षक को रेखा व मान-चित्र बनाने में निपुण होना उतना ही आवश्यक है जितना कि व्याख्या अथवा वर्णन की शैली में। समय-समय पर श्यामपट पर कुछ लिखते रहने से शिक्षण-विधि में कुछ परिवर्त्तन आ जाता है। यह परिवर्त्तन बालक के लिये बड़ा रोचक और लाभदायक होता है। एक तो उनका ध्यान विषय की ओर अधिक आकर्षित हो जाता है, दूसरे ऊँघने वाले लड़कों में इससे कुछ अधिक स्फूर्ति आ जाती है।

श्यामपट के उचित प्रयोग में शिक्षक की पटुता।

श्यामपट पर किया हुआ काम इतना साफ व बड़ा हो कि कक्षा के सभी बालक उसे देख व समझ सकें। जो कागज पर अच्छा लिखते हैं उनका श्यामपट पर भी अच्छा लिख देना निश्चित नहीं। कभी-कभी कागज पर खराब लिखने वाले भी श्यामपट पर अच्छा लिख लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि श्यामपट पर अच्छा लिखने के लिये काफी अभ्यास की आवश्यकता है। श्यामपट पर समान आकार और सुन्दर लिखने का बालकों पर बड़ा

श्यामपट पर सुन्दर लिखना अभ्यास से सम्भव; सुन्दर, बड़ा और शुद्ध लिखना; लिखे जाने वाले शब्द को बोलते रहना; समान आकार और

सीधी पंक्तियाँ; चमकीले अक्षर।

मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई बात को वे सरलता से याद कर लेते हैं और वे भी वैसा ही सुन्दर लिखने का प्रयत्न करते हैं। यथा-सम्भव श्यामपट पर सीधा अक्षर लिखना चाहिए, क्योंकि इससे छात्रों की आँख पर जोर कम पड़ता है। शिक्षक को यह ध्यान रहे कि श्यामपट के कार्य में कुछ गलती न रह जाय। अतः उसे दोहरा लेना आवश्यक है। श्यामपट पर प्रायः लोग अक्षरों पर बिन्दियाँ देना भूल जाते हैं। कभी-कभी मात्राओं और संयुक्ताक्षरों में भी गलती हो जाती है। यदि शुद्ध शब्द को बतलाने के लिये कभी श्यामपट पर किसी अशुद्ध शब्द के लिखने की आवश्यकता हुई तो उसे शीघ्र ही मिटा देना चाहिए, नहीं तो कुछ लड़के अशुद्ध ही लिखना सीख लेते हैं। जब शिक्षक श्यामपट पर लिखता रहता है तो पीछे बालकों के आपस में बातचीत करने का कुछ भय रहता है। इसके लिए शिक्षक को लिखे जाने वाले शब्द बोलते जाना चाहिए। इससे बालकों का ध्यान आकर्षित रहता है और शिक्षक के साथ वे भी लिखते जाते हैं। श्यामपट पर अक्षरों का समान आकार का होना आवश्यक है। अक्षरों को सीधी पंक्तियों में लिखना चाहिए। पंक्तियों को समान दूरी पर होना चाहिए। इन सबका यह मतलब नहीं कि लिखावट में ही बहुत समय लगा दिया जाय। प्रारम्भ में कुछ अधिक समय अवश्य लग जाता है, पर अभ्यास हो जाने पर शीघ्रता से लिखना आ जायेगा। खड़िया को खूब दबा कर लिखा जाय, जिससे अक्षर चमकीले बनें।

चित्र आदि के श्यामपट पर खींचने में शिक्षक को यह

ध्यान रहे कि वह अपने कला-प्रदर्शन की भावना में न रंग जाय । इससे समय अधिक लग जायगा और अनावश्यक चित्र भी खींच दिये जायेंगे । उदाहरणार्थ, घोड़े, गाय, बकरी से सभी छात्र परिचित हैं । अतः उनका चित्र खींच कर दिखलाना व्यर्थ है । इतिहास, भूगोल ज्यामिति और विज्ञान के शिक्षण में श्यामपट का काफी प्रयोग करना चाहिए । मानचित्र, युद्धस्थलों के मानचित्र, प्राकृतिक तथा उद्योग-धन्धे सम्बन्धी मानचित्र, ज्यामिति के रेखाचित्र तथा विज्ञान के सभी प्रयोग-चित्रों को श्यामपट पर खींच कर दिखलाने में शिक्षक को समर्थ होना चाहिए । इन चित्रों को शुद्ध व स्पष्ट खींचने के लिए, यदि आवश्यक हो तो, पैमानों तथा अन्य उपकरणों का सहारा ले लेना ठीक होगा । वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली में श्यामपट के कुशल प्रयोग पर बड़ा जोर दिया जाता है । सफलतापूर्वक इसे प्रयोग करने वाला शिक्षक बड़ा ही अच्छा समझा जाता है ।

आवश्यक चित्रों और मानचित्रों के खींचने में शिक्षक का समर्थ होना, श्यामपट का सफल प्रयोग बड़ा आवश्यक ।

श्यामपट सम्बन्धी कुछ अन्य ध्यान देने योग्य बातें

श्यामपट पर लिखते समय शिक्षक ऐसी जगह पर खड़ा हो कि बालक लिखी हुई अच्छी बातें प्रकार पढ़ सकें । कुछ शिक्षक श्यामपट को ऐसा घेर लेते हैं कि लड़कों को बड़ी असुविधा होती है । कभी-कभी वे श्यामपट के पास से हट जाने के लिए भी शिक्षक से प्रार्थना करते हैं । श्यामपट के बहुत ऊँचे अथवा नीचे होने के

श्यामपट को ढकना, शरीर टेढ़ा करके न लिखना, लिखने के बाद कभी-कभी कक्षा

का निरीक्षण करना, अध्यापन के पूर्व श्यामपट साफ़ कर लेना, अन्त में श्यामपट को साफ़ कर के जाना, अधिकतर सफ़ेद खड़िया का प्रयोग।

कारण उस पर लिखने में शिक्षक को बड़ी असुविधा होती है ऐसी स्थिति में शिक्षक को उचित है कि जहाँ तक उसका हाथ सरलता से पहुँचे वहीं तक वे लिखें। एड़ी ऊँची कर, देह तोड़कर अथवा पैर फैलाकर लिखना बड़ा ही भद्दा और फूहड़ लगता है। शिक्षक की ऐसी मुद्रा पर लड़के मन ही मन कुढ़ते हैं। श्यामपट पर लिखते समय बीच-बीच में बालकों के कार्यों का निरीक्षण भी कभी-कभी कर लेना आवश्यक है। जब लड़के पुस्तक आदि पढ़ रहे हों तो उस समय श्यामपट पर लिखना ठीक नहीं। अध्यापन प्रारम्भ करने के पहले श्यामपट को साफ़ कर लेना अधिक सुविधाजनक होता है। घण्टा समाप्त होने के बाद श्यामपट्ट को साफ़ कर के जाना उचित है। इससे आगामी अध्यापक को बड़ी सुविधा मिलती है और बालकों को सीख मिलती है कि "वातावरण को गन्दा बनाकर कभी नहीं छोड़ना चाहिए।" मानचित्र आदि बनाने का अभ्यास न होने पर उसे श्यामपट पर अशुद्ध बना देना ठीक नहीं। अशुद्ध बनाने से न बनाना ही अधिक उचित होगा। आवश्यकता आने पर ही श्यामपट पर लिखना ठीक है। कब क्या लिखना होगा यह शिक्षक को अपने विवेक से समझ लेना चाहिए। भूगोल, इतिहास, ज्यामिति तथा विज्ञान के पाठ में कभी-कभी रंगीन खड़िया का प्रयोग किया जा सकता है, अन्यथा सफेद का ही प्रयोग करना चाहिए। सफेद खड़िया से अक्षर चमकीले होते हैं और बालकों की आँखों पर अधिक जोर नहीं पड़ता।

४—पाठ्य पुस्तक (टेक्स्ट बुक)

पहले कक्षा की पढ़ाई विशेष कर पाठ्य-पुस्तक पर ही अवलम्बित रहती थी। पुस्तक में लिखे हुए के अनुसार कार्य करना अथवा उसे याद कर सुना देना विद्यार्थी की योग्यता की पराकाष्ठा समझी जाती थी। इस प्रणाली के फलस्वरूप बालक की स्मरण-शक्ति पर विशेष बल देकर अन्य मानसिक प्रक्रियाओं की अवहेलना की जाती थी। ठीक इसके विपरीत आवाज़ उठी। पाठ्य-पुस्तकों के आधार पर पढ़ाना निन्दनीय समझा जाने लगा। फलतः पाठ्य-पुस्तकों का स्थान शिक्षकों के व्याख्यान और लिखाये हुए संकेतों (नोट्स) ने ले लिया। अति के कारण इसका भी वांछित फल न मिला। भला केवल मौखिक शिक्षा कितनी सफल हो सकती है! इस वस्तु-स्थिति का चित्रण रेमाण्ट के इन शब्दों में अच्छा मिलता है; "व्यंग में लोग कहा करते हैं कि विद्यार्थियों के स्थान को अब शिक्षकों ने ग्रहण कर लिया है। पहले विद्यार्थी ही पढ़ते, याद करते और सुनाते थे। अब तो यह काम शिक्षक का ही हो गया है।" वास्तव में पाठ्य-पुस्तक की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। यदि अच्छी पाठ्य-पुस्तक हुई तो शिक्षक के हाथ में वह बड़ा भारी अस्त्र है। इससे उसके समय व शक्ति दोनों की बचत होती है और शिक्षक की अनुपस्थिति में बालकों के लिए वह कुछ हद तक शिक्षक का भी काम कर सकती है। स्पष्ट है कि पाठ्य-पुस्तक की आवश्यकता सन्देहास्पद नहीं। बिना पाठ्य-पुस्तक के सहारे बालकों को ठोस ज्ञान देना अत्यन्त कठिन है। केवल एक बार

पहले और आज की प्रणाली में भेद पाठ्य-पुस्तक की उपेक्षा सम्भव नहीं।

सुन और कह लेने से ही नया ज्ञान पक्का नहीं हो जाता। उसके लिए समय-समय पर आवृत्ति की आवश्यकता होती है। पाठ्य-पुस्तक के होने पर बालक के लिए यह सब कठिन नहीं। अब प्रश्न यह है कि "पाठ्य-पुस्तक कैसी होनी चाहिए ?"—"उसके आवश्यक गुण क्या-क्या हैं ?" नीचे हम इन्हीं प्रश्नों पर विचार करेंगे। इन प्रश्नों के उत्तर की व्याख्या आवश्यक नहीं। अतः नीचे उन्हें सूत्र रूप में ही दिया जाता है :—

१—साल में किए जाने वाले काम की पाठ्य-पुस्तक में स्पष्ट रूप-रेखा होना आवश्यक है। इससे शिक्षक को शिक्षण में बड़ी सरलता होती है। बालकों को आवश्यकतानुसार शिक्षण को व्यवस्थित करना आवश्यक है। इस व्यवस्था में पाठ्य-पुस्तक का सहायक होना अपेक्षित है। लकीर के फकीर की तरह पाठ्य-पुस्तक की लीक पर ही चलना शिक्षक के लिए वांछित नहीं। इसलिये अपने अनुभव के आधार पर पाठ्य-पुस्तक में आवश्यक संशोधन करने की शिक्षक को पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। वस्तुतः सफल शिक्षक ही पाठ्य-पुस्तक का आदर्श रचयिता हो सकता है और यह कार्य उसी को देना भी चाहिए।

२—पाठ्य-पुस्तक बालकों की विकास-अवस्था के अनुसार होनी चाहिए। यदि प्रारम्भिक कक्षा से अन्त तक पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें एक ही क्रम में लिखी जाँय तो उनमें बालकों की विकास-अवस्था पर अधिक ध्यान दिया जा सकेगा। उनमें शिक्षकों को शिक्षण-पद्धति का ज्ञान कराने के लिए टिप्पणियों का देना व्यर्थ है।

३—छोटी कक्षाओं वाली पाठ्य-पुस्तकें मोटे-मोटे अक्षरों में छपनी चाहिये। पंक्तियाँ भी दूर-दूर हों। ऊँची कक्षा

वाली पुस्तक छोटे अक्षरों में छपी हों। छोटे बालकों के लिए आवश्यक चित्र भी होने चाहिए। पाठ्य-पुस्तक में इनको खूब समझ बूझ कर स्थान देना चाहिए। इनका आकर्षक और उपयुक्त होना आवश्यक है।

४—पुस्तक की जिल्द और कागज ऐसा हो कि शीघ्र ही फट न जाय। फटी हुई पुस्तक को बालक रुचि से नहीं पढ़ता।

५—पाठ्य-पुस्तक में विभिन्न विषयों का क्रम इस प्रकार हो कि महत्त्वपूर्ण बातों को बालक शीघ्र पहचान सके। उसमें कई प्रकार के विषयों का आना आवश्यक है, जिससे वह रोचक बनी रहे। पाठ्य-पुस्तक की रचना में ज्ञानार्जन और चरित्र-निर्माण दोनों उद्देश्यों का होना आवश्यक है।

६—शिक्षण-कार्य में सहायता तथा कक्षा की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक पाठ के अन्त में कुछ मनोवैज्ञानिक संकेत देना आवश्यक है।

आवश्यक बाहरी पुस्तकें पढ़ने के लिए आदेश, पाठ्य-पुस्तक केवल पथ-प्रदर्शिका, उसकी कमी को शिक्षक को अपने ज्ञान से पूरी करना।

विभिन्न विषयों में पाठ्य-पुस्तक का उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता है। कुछ विषयों में तो केवल पाठ्य-पुस्तक पर ही निर्भर रहने से काम चल जाता है और कुछ में बाहरी पुस्तकें भी देखने की आवश्यकता होती है। बहुधा प्रारम्भिक कक्षाओं में तो पाठ्य-पुस्तक से ही काम चल जाता है। पर नवीं व दसवीं कक्षा के विद्यार्थियों को भाषा, साहित्य, इतिहास, भूगोल व विज्ञान आदि जैसे विषयों में कभी-कभी कुछ बाहरी पुस्तकें पढ़ना आवश्यक हो जाता है। शिक्षक को उचित है कि बड़े विद्यार्थियों को व्यक्ति-

गत आवश्यकतानुसार उन्हें बाहरी पुस्तकें पढ़ने का निर्देश दे। पाठ्य-पुस्तक में सदा सभी बातें नहीं हो सकतीं। कभी-कभी पाठ्य-पुस्तकें असामयिक भी हो जाती हैं। इसलिये सदा पाठ्य-पुस्तकों पर ही निर्भर रहना ठीक नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षण में पाठ्य-पुस्तकों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। पर वे कभी वास्तविक स्थिति की अवहेलना भी कर सकती हैं; क्योंकि उनके रचयिता सदा वास्तविक स्थिति से सहमत नहीं हो सकते। इसीलिए स्कूल छोड़ देने के बाद बालकों को कभी-कभी आश्चर्यित होना पड़ता है कि जो कुछ उन्हें पाठ्य-पुस्तकों के आधार पर पढ़ाया गया पूर्णरूपेण वस्तु-स्थिति पर आधारित न था। यह न भूलना चाहिए कि पाठ्य-पुस्तक केवल पथ-प्रदर्शिका है। वह शिक्षक का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। अतः शिक्षक को केवल पाठ्य-पुस्तक पर ही निर्भर नहीं रहना है। उसे बालक के लिये पाठ्य-पुस्तक की कमी अपने ज्ञान से पूरी करनी है। अच्छा अध्यापक पाठ्य-पुस्तकों पर आश्रित न होकर उन्हें अपने आधीन कर लेता है। आजकल पुस्तकीय-ज्ञान की बड़ी निन्दा की जाती है और शिक्षा-शास्त्री स्कूल में क्रियाशीलता लाने के पोषक हैं। वे बालकों को स्कूल के अधिकांश समय में पुस्तकें पढ़ने से वंचित रखना चाहते हैं। इस आधुनिक लहर का तात्पर्य केवल इतना ही है कि बालक एक ही पुस्तक के दास न बन जाँय, और आवश्यकता पड़ने पर वे विभिन्न पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न कर पढ़ते समय अपनी आलोचना-शक्ति से सत्य व असत्य का निराकरण कर सकें।

५—लिखित कार्य का संशोधन (करेक्शन ऑव् रिटेन वर्क)

बालकों के लिखित कार्य का संशोधन करना शिक्षक को

बड़ा बुरा लगता है। कई बड़ी-बड़ी कक्षाओं में लिखित कार्य का वह कितना संशोधन करे? वस्तुत: यह कठिन कार्य है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि इससे मुख मोड़ लिया जाय। संशोधन करना बड़ा आवश्यक है। काम न कराने से बालकों के कार्य को बिना संशोधित छोड़ देना कहीं बुरा है। संशोधन से ही लड़के अपनी गलतियों का सुधार करते हैं। शिक्षक का मौखिक संशोधन बालकों में ठीक शब्द के लिये एक दृढ़ संस्कार उत्पन्न कर देने में सदा सफल नहीं होता। इसलिए उनके लिखित कार्य की ध्यान पूर्वक परीक्षा और संशोधन बड़ा ही आवश्यक है। शिक्षक के संशोधन-कार्य को कुछ हलका, तथा अधिक मनोवैज्ञानिक बनाने के लिये हम नीचे कुछ सुझाव दे रहे हैं।

बड़ा आवश्यक।

यदि लिखित कार्य देने के पूर्व उसका मौखिक अभ्यास करा दिया जाय तो लड़के गलतियाँ कम करेंगे और अध्यापक का संशोधन-कार्य भी हलका हो जायगा। लड़के लिखने में अधिक गलती करते हैं, क्योंकि उन्हें पर्याप्त मौखिक अभ्यास नहीं दिया जाता। गलतियों को शीघ्रातिशीघ्र सुधार देने से शुद्ध रूप मस्तिष्क में बड़ी जल्दी बैठ जाता है। इसलिये शिक्षक को इसमें बड़ी तत्परता दिखलानी चाहिये। सबसे अच्छा संशोधन "स्व-संशोधन" होता है। अर्थात् बालक को स्वयं-अपनी गलती जानने के लिए प्रेरित करना चाहिए। पर यह सदा सम्भव नहीं

पहले मौखिक अभ्यास करा देना, त्रुटि-संशोधन शीघ्र, स्व-संशोधन, संशोधन बालकों के सामने, शिक्षक द्वारा संशोधन सर्वश्रेष्ठ, त्रुटि के संशोधित रूप का निरीक्षण।

होता। बालक के असफल होने पर कुछ दूसरे बालकों से राय ली जा सकती है। सबके असफल होने पर ही शिक्षक की सहायता अपेक्षित है। श्रुतिलेख के अभ्यास में यदि बालकों के आपसी अदल-बदल से कुछ गलतियाँ निकलवा ली जाँय तो अमनोवैज्ञानिक नहीं। पर श्यामपट पर पहले ही सम्भावित कठिन शब्दों को कुछ देर के लिए लिख देना आवश्यक होगा। यह भी ध्यान रहे कि ऐसे संशोधन के कारण विनय-व्यवस्था ढीली न पड़ जाय। अनुवाद तथा लेख आदि के कार्य में तो शिक्षक को ही कष्ट करना होगा। यथासम्भव बालकों के सामने ही गलतियाँ संशोधित की जाँय तो अच्छा है। पर यह सदा सम्भव नहीं। अतः स्कूल-समय में कभी इसका अवसर मिले तो उसका उचित उपयोग करना चाहिए। गलतियों पर संकेत हो जाने पर शिक्षक को यह देखना चाहिए कि विद्यार्थी उनका ठीक संशोधन कर लें। छोटी कक्षा में एक गलती के शुद्ध रूप की कई आवृत्ति के लिए बालक से कहा जा सकता है। उसकी विकास-अवस्था के अनुसार आवृत्ति में कमी भी की जा सकती है।

संशोधन का उद्देश्य तात्कालिक नहीं, कई प्रकार की गलतियों की ओर एक साथ ही संकेत नहीं—इसमें विकास - अवस्था पर ध्यान।

कभी-कभी शिक्षक यह देख कर हैरान हो जाते हैं कि बालक एक ही बात की बराबर गलती करते हैं। इसमें धैर्य खोना ठीक नहीं। गत पृष्ठों में हम कह चुके हैं कि संशोधन का उद्देश्य तात्कालिक फल प्राप्ति नहीं होता। संशोधन करते रहने से अन्त में वाँछित फल मिल जाता है। एक ही साथ कई प्रकार की गलतियों की ओर संकेत कर देना मनोवैज्ञानिक नहीं। इससे कुछ भी लाभ नहीं होता। गलतियों की ओर

संकेत करने में शिक्षक को बालक की विकास-अवस्था पर ध्यान देना चाहिए। जिन गलतियों पर नवीं कक्षा में ध्यान देना चाहिए उनकी ओर पाँचवीं ही कक्षा में संकेत कर देना व्यर्थ है। उदाहरणार्थ, भाषा व शैली की संयतता की ओर छोटी कक्षा में कुछ कम ध्यान दिया जा सकता है। अतः छोटी कक्षाओं में ऐसी गलती की अवहेलना कर देने से हानि नहीं। यदि शिक्षक को विकास-अवस्था का ठीक अनुमान होगा तो बालक के लिखित-कार्य में इतनी गलती न होगी कि उसकी अभ्यास-पुस्तिका एकदम कटकुट से भर जाय। शिक्षक को यह कभी न भूलना चाहिए कि बालक को कुछ सफलता की भावना देना बड़ा आवश्यक है। अतः अभ्यास के लिए दिया हुआ कार्य ऐसा हो कि सभी बालक कुछ न कुछ ठीक कर सकें।

प्रायः सभी बालकों से की जाने वाली गलतियाँ अधिकतर श्यामपट की सहायता से ही संशोधित करनी चाहिए। यह अधिक सुविधाजनक होगा। सदा अभावात्मक ही संकेत दे देना ठीक नहीं। उपयुक्त अवसर पर प्रशंसात्मक संकेत देना बड़ा उत्साह-वर्द्धक होता है। शिक्षक की प्रशंसा पाकर बालक फूला नहीं समाता। अतः बालक को उचित और आवश्यक प्रशंसा देना शिक्षक का परम धर्म है।

श्यामपट्ट की सहायता, आवश्यक प्रशंसा।

उपर्युक्त सांकेतिक साधनों से शिक्षक का संशोधन-कार्य कुछ हलका अवश्य हो सकता है, पर उससे बचना सम्भव नहीं। उससे बचने का तात्पर्य अपने एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य की अवहेलना करना होगा। गलतियों का सुधार करना उतना ही आवश्यक और प्रधान है जितना कि शिक्षा देना। दोनों

भिन्न-भिन्न बातें हैं। अतः दोनों कर्त्तव्यों का ठीक पालन शिक्षक को उचित है।

६—गृह-कार्य (होम-वर्क)

गृह-कार्य करना बालकों के लिए एक कठिन कार्य हो जाता है। पर इससे उनको छूट देना सम्भव नहीं। स्कूल-समय इतना पर्याप्त नहीं होता कि वहीं पर सब आवश्यक कार्य पूरा कर लिया जाय। अतः गणित, भूगोल, इतिहास, भाषा व साहित्य आदि में कुछ कार्य देना आवश्यक हो जाता है। कुछ शिक्षा-शास्त्री गृह-कार्य के विरुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। उनका कहना है कि बालकों को गृह-कार्य देने का तात्पर्य स्कूल के कृत्रिम वातावरण को कुछ अंश में घर पर भी जमाना है। बालक स्कूल में वैसे ही थक जाता है। घर पर उसे खेलने-कूदने का अवकाश होना चाहिए। यदि यहाँ भी वह स्कूल-कार्य पूरा करने में लगा रहे तो किताबी-कीड़ा बन कर वह स्वास्थ्य खो बैठेगा। आखिर, बालक को पढ़ने के अतिरिक्त कुछ और काम भी तो है! उसे अपने समाज में मिलना-जुलना तथा कुछ घरेलू-कार्यों में भी हाथ बटाना है। अतः गृह-कार्य देना ठीक नहीं। इस मत से हम शत प्रतिशत सहमत नहीं हो सकते। हमें एक मध्यम मार्ग अपनाना होगा। अर्थात् बालक को उतना ही कार्य देना चाहिए जितना घर पर सरलता से करते हुये वह अपने सामाजिक जीवन तथा घरेलू-कार्य में भाग ले सके।

घर के लिए काम देना आवश्यक, पर थोड़ा ही।

गृह-कार्य देने के पूर्व बालक की योग्यता का ठीक-ठीक

अनुमान लगा लेना आवश्यक है। शक्ति के परे कार्य देना बड़ा अमनोवैज्ञानिक है। कभी-कभी कुछ गणित तथा विज्ञान की समस्याओं पर सोचने तथा कार्य करने के लिए उन्हें प्रश्न दिये जा सकते हैं। पर बहुधा गृह-कार्य का उद्देश्य स्कूल पर सीखे हुये नियम अथवा बात की आवृत्ति ही होना चाहिए। यदि गृह-कार्य से बालक में सफलता की भावना न आई तो उसका देना व्यर्थ है। गणित व विज्ञान आदि के पाठों में व्यक्तिगत भिन्नता पर बिना ध्यान दिये सब को समान रूप से गृह-कार्य देना ठीक नहीं। यहीं व्यक्तिगत-भिन्नता पर सरलता से ध्यान दिया जा सकता है। जो बालक कमजोर हैं उन्हें सरल और कम कार्य देना चाहिए। गृह-कार्य देने के पूर्व शिक्षक को बालक की पारिवारिक स्थिति का भी कुछ पता लगा लेना आवश्यक और उचित है। यदि घर में कोई अधिक बीमार हुआ या यदि बालक को अपने माता-पिता के कार्य में हाथ बँटाना होता है तो उसके गृह-कार्य का भार कुछ अवश्य हलका कर देना चाहिए। कुछ ऐसे भी बालक होते हैं जिन्हें घर पर कुछ अन्य शिक्षक (ट्यूटर) भी पढ़ाते हैं। ऐसे बालकों को भी स्कूल से दिये हुये गृह-कार्य के करने का समय नहीं मिलता। ऐसे बालकों का भी गृह-कार्य बहुत हलका कर देना उचित है।

गृहकार्य से स्कूल में सीखी हुई बात की आवृत्ति हो, सफलता की भावना आवश्यक, व्यक्तिगत भिन्नता तथा पारिवारिक स्थिति पर ध्यान।

स्कूल आने पर गृह-कार्य का निरीक्षण करना बड़ा आवश्यक है। यदि यह न किया गया तो गृह-कार्य देना ही व्यर्थ है। अतः पाठ प्रारम्भ करने के पहले यथाअवसर उसका निरीक्षण

अवश्य कर लेना चाहिए। गृह-कार्य दण्ड-स्वरूप देना बड़ा ही अमनोवैज्ञानिक है। कुछ शिक्षक क्रोध में अधिक गृह-कार्य दे दिया करते हैं। इसकी जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। इससे बालकों में पाठ्य-विषय के प्रति अरुचि हो जाती है और इस अरुचि के स्थायी हो जाने का बड़ा भय रहता है। बहुधा छोटी कक्षाओं में गृह-कार्य बहुत ही कम अथवा न दिया जाय तो अच्छा है। दस-बारह वर्ष के बालकों में खेलने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। इस खेल के सहारे ही वे अपनी कई मूल-प्रवृत्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति कर पाते हैं। अतः इस आयु तक गृह-कार्य का न देना ही अच्छा होगा। किसी विशेष अवसर पर कुछ अभ्यास घर पर करने के लिए दे देना हानिकर भी नहीं।

गृहकार्य का निरीक्षण, दण्ड स्वरूप गृहकार्य देना अनुचित, छोटे बालकों को बहुत कम कार्य देना।

बहुधा यह देखा जाता है कि रविवार तथा किसी अन्य छुट्टी के अवसर पर बालकों को अधिक गृह-कार्य दे दिया जाता है। इससे छुट्टी का महत्त्व ही घट जाता है। यदि रविवार को भी स्कूल की ही तरह बालक घर पर भी पढ़ता रहा तो इस छुट्टी से विशेष लाभ नहीं। शारीरिक व मानसिक विकास के लिए परिवर्तन और विश्राम आवश्यक है। अतः छुट्टी के दिन कुछ मानसिक विश्राम दे देना मनोवैज्ञानिक होगा। अच्छा होता यदि अभ्यास देते समय शिक्षक यह जाँच ले कि बालक को दूसरे विषय में कितना गृह-कार्य दिया गया है,

छुट्टी के दिन अधिक गृहकार्य देना ठीक नहीं, देने के पहले अन्य शिक्षकों द्वारा दिये हुये कार्य का ज्ञान।

अन्यथा उसके अत्यधिक हो जाने का बड़ा भय है। बहुधा गणित में गृह-कार्य की विशेष आवश्यकता होती है। पर किस विषय में कितना गृह-कार्य दिया जाय इसका समझौता अध्यापकों को आपस में पहले ही कर लेना चाहिए। अपने विषय को विशेष महत्ता देने के उद्देश्य से अध्यापकों में गृह-कार्य विषयक स्पर्धा वांछित नहीं। इसका बालकों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ सकता है।

७—पुस्तकालय (लाइब्रेरी)

विकास-अवस्था और आवश्यकतानुसार पुस्तकों का संकलन; ज्ञान, उपदेश और मनोरंजन सम्बन्धी पुस्तकें।

बालकों की शिक्षा में पुस्तकालय का स्थान बड़ा ही आवश्यक है। कदाचित् ही कोई ऐसा माध्यमिक स्कूल होगा जिसमें किसी न किसी प्रकार का छोटा या बड़ा पुस्तकालय न हो। अध्यापकों के प्रवचन सुन लेने और पाठ्य-पुस्तक के पढ़ लेने से सफल जीवन बिताने के लिए बालकों को पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक स्कूल में पुस्तकालय की भी व्यवस्था की जाती है। स्कूल-काल के बाद जब व्यक्ति जीवन के विभिन्न दायित्व को सँभालता है तो उसे पुस्तक से सीखी हुई महत्त्वपूर्ण बातें ही अधिक याद आती हैं। अतः यह आवश्यक है कि पुस्तकालय का संगठन इस प्रकार किया जाय कि बालक उससे अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। स्कूल-पुस्तकालय में बालकों की विकास-अवस्था तथा आवश्यकतानुसार किताबें रखनी चाहिए। बाजार में भली व बुरी दोनों प्रकार की पुस्तकें होती हैं। जब बालक पढ़ने योग्य हो जाते हैं तो उन्हें कोई न कोई नई पुस्तक पढ़ने की

सदा इच्छा बनी रहती है। इसी इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य की ओर स्कूल-पुस्तकालय में अच्छी-अच्छी पुस्तकों का संकलन होना आवश्यक है। पुस्तकें ऐसी हों कि वे बालकों में वांछित रुचि उत्पन्न कर सकें और यह रुचि ऐसी हो कि वह उनके उत्तर-जीवन की सफलता में सहायक हो सके। अतः स्कूल-पुस्तकालय में ज्ञान, उपदेश और मनोरंजन सम्बन्धी पुस्तकों का संकलन होना चाहिए।

स्कूल जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के लिये बालकों को तैयार करने की चेष्टा करता है। पुस्तकालय को भी इसी उद्देश्य की पूर्ति में योग देना है। पुस्तकालय से ली हुई पुस्तकें बालकों को स्वयं पढ़नी पड़ती हैं। अतः उनकी योग्यता और रुचि अनुसार उनका सरल होना आवश्यक है। इससे बालकों में स्वतः ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा आयेगी। कुछ स्कूलों में बालकों की आवश्यकता और रुचि पर बिना ध्यान दिये ही पुस्तकें खरीद ली जाती हैं। ये पुस्तकें परीक्षा देने वाले किसी शिक्षक के हित अथवा अन्य शिक्षकों की क्षणिक जिज्ञासा की पूर्ति के लिए होती हैं, क्योंकि देखा जाता है कि आजकल के अधिकांश स्कूल-शिक्षकों को पुस्तकालय से पुस्तकें लेने पर भी घर पर पढ़ने का अवकाश नहीं मिलता। लाख इच्छा रहने पर भी अपनी कुछ कौटुम्बिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण वे इतने दबे रहते हैं कि इसका सारा दोष उन्हीं पर मढ़ना अन्याय होगा (उनकी स्थिति सुधारने के लिए आवश्यक साधनों की ओर संकेत करना विषयान्तर होगा) ये पुस्तकें अपने विषय पर बड़ी अच्छी होती हैं; पर इतना निर्विवाद है कि वे

सरल पुस्तकें, बाल पुस्तकें।

बाल-पुस्तकें नहीं होतीं। बालकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही इतनी ऊँची-ऊँची पुस्तकें मँगाना युक्तिसंगत है।

पुस्तकों का संगठन, बालक आवश्यक पुस्तक को शीघ्र जान जाय, विषय-शिक्षक की सहायता, कक्षा व विषय के नाम पर पुस्तकों का संकलन, वितरण का दायित्व बालकों पर, पुस्तक सम्बन्धी अपने अनुभव अंकित करने के लिए उत्साहित करना, सबसे अधिक पुस्तक पढ़ने वाले को पुरस्कार देना।

यदि पाठ्य-पुस्तक सम्बन्धी किसी बात के स्पष्टीकरण हेतु बालक पुस्तकालय से किसी पुस्तक को पढ़ कर स्वयं समझ सकता है तो उसके आनन्द का ठिकाना नहीं। अतः पुस्तकों के संकलन में विभिन्न विषयों की पाठ्य-पुस्तकों के अन्तर्गत पाठों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। संकलन के बाद पुस्तकों के संगठन का प्रश्न आता है। पुस्तकों का संगठन इस प्रकार हो कि बालक यह समझ सके कि किस ज्ञान प्राप्ति के लिए उसे कौन सी पुस्तक पढ़नी चाहिये, इसका प्रबन्ध करना कठिन नहीं। यदि इस प्रकार के संगठन का उत्तरदायित्व विषय-शिक्षक को दे दिया जाय तो यह सम्भव हो सकता है। शिक्षक को भी इस दायित्व का पालन प्रसन्न मन से करना चाहिए। इस प्रकार के संगठन के बाद पुस्तकों का वितरण इस प्रकार होना चाहिए कि बालक में सदा एक नई पुस्तक पढ़ने की रुचि रहे। बहुधा यह देखा जाता है कि स्कूल-पुस्तकालयों का बालक सदुपयोग नहीं कर पाते। इसके कई कारण हैं। एक तो उन्हें पुस्तकालय की पुस्तकें पढ़ने के लिए उत्साहित नहीं किया जाता। दूसरे, यदि वे कोई पुस्तक ले भी गये तो उसके पढ़ने की विधि सम्बन्धी

आवश्यक बातें उन्हें नहीं समझायी जातीं। ऐसी स्थिति में कुछ ऐसा करना आवश्यक है जिससे वे पुस्तकालय का सदुपयोग कर सकें। अच्छा होता यदि कक्षा व विषय के नाम पर पुस्तकों का संकलन किया जाय और साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक अवधि के आधार पर उनके वितरण का उत्तरदायित्व मॉनिटर तथा अन्य योग्य बालकों को दिया जाय। बालकों के पास एक ऐसी नोट-बुक होनी चाहिए जिसमें वे पुस्तक सम्बन्धी अपने विचार अंकित कर सकें। पुस्तक के सारांश अथवा किसी नायक के चरित्र-चित्रण लिखने के लिए भी उन्हें उत्साहित किया जा सकता है। इन सब कार्यों का शिक्षक कभी-कभी निरीक्षण कर ले तो अच्छा है। पुस्तकालय से नियमित रूप से पुस्तक पढ़ने की प्रेरणा देने के लिए प्रधानाध्यापक को एक फ़ॉर्म छपा लेना चाहिए। इस फ़ार्म पर पुस्तक पढ़ने के बाद उसका नाम तथा तत्सम्बन्धी कुछ बातें लिखने के लिए बालक को उत्साहित करना आवश्यक है। साल के अन्त में कक्षा तथा स्कूल में ठीक रीति से सबसे अधिक पुस्तकें पढ़ने वाले विद्यार्थी को कुछ पुरस्कार देना मनोवैज्ञानिक प्रेरक होगा। बड़ा अच्छा होता यदि बालकों द्वारा पढ़ी जाने वाली पुस्तकों को शिक्षकगण किसी प्रकार पढ़ जाते, जिससे वे तत्सम्बन्धी बालकों की सम्मतियों को आँक सकें।

सहायक पुस्तकें

१—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐण्ड मेथड इन एडूकेशन-पृष्ठ, १२१, १३५, १५७, १७२

२—जॉन ऐडम्स—एक्सपोज़ीशन ऐण्ड इलस्ट्रेशन इन टीचिङ्ग

३—एम० डब्लू० कीटिङ्ग—सजेस्शन इन एडूकेशन

४—डब्लू० एच० किलपैट्रिक—फाउण्डेशन्स ऑव् मेथड
५—जे० जे० फिन्डले—प्रिन्सीपुल्स ऑव् क्लास टीचिङ्ग
६—चतुर्वेदी और रुद्र—अध्यापन-कला
७—वार्ड ऐण्ड रॉस्कू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग-अध्याय ६, ७
८— क्राफ़ोर्ड, सी० सी०—हाउ टु टीच-अध्याय १७
९—हैमिल्टन—द टीचर ऑन द थ्रेशहोल्ड-अध्याय ९, १०
१०—एच० एम० पेरेरा—द साइकॉलॉजी ऑव् लर्निङ्ग ऐण्ड टीचिङ्ग-अध्याय, ४-८

———

दसवाँ अध्याय

ाक्षा-समन्वय (कॉरोलेशन ऑव् स्टडीज़)

१—आवश्यकता

बालकों को विभिन्न विषयों को पढ़ाने का तात्पर्य उन्हें ' देना अथवा चरित्र व व्यक्तित्व का निर्माण करना है।

वेभिन्न विषय एक ज्ञान की विभिन्न ायें, समन्वय से क और समय की त।

इस प्रकार हमारा उद्देश्य केवल एक ही है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जान अथवा अनजान में सभी शिक्षक चेष्टा किया करते हैं। अतः जो विषय विभिन्न समझे जाते हैं वे एक ही ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के समान हैं। यदि उन विषयों में एक सम्बन्ध का अनुभव न या जा सका तो शिक्षा-व्यवस्था का चलना कठिन हो जायगा। ; विषयों के विश्लेषण से मालूम होता है कि बहुत से अलग-ाग पढ़ाये जाने वाले विषय एक ही साथ अधिक सरलता सफलता से पढ़ाये जा सकते हैं। भाषा में 'पढ़ने' और खने' का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अंग्रेजी में स" पढ़ाते समय हिन्दी के "कारक" का उल्लेख किया सकता है। ऐसा न करने से एक बार "कारक" पढ़ लेने भी उसी बात की आवृत्ति बहुत हद तक अंग्रेजी में करनी गी। यही बात हिन्दी और अंग्रेजी व्याकरण के अन्य ों के साथ भी है। दोनों के व्याकरण में भिन्नता रहते हुये कहीं-कहीं काफी समानता है। अतः हिन्दी और अंग्रेजी ने वाले छात्रों का इन समानताओं की ओर प्रारम्भ में ही

यथास्थान ध्यान आकर्षित कर देना चाहिए। इससे समय की बचत होगी और बात भी शीघ्र समझ में आयेगी। इसी प्रकार इतिहास के प्रारम्भिक पाठ में देश की भौगोलिक स्थिति का कुछ उल्लेख कर दिया जाय तो बालकों को तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक व भौगोलिक दोनों ज्ञान प्राप्त होगा। गणित को अंकगणित, बीजगणित व रेखागणित—तीन अंगों में बाँट दिया गया है। यदि अङ्कगणित के कुछ साधारण सिद्धान्तों के उल्लेख के समय बीजगणित के भी प्रारम्भिक नियमों को स्पष्ट कर दिया जाय तो उतने ही समय में दो काम बन जायेंगे। रेखाचित्र (ड्राइङ्ग) के साथ यदि भूगोल व इतिहास के कुछ मानचित्र खिंचवाये जाँय तो एक ही समय में दो तीन विषयों में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना कठिन नहीं। यह सोचा जाता है कि अंग्रेजी में व्याकरण, लेख (कम्पोजीशन) और अनुवाद (ट्रान्सलेशन) अलग-अलग पढ़ाये जाने चाहिए। परन्तु ऐसा सोचना गलत है। प्राथमिक कक्षाओं में व्याकरण में सीखे हुये नियमों को ही लेख और अनुवाद में कार्यान्वित करते हैं। इसी प्रकार मौखिक व लिखित अंकगणित को समन्वित किया जा सकता है।

समन्वय के अभाव में कृत्रिमता, विशेषज्ञों का दायित्व।

आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त समन्वित विषयों पर विशेष जोर देता है और इस प्रकार विषयों की संख्या कम करना चाहता है। समन्वय पर समुचित ध्यान न देने से विभिन्न विषयों के अध्यापन में कुछ कृत्रिमता आ गई है और एक ही विषय को कभी-कभी दो बार पढ़ा कर बालकों की रुचियों और परिश्रम की अवहेलना की जाती है। विशेष शिक्षकों की नियुक्ति भी

असमन्वित शिक्षा के चलने में योग देती है। यह सत्य है कि कभी-कभी विशेषज्ञों की बड़ी आवश्यकता होती है और उनके बिना हमारा शिक्षा-कार्य सफलता से सम्पादित नहीं हो सकता। पर विशेषज्ञों को अपने ही विषय की धुन में न रहना चाहिए। उन्हें यह समझना चाहिये कि उनका भी विषय "सामान्य ज्ञान" (कॉमन नॉलेज) का केवल एक अंग ही है। अतः "सामान्य ज्ञान" के सम्बन्ध का पूरा ज्ञान होना विशेषज्ञ के लिए आवश्यक है। तभी वह बालकों में अपने विषय के प्रति विशेष रुचि उत्पन्न कर सकेगा। ऐसा करने से ही सब शिक्षक यह समझ सकेंगे कि उन सब का परिश्रम एक ही उद्देश्य की पूर्ति की ओर केन्द्रित हो रहा है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शिक्षा में समन्वय की बड़ी आवश्यकता है।

२—शिक्षा-समन्वय पर हरबार्ट का मत

हरबार्ट का कथन है कि शिक्षा का प्रधान उद्देश्य चरित्र का निर्माण करना है। उसके अनुसार इस चरित्र-निर्माण के लिए बालकों में बहु-रुचि (मेनी साइडेड-इन्टरेस्ट) उत्पन्न करना आवश्यक है। बहु-रुचि का तात्पर्य बहुत से विषयों का फुटकर ज्ञान देना नहीं है। अतः विभिन्न विषयों का एक संगठन होना आवश्यक है। यह संगठन ऐसा हो कि सभी विषय एक ही ज्ञान के विभिन्न आवश्यक अंग मालूम हों। विभिन्न रुचियों में एक समन्वय से ही यह सम्भव हो सकता है। हरबार्ट का विश्वास है कि बालक की रुचियों में समन्वय या सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिए उसकी किसी एक रुचि का पहले काफी विकास

सामञ्जस्यपूर्ण बहु-रुचि की उत्पत्ति से चरित्र-निर्माण।

करना चाहिए। "प्रत्येक व्यक्ति को सभी विषयों से प्रेम होना चाहिए और प्रत्येक को किसी एक में निपुण।"* हरबार्ट का कहना है कि विभिन्न विषयों की पाठ्य-वस्तुओं को बालकों के सामने इस प्रकार रखना है कि वे उसे 'एक ही विषय' समझ सकें। समन्वय से ही यह सम्भव हो सकता है। अतः प्रत्येक शिक्षक को यह जानना चाहिए कि विभिन्न विषयों में परस्पर सम्बन्ध क्या है। इस सम्बन्ध के ज्ञान से ही वह बालकों में सामञ्जस्यपूर्ण बहु-रुचि उत्पन्न कर उनके चरित्र का आदर्श निर्माण कर सकेगा।

३—समन्वय रहित शिक्षा के कुछ दोष

समन्वय की आवश्यकता की चर्चा करते हुये ऊपर हम समन्वय रहित वर्त्तमान शिक्षा के दोषों की ओर कुछ संकेत कर चुके हैं। ऊपर हम कह चुके हैं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारी शिक्षा के तीन अंग होने चाहिए:—ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक ये तीन हमारे मन के तीन पक्ष हैं। वर्त्तमान शिक्षा विशेषकर ज्ञानात्मक अंग की ही ओर ध्यान देती है। कदाचित् यह

ज्ञानात्मक, रागात्मक और क्रियात्मक अंग पर अलग-अलग समुचित ध्यान नहीं, एकांगी बौद्धिक शिक्षा।

समझा जाता है कि सामाजिक क्षेत्र तथा व्यावहारिक जीवन में उतरने से रागात्मक और क्रियात्मक अंग की शिक्षा अपने आप हो जाती है। पर ऐसा समझना भ्रम है। जैसे बिना शिक्षा के ज्ञानात्मक अंग का वांछित विकास नहीं हो सकता वैसे ही रागात्मक व क्रियात्मक अंग का विकास बिना शिक्षा के अधूरा व अव्यवस्थित रह जाता है। अब बहुत से शिक्षा-

* हरबार्ट—साइन्स ऑव् पेडागॉगी—अध्याय २

शास्त्री यह समझने लगे हैं कि समाज में जो कुछ बुराइयाँ दिखलाई पड़ती हैं वे व्यक्ति के विभिन्न राग से ही उत्पन्न होती हैं। यदि राग (इमोशन) की उपयुक्त शिक्षा होती तो यह मृत्युलोक ही कदाचित् स्वर्ग बन जाता। आज बहुत से लोग यह सोचने में लगे हैं कि रागात्मक अंग (अर्थात् इमोशन) की शिक्षा का संगठन किस प्रकार किया जाय। क्रियात्मक अंग की उपेक्षा इतनी अधिक की जाती है कि स्कूल व कालेज से निकलने के बाद विद्यार्थी यह निर्णय नहीं कर पाते कि अपने जीवन-यापन के लिए वे क्या करें। फलतः आजकल एकाङ्गी बौद्धिक शिक्षा का ही बोल-बाला है। जॉन ऐडम्स के शब्दों में "वर्त्तमान शिक्षा रूपी वस्त्र चिथड़ों और प्योदों का पुञ्ज हो गया है।" यह स्थिति बड़ी ही सोचनीय है। इसके निवारणार्थ आवश्यक साधनों की ओर संकेत करना हमारे क्षेत्र के बाहर की बात है। इसके लिए तो एक अलग ही पुस्तक की आवश्यकता होगी। पर इन तीन अंगों को समन्वय की सहायता से कुछ सम्बद्ध किया जा सकता है, यद्यपि तीनों की शिक्षा का अलग-अलग ही प्रबन्ध होना आवश्यक है।

शिक्षा-समन्वय से हम विभिन्न विषयों में एकता स्थापित कर बालकों को यह समझाना चाहते हैं कि पढ़े जाने वाले विभिन्न विषय एक ही ज्ञान रूपी वृक्ष की शाखायें हैं। इस सिद्धान्त को मान लेने से शिक्षकों में भी यह दिखलाने की पारस्परिक स्पर्धा न रहेगी कि एक विषय दूसरे से श्रेष्ठ है। यह बड़े खेद की बात है कि गणित, विज्ञान तथा भूगोल का शिक्षक अपने को संगीत, हस्तकला, शारीरिक स्वास्थ्य तथा

ज्ञान की एकता और सन्तुलित रुचियों का विकास।

संस्कृत आदि के अध्यापकों से श्रेष्ठ मानता है। उसकी इस धारणा का उत्तरदायित्व सरकारी शिक्षा-विभाग को भी है; क्योंकि वह सभी को समान वेतन देने का पक्षपाती नहीं। जब तक इस तरह का भेद हमारी शिक्षा संस्थाओं से नहीं निकल जाता हमारे बालकों की शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं हो सकती। हमें विभिन्न विषयों की शिक्षा का संगठन इस प्रकार करना है कि उससे बालक, 'ज्ञान की एकता' का अनुभव करते हुये अपनी सन्तुलित (बैलेन्स्ड) रुचियों का विकास करता रहे।

४—विषयों का केन्द्रीकरण
(कनसेन्ट्रेशन ऑव् स्टडीज़)

शिक्षा समन्वय के लिए हरबार्ट ने केन्द्रीकरण का नियम बना रखा है। इसके अनुसार किसी एक ही विषय को प्रधान मान कर अन्य विषयों की शिक्षा उसी के इर्द-गिर्द संगठित करना चाहिए। हरबार्ट ने इस सम्बन्ध में इतिहास को श्रेष्ठता दी है। इतिहास को एक व्यापक विषय मानकर उसने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि साहित्य, चित्रकला, शिल्पकला, गणित, भूगोल तथा विज्ञान आदि विषय इतिहास से कैसे समन्वित किए जा सकते हैं। उसने यह दिखलाया है कि साहित्य पढ़ाने के लिए ऐतिहासिक नाटक, काव्य व उपन्यास चुने जा सकते हैं। बालकों के चरित्र-निर्माण के लिये ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ाये जा सकते हैं। चित्रकला व शिल्पकला के सिखाने में ऐतिहासिक दुर्ग, भवन,

हरबार्ट के अनुसार 'इतिहास' केन्द्रीकरण का सर्वश्रेष्ठ साधन, वर्त्तमान शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार प्रकृति-विज्ञान और हस्तकला केन्द्रीकरण का साधन।

रथ तथा कवच आदि बनाने की बालकों को शिक्षा दी जा सकती है। ऐतिहासिक आक्रमणों के उल्लेख के आधार पर कुछ प्रदेशों के भूगोल का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। किसी ऐतिहासिक सेना और इमारत के व्यय सम्बन्धी बातों के आधार पर गणित की भी शिक्षा दी जा सकती है। हरबार्ट के भक्तों ने इतिहास से विज्ञान की शिक्षा का भी समन्वय करने का साहस किया है। उदाहरणार्थ, किसी सामुद्रिक युद्ध के वर्णन में हवाओं, तूफानों तथा कुतुबनुमा आदि का वैज्ञानिक ज्ञान देना कठिन न होगा। पर केन्द्रीकरण की इतनी दूर तक खींचा-तानी करना सम्भव नहीं। फलतः कुछ अमेरिकन शिक्षा-शास्त्रियों ने इतिहास का पक्ष छोड़ प्रकृति-विज्ञान (नेचर-स्टडी) को केन्द्रीकरण का आधार माना है। उनका विश्वास है कि प्रकृति-विज्ञान इतना व्यापक है कि इसे चित्र-कला, मूर्ति-निर्माण, भाषा, काव्य-गणित, भूगोल तथा इतिहास आदि सभी विषयों के अध्ययन का आधार माना जा सकता है। 'प्रॉजेक्ट-मेथड' में इस केन्द्रीकरण का विभिन्न रूप देखने को मिलता है। इसमें प्रकृति-विज्ञान के अतिरिक्त किसी हस्तकला (तथा अन्य विषय) को केन्द्रीकरण का आधार मान लिया जाता है।

५—समन्वय का व्यावहारिक रूप

उपर्युक्त विवरण से यह मालूम होता है कि केन्द्रीय विषय के चुनाव में लोग अपनी ही रुचि का ध्यान रखते हैं। हरबार्ट को इतिहास अधिक पसन्द था। पार्कर के लिये विज्ञान श्रेष्ठ है। ड्यूई के लिये हस्तकला सबसे उपयुक्त है। इस प्रकार इन सब विचारों में बालकों की रुचि की अवहेलना का भान होता

बालकों के रुचि की अवहेलना नहीं, विषयान्तर मुख्य विषय के समझने में सहायक हो,

समन्वय साधन, व्यर्थ की खींचा-तानी ठीक नहीं।

है। हमें उदार भावना से प्रत्येक पाठ्य-विषय से सम्बन्धित अन्य विषयों की ओर संकेत करना चाहिए। पर किसी एक ही विषय को मान्यता दे देना दूसरों की अवांछित अवहेलना करनी होगी। हमें समन्वय से बालक को "ज्ञान की एकता" का अनुभव देना है। यदि यह ज्ञान उसको न दिया जा सका तो वह क्रम-बद्ध रूप में कुछ न सीख सकेगा। इस एकता का ज्ञान देने के लिये पाठ्य-क्रम को एक नये ढंग से संगठित करना होगा। विभिन्न विषयों में समान भागों का संगठन इस प्रकार होना चाहिये कि बालक को उसे बार-बार न पढ़ना पड़े। इससे समय की काफी बचत होगी। किसी विषय के पढ़ाने के समय उससे सहायक अन्य विषयों सम्बन्धी बातों का बालकों से उल्लेख कर देना आवश्यक है। इससे उनकी संकीर्णता चली जायगी। पर यह ध्यान रहे कि विषयान्तर के बोझ से बातें उनकी कल्पना के बाहर की न हो जाय। विषयान्तर ऐसा हो कि वह मुख्य विषय के ही समझने में सहायक हो। वस्तुतः शिक्षक का उद्देश्य समन्वय करना नहीं है, वरन् किसी विषय को पढ़ाका है। समन्वय साधन है, साध्य नहीं। अतः यदि उसकी आवश्यकता न हो तो व्यर्थ की खींचा-तानी वांछित नहीं। उपर्युक्त विचारों को एक अमेरिकन लेखक इस प्रकार रखता है:—"वास्तविक केन्द्रीकरण विभिन्न विषयों का यान्त्रिक संगठन नहीं। इसमें तो पाठ्य-विषय सम्बन्धित उन सभी विषयों के अंशों को लेना है जिनका लेना आवश्यक मालूम हो।....यदि इस प्रकार किसी विषय को पढ़ाया जाय तो यह वास्तविक पढ़ाना हुआ।"*

* एर्नाल्ड टॉम्पकिन्स—दी फिलासॉफ़ी ऑव् टीचिङ्ग-पृष्ठ २६१

छोटी कक्षाओं में समन्वय का रूप सबसे अधिक सन्तोष-जनक दिखाई पड़ता है। कदाचित् समन्वय-सिद्धान्त की यह कमी न हो। पर इस सन्तोषजनक स्थिति का एक मनोवैज्ञानिक कारण है। प्रारम्भ में बालक की बुद्धि का विकास इतना नहीं हो पाता कि वह संसार की विभिन्न वस्तुओं की विशेषताओं को सरलता से समझ सके। उसे मनुष्य और प्रकृति में अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। अत: उसकी शक्ति व रुचि के अनुसार वातावरण का कोई भाग चुनकर उसकी शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। पहले बच्चों के सामने विशेषकर मानव-प्रधान-वातावरण का ही कोई अंग रखना ठीक होगा। इस अंग के विभिन्न रूप उसके सामने उपस्थित करने चाहिए। इस प्रकार उसकी शिक्षा का संचालन करने से पाठ्यक्रम में सम्मिलित पढ़ना, लिखना, गणित, गाना, कहानी, ड्राइङ्ग और मिट्टी का काम आदि जैसे विषय वातावरण के एक ही अंग से निकले हुये उसे मालूम होंगे। बालक इस प्रकार उनके स्वाभाविक परस्पर-सम्बन्ध को समझ लेगा और संसार की विभिन्न वस्तुओं का स्पष्ट ज्ञान भी उसे धीरे-धीरे होने लगेगा।

छोटे बालकों की शिक्षा में समन्वय सरल, मानव-प्रधान वातावरण का ही अंग रखना।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शिक्षा में समन्वय का लाना सरल नहीं। पाठ्य-क्रम के विभिन्न विषयों का शिक्षक को जब तक पर्याप्त ज्ञान न होगा वह उनका परस्पर सम्बन्ध बालकों को नहीं समझा सकता। यदि शिक्षक का ज्ञान गम्भीर है तो उसे

शिक्षक को पाठ्य-क्रम का पूरा ज्ञान आवश्यक।

समझने में देर न लगेगी कि भूगोल व प्रकृति-विज्ञान के किसी अंग का परस्पर-सम्बन्ध क्या होगा। भाषा के पाठ में बहुत से ऐसे अवसर आयेंगे जब उसे इतिहास की ओर संकेत करना पड़ सकता है। योग्य अध्यापक यह शीघ्र समझ लेगा कि समन्वित शिक्षा से बालकों का नैतिक व बौद्धिक विकास कैसे किया जाय। शिक्षा का नैतिक उद्देश्य इतना व्यापक है कि इसी के आधार पर पाठ्य-क्रम के सभी विषयों में कुछ परस्पर-सम्बन्ध देखा जा सकता है। अतः समन्वय के सम्बन्ध में कठिनाई के अनुभव करने पर शिक्षक को नैतिक उद्देश्यपर ध्यान देना चाहिए।

सहायक पुस्तकें

१—टी० रेमाएट—प्रिन्सीपुल्स ऑव् एडूकेशन-अध्याय १०।
२—एरनॉल्ड टाम्पकिन्स—द फ़िलासॉफ़ी ऑव् टीचिङ्ग।
३—मैकमरी—जनरल मेथड-अध्याय ४।
४—फ़िन्डले—प्रिन्सीपुल्स ऑव् क्लास टीचिङ्ग।

ग्यारहवाँ अध्याय

कक्षा-शिक्षण व व्यक्तिगत शिक्षण

१—कक्षा शिक्षण के दोष

आजकल व्यक्तिगत-शिक्षण को कक्षा-शिक्षण से श्रेष्ठतर समझा जाता है। आधुनिक मनोविज्ञान के विकास से व्यक्तिगत भिन्नता का रूप अब अधिक समझ में आ गया है। कक्षा-शिक्षण में बालकों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर समुचित ध्यान देना कठिन होता है, क्योंकि एक कक्षा में कई कोटि के बालक पाये जाते हैं। कोई बहुत जल्दी सीख लेता है और किसी को बड़ी देर लगती है। ऐसी स्थिति में तेज़ और कमज़ोर बालकों में समझौता करना कठिन हो जाता है। जब शिक्षक कमज़ोर बालक के समझाने में लग जाता है तो तेज़ बालक कुढ़ता है और पाठ्य-विषय से उसकी रुचि हट जाती है।

बालकों की असमानता से शिक्षण का वांछित फल नहीं, कमज़ोर का पिछड़ना और तेज़ के समय का नष्ट होना, व्यक्तिगत भिन्नता पर ध्यान देना सम्भव नहीं।

बहुत सी बातों में बालकों की आपसी असाम्यता से कक्षा-शिक्षण में शिक्षक को अपने परिश्रम का उचित फल नहीं मिलता। कभी-कभी कुछ बालकों की शक्ति, आवश्यकतायें और समस्यायें दूसरे से इतनी भिन्न होती हैं कि उन्हें कक्षा-शिक्षण विधि से पढ़ाना उनके विकास में रोड़े अटकाना है। थोड़ी-अधिक भिन्नता से कभी-कभी कुछ लाभ हो भी जाता

है, क्योंकि उससे स्पर्धा-भावना के कारण व्यक्ति में विकास के लिए प्रेरणा आ जाती है। परन्तु अधिक भिन्नता वाले बालकों को ३५-४० बालकों की बड़ी कक्षा में पढ़ाने का कभी मनोवांछित फल नहीं मिल सकता। कमज़ोर विद्यार्थी सदा किसी न किसी बात में पिछड़ा ही रहता है। कक्षा में जो कुछ पढ़ा दिया जाता है उसे वे पचा नहीं पाते। सभी लड़कों के साथ पाठ्य-क्रम समाप्त कर लेने पर भी उनके मस्तिष्क में कुछ रह नहीं जाता। अध्यापक अपने चलने की चाहे जो गति अपनाये सभी बालकों के लिए वह एक-सी लाभप्रद नहीं हो सकती। जो लड़के भाषा में कमज़ोर हैं उन्हें कक्षा-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ अधिक समय नहीं दिया जा सकता, न उसमें विशिष्ट रुचि वाले छात्र के लिए कोई विशेष प्रबन्ध ही किया जा सकता है। इन सब दृष्टियों से कक्षा-शिक्षण दोषयुक्त दिखलाई पड़ता है।

ऊपर हम कई बार कह चुके हैं कि बालक के चरित्र-विकास में शिक्षक के व्यक्तित्व का प्रभाव बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। कक्षा-शिक्षण में शिक्षक बालकों के सम्पर्क में इतना नहीं आता कि वह उनका ठीक से नाम भी याद कर सके तो समुचित रूप से प्रभावित करने की बात कहाँ तक की जाय। कुछ शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार कक्षा-शिक्षण अमनोवैज्ञानिक भी है। क्योंकि

शिक्षक के व्यक्तित्व से पूर्ण लाभ कक्षा-शिक्षण में सम्भव नहीं, बाल-स्वभाव की उपेक्षा।

उसमें बालक के साधारण स्वभाव की अवहेलना की जाती है। चुपचाप बैठा रहना बालक को पसन्द नहीं। वह कुछ न कुछ करते रहना चाहता है। अध्यापकों के प्रवचन सुनने में उसकी

रुचि नहीं। पर कक्षा में ऐसा सम्भव नहीं। इसीलिए तो छोटे लड़के कक्षा में बहुधा ऊधम मचाते हुए देखे जाते हैं।

२—कक्षा-शिक्षण के गुण

कक्षा-शिक्षण के उपर्युक्त दोषों से तो ऐसा जान पड़ता है कि वह सर्वथा त्याज्य है। पर बात ऐसी नहीं। इसीलिए तो व्यक्तिगत शिक्षण की कई विधियों के आविष्कार होने पर भी कक्षा-शिक्षण का महत्त्व एकदम अभी गया नहीं। व्यक्तिगत-शिक्षण पूर्णतः सम्भव होता तो वह आदर्श की बात होती। पर इस आदर्श तक पहुँचना कठिन है। इतने अध्यापकों की व्यवस्था कैसे की जा सकती है? इसमें आर्थिक समस्या भी आजाती है। दूसरे, बालक में भी सामूहिकता की मूल-प्रवृत्ति काफी जागृत रहती है। वह अपनी उम्र व कोटि के बालकों के साथ रहना चाहता है। वह अपने इस समाज में रह कर नैतिकता तथा आचरण सम्बन्धी अनेक पाठ सीखता है। उसका मानसिक विकास भी अपनी कोटि के बालकों में रहकर अधिक होता है; क्योंकि, स्पर्धा, अनुकरण, सहानुभूति आदि प्रवृत्तियों के कारण वे एक दूसरे से बराबरी या बढ़ जाने की चेष्टा में रहते हैं। इस चेष्टा से उनमें कई गुणों का आ जाना सरल होता है। कभी-कभी यह देखा गया है कि व्यक्तिगत-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत बालक कक्षा-शिक्षण की भाँति नहीं सीख पाता, क्योंकि अकेले सीखने में प्रेरणा की कमी रहती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय होते हैं जिनमें सहानुभूति,

व्यक्तिगत शिक्षण पूर्णतः सम्भव नहीं, कक्षा में आचरण का पाठ, अपनी उम्र के बालकों के साथ बालक की प्रवृत्तियों का विकास, अकेले सीखने में प्रेरणा की कमी।

संकेत और अनुकरण की अधिक आवश्यकता होती है। ऐसे पाठ्य-विषयों में बालकों की संख्या जितनी ही अधिक होगी शिक्षण उतना ही सफल होगा। श्रोतागण की संख्या जितनी ही अधिक होती है भाषणवक्ता उतना ही अच्छा व्याख्यान देता है। यही बात शिक्षक के सम्बन्ध में भी कुछ अवसरों पर कही जा सकती है। ऐसे अवसर जान ऐडम्स के शब्दों में "साहित्य, धर्म, ज्ञान, कला, संगीत, इतिहास तथा भूगोल" के शिक्षण में आते हैं।

नई शिक्षण-पद्धतियों को भी कक्षा-शिक्षण की आवश्यकता कक्षा-शिक्षण के अन्तर्गत व्यक्तिगत ध्यान देने का प्रबन्ध, कक्षा में बालकों की संख्या कम और स्कूल में अध्यापकों को बढ़ाना आवश्यक।

कुछ लोगों का कहना है कि कक्षा-शिक्षण में कमज़ोर विद्यार्थियों के कारण एक ही बात के बार-बार दोहराने से केवल उन्हीं का लाभ नहीं होता, वरन् तेज़ छात्रों के मस्तिष्क में भी बात बड़ी अच्छी तरह बैठ जाती है। इन्हीं सब कारणों से मॉन्तेसरी, प्राजेक्ट मेथड, 'डाल्टन प्लान' आदि पद्धतियाँ विरोधी होते हुये भी कक्षा-शिक्षण की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं करतीं और इनके भी समय-समय पर कक्षा-शिक्षण का आश्रय लेना पड़ता है। इससे यह जान पड़ता है कि हमें किसी मध्यम मार्ग का अनुसरण करना होगा। कक्षा-शिक्षण और व्यक्तिगत-शिक्षण के स्थान पर किस समन्वित मार्ग को अपनाया जाय इसका भी एकमत से निश्चय नहीं किया जा सका है। आदर्श तो यह होगा कि व्यक्तिगत-शिक्षण विधि के अन्तर्गत ही कोई ऐसा उपाय निकाला जाय जिससे कक्षा-शिक्षण वाले लाभ से

छात्र वंचित न रह सकें। पर अभी तक किसी ऐसे मार्ग की सम्भावना नहीं दीख पड़ी है जो इस दृष्टिकोण से दोषमुक्त प्रतीत हो। अतः वर्त्तमान स्थिति में तो यही ठीक जान पड़ता है कि कक्षा-शिक्षण-व्यवस्था के अन्तर्गत ही छात्रों पर व्यक्तिगत ध्यान देने का कुछ प्रबन्ध किया जाय। यह ठीक है कि ऐसे प्रबन्ध में शिक्षक का उत्तरदायित्व और परिश्रम बढ़ जायगा। पर क्या ऐसा करने में वह अपने कर्त्तव्य का ही पालन न करेगा? बालकों पर यदि व्यक्तिगत ध्यान देना न हुआ तो शिक्षक कक्षा में आकर मनमाना पढ़ा देने से ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ बालकों के विकास पर कुठाराघात करेगा। ऐसी स्थिति को हमें यथाशक्ति रोकना है और कुछ ऐसी विधियों का अवलम्बन लेना है जिनसे छात्रों की व्यक्तिगत भिन्नता का शिक्षक को ज्ञान देकर यथा-सम्भव बालकों की आवश्यकतानुसार शिक्षण-कार्य का सगठित करना है। इस प्रयत्न में शिक्षक के भार को कुछ कम करने के लिये कक्षा में बालकों की संख्या ३५—४० से २०—२५ करनी होगी और स्कूल में शिक्षकों की संख्या को भी बढ़ाना होगा। सामान्य स्कूल-परिस्थिति के अन्तर्गत व्यक्तिगत-शिक्षण की व्यवस्था के लिए कुछ पद्धतियों का निर्माण किया गया है। संक्षेप में नीचे हम इसका उल्लेख करते हैं:—

३—मैकननकी दो-दो की शिक्षण-विधि

मैकनन का कहना है कि सम्पूर्ण कक्षा को यदि दो-दो बालकों की टोली में विभाजित कर पढ़ाया जाय तो यह कक्षा-शिक्षण से कहीं अधिक उपयोगी होगा, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत-शिक्षण और कक्षा-शिक्षण दोनों के गुण आ

व्यक्तिगत और कक्षा शिक्षण दोनों के गुण,

स्वयं सीखने के लिए उत्साहित करना।

जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इसका बालक पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिक होती है और आवश्यकता पर अध्यापक की सहायता भी मिल जाती है। इस प्रकार मैकनन शिक्षा में साझेदारी (पार्टनरशिप) की भावना का प्रवर्त्तक है। उसके ये विचार शिक्षण-कला के बड़े महत्त्वपूर्ण देनों में से माने जाते हैं। इस सिद्धान्त का प्रधान उद्देश्य यह है कि दिन के अधिकतम समय में बालक क्रियाशील रहे और यथासम्भव वह अपने प्रयत्न से सीखने की चेष्टा करे। मैकनन ने यह समझ लिया था कि प्रचलित शिक्षण-विधि का प्रधान दोष यह है कि उसमें बालक की स्वाभाविक क्रियाशीलता की जागृति के लिये समुचित अवसर नहीं दिया जाता। जल्दी सिखा देने की धुन में सब कुछ शिक्षक अपने आप ही कह जाता है। जैसे छोटे बर्तन में बड़े मुँह वाले नल से वेगपूर्वक पानी गिरने से बर्तन भरता नहीं, प्रत्युत उसमें जो कुछ पानी रहता है उसका भी थोड़ा भाग बाहर गिर जाने का भय रहता है, वैसे ही शिक्षकों की वेगवती वाणी बालकों के मस्तिष्क में नहीं जमती। इसके फलस्वरूप उन्हें जो कुछ आता है उसे भी वे कभी-कभी भूल जाते हैं। अतः शिक्षक को अपनी वाणी पर नियन्त्रण रख बालकों को स्वयं सीखने के लिए उत्साहित करना है। औसत लगा कर देखा गया है कि कक्षा में शिक्षक और बालकों के बोलने के समय का अनुपात २० : १ का है अर्थात् शिक्षक यदि ३० मिनट बोलता है तो बालक केवल १½ मिनट बोल पाता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसीलिए तो शिक्षा में क्रियाशीलता (ऐक्टीविटी) की इतनी आवाज उठाई गई और उठाई जा रही है।

शिक्षक की स्थिति डाक्टर की तरह ।

मैकनन का कहना है कि कक्षा-समय में प्रत्येक बालक को क्रियाशील रहना है। आधे समय तक उसे सीखना है और आधे में उसे अपने साझीदार के प्रश्न का उत्तर देना है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैकनन ने कुछ पुस्तकों की रचना की जिन्हें अंग्रेजी में "डिफ़ेरेन्शियल पार्टनरशिप बुक्स" कहते हैं। मैकनन का यह अनुभव रहा कि उन विषयों को छोड़कर जिनमें शिक्षक की सहायता पग-पग पर आवश्यक होती है अन्य विषयों में इन पुस्तकों की सहायता से बालक बहुत कुछ अपने से ही सीखने में समर्थ हो जाते हैं। मैकनन की विधि में सर्वप्रथम शिक्षक बालकों को कार्य करने की पूरी विधि समझा देता है। इसके बाद लड़के दो-दो की टोलियों में बँट कर कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। कुछ देर बाद सभी एकत्रित होते हैं, जिससे शिक्षक उनकी गलतियों का सुधार कर सके। इस प्रकार इस विधि से लड़के अपने से अध्ययन करना सीख जाते हैं। मैकनन शिक्षक की स्थिति की तुलना डाक्टर से करता है। डाक्टर रोगी की दवा इस प्रकार करता है कि फिर उसको देखने की आवश्यकता न हो। यदि डाक्टर की उपस्थिति नित्य आवश्यक है तो इसका अर्थ यह है कि वह अपने कर्त्तव्य पालन में सफल न हुआ। इसी प्रकार बालक की शिक्षा का संचालन शिक्षक को इस प्रकार करना है कि उसे उसकी उपस्थिति आवश्यक न मालूम हो। जो बालक बिना शिक्षक की सहायता के नहीं सीख सकता उसकी शिक्षा का मनोवैज्ञानिक संचालन नहीं किया गया है।

४—निरीक्षित स्वाध्याय (सुपरवाइज़्ड़ स्टडी)

मैकनन की उपर्युक्त विधि से मिलती जुलती प्रो० हॉलक्वेस्ट

शिक्षक के निरीक्षण में बालक अपनी शिक्षा के लिए उत्तरदायी, व्यक्तिगत भिन्नता पर ध्यान देना।

ने एक दूसरी विधि का विकास किया है जिसे 'निरीक्षित स्वाध्याय' कहते हैं। इस विधि का ध्येय शिक्षक के निरीक्षण में बालक को अपनी शिक्षा के लिये उत्तरदायी बनाना है। इस प्रकार उसमें आत्म-निर्भरता आयेगी और उसके व्यक्तित्व का :विकास मनोवैज्ञानिक ढंग से चलेगा। इस धारणा के आधार पर प्रो० हालक्वेस्ट एक नये ढंग से स्कूल का संगठन करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी एक घण्टे के कार्य-क्रम का वे बारह और चौबीस-चौबीस मिनट के तीन भाग करते हैं। पहले बारह मिनट या कुल समय के १/५ भाग में शिक्षक पिछले पाठ को दोहराते हुये छात्रों के पूर्व ज्ञान की परीक्षा करता है और आगामी पाठ के लिए उन्हें तैयार करता है। इस प्रथम भाग को प्रस्तावना (रिव्यू) काल कहते हैं। दूसरे २/५ भाग में शिक्षक बालकों की जिज्ञासा को जागृत करते हुये उनके सामने कुछ समस्यायें रखता है। इसको निर्देश (एसाइनमेण्ट) कहते हैं। तीसरे भाग में छात्र समस्याओं के समाधान में व्यक्तिगत रूप से लग जाते हैं। पाठ के निर्देश में शिक्षक बालक की विलक्षणताओं पर विशेष ध्यान देता है। प्रखर, साधारण और मन्द छात्रों की विभिन्न योग्यता पर ध्यान देते हुये उसे उन्हें कार्य देना आवश्यक होगा, अन्यथा निरीक्षित स्वाध्याय का उद्देश्य सफल न हो सकेगा।

कुछ अलोचकों का कहना है कि "निरीक्षित स्वाध्याय" से बालकों में आत्म-निर्भरता नहीं आती। वे सदा शिक्षक के ही निर्देश पर आश्रित रहते हैं। पर इसके समर्थकों का

कहना है कि शिक्षक को पाठ संगठन का इस प्रकार करना है कि समस्यायें छात्रों के मस्तिष्क में स्वयं उत्पन्न हों और उनके समाधान का वे स्वतः उपाय सोचें। अन्त में हम इसी निष्कष पर पहुँचते हैं कि "निरीक्षित-स्वाध्याय"—विधि कक्षा-शिक्षण और व्यक्तिगत-शिक्षण का अच्छा समन्वय है। प्रथम दो भाग में सभी छात्र एक साथ ही कक्षा में बैठ कर शिक्षक की बातें सुनते हैं और तीसरे भाग में उन्हें अपनी व्यक्तिगत शक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है।

कक्षा-शिक्षण और व्यक्तिगत-शिक्षण का अच्छा समन्वय।

५—गैरी पद्धति (दी गैरी सिस्टम)

अमेरिका के इण्डियाना राज्य के श्री० डब्लू० ए० वर्ट ने एक नई शिक्षा-विधि का निर्माण किया है, जिसे "गैरी* पद्धति" (गैरी सिस्टम) कहते हैं। श्री वर्ट का विश्वास है कि स्कूल ज्ञान देने का नहीं वरन् शिक्षा देने का स्थान है। उसके अनुसार 'कार्य', 'खेल' और 'अध्ययन' शिक्षा के तीन साधन हैं। अतः उसने एक ऐसे प्रकार के स्कूल के संगठित करने का प्रयत्न किया जहाँ बालकों के खेल और मनोरंजन का समुचित प्रबन्ध होते हुये भी 'ज्ञान' सीखने का भी पूरा अवसर मिलता रहे। इस प्रकार स्कूल अंशतः 'घर', 'मनोरंजन के स्थान' तथा 'ज्ञान सीखने के स्थान' हैं। वर्ट कहता है कि जैसे घरों और बगीचों में बालकों के लिए

स्कूल ज्ञान देने का नहीं — वरन् शिक्षा देने का स्थान ; 'कार्य' 'खेल' और 'अध्ययन' शिक्षा के तीन साधन।

* "गैरी" नामक शहर में इस पद्धति के निर्माण होने के कारण इसका नामकरण गैरी कर दिया गया।

कोई निश्चित स्थान नहीं होता और वे कहीं भी बैठ-उठ सकते हैं, उसी प्रकार स्कूल में भी प्रत्येक बालक के लिए एक निश्चित स्थान का होना आवश्यक नहीं। जोड़-घटा कर वर्ट ने यह निष्कर्ष निकाला कि स्कूल में जितने कमरे होते हैं उनके आधे से ही काम निकल सकता है, क्योंकि जब कुछ लड़के बाहर काम करते हैं तो करीब आधे कमरे हर समय खाली पड़े रहते हैं। अतः उसने गैरी-स्कूल में बालकों की कुल संख्या के आधे ही के लिए बैठने की व्यवस्था की और आधे को बाहर मैदान में काम करने की। परन्तु गैरी-पद्धति को सफल बनाने के के लिये आवश्यक है कि स्कूल में काम करने और खेलने के लिए और कमरों की व्यवस्था की जाय। कला-गृह, पुस्तकालय, मनोरंजन-स्थान, खेल-मैदान, प्रयोगशाला, कार्य-स्थान आदि स्थानों का समुचित प्रबन्ध आवश्यक है।

स्कूल-समय और कार्य पहले से बड़ा, छुट्टी नहीं, स्कूल-अधिकारियों और अभिभावकों में घनिष्ट सम्बन्ध।

वर्ट ने अपनी शिक्षा-पद्धति में दो नई बातों का समावेश किया है। (१) उसने स्कूल-समय को बड़ा बना दिया और स्कूल-कार्य को भी तदनुसार और बड़ा बनाना पड़ा। 'स्कूल' खेल, कार्य और अध्ययन करने का स्थान है, इसलिए छुट्टियाँ देने की व्यवस्था ही नहीं की गई; क्योंकि स्कूल में रहते हुये भी अपने मनोरंजन द्वारा बालक छुट्टियाँ मना सकता है। इस विश्वास के कारण रविवार की तथा अन्य छुट्टियाँ काट दी गईं। स्कूल बारहों महीने व सप्ताह भर खुला रहता है। (२) अपने अवकाश के समय अभिभावकों को स्कूल में आने का आमन्त्रण सदा खुला रहता है। वे किसी भी समय आकर स्कूल में अपना

कुछ मनोरंजन कर सकते हैं। इस प्रकार वर्ट ने स्कूल-अधिकारियों और अभिभावकों में एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है।

बालकों को अधिक स्वतन्त्रता, कक्षा-शिक्षण का भी रूप।

हम यहाँ 'गैरी पद्धति' के केवल उन्हीं अंशों पर दृष्टिपात करेंगे जिनसे शिक्षा में बालक को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है और उसे अपने विकास के लिये उत्तरदायी बनाया जाता है। अन्य स्कूलों की अपेक्षा "गैरी-स्कूलों" के बालकों को अधिक स्वतन्त्रता होती है। ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बालक को हर समय स्कूल में काम ही नहीं करना पड़ता और न शिक्षक को प्रवचन ही देना। कुछ अध्यापकों का कर्त्तव्य बालकों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं का अध्ययन कर तदनुसार उनके कार्य, मनोरंजन और अध्ययन की व्यवस्था करना ही होता है। वे बालकों को पाठ्य-वस्तु की ओर संकेत कर देते हैं और यह भी बतला देते हैं कि किस कक्षा में उनका बैठना आवश्यक होगा। इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आयोजन का कुछ मनोवैज्ञानिक प्रयत्न अवश्य किया जाता है। 'गैरी-पद्धति' में एक विशेषता यह है कि कभी-कभी दस-बारह कक्षाओं के बालकों को एक ही स्थान (ऑडिटोरियम) पर एकत्रित किया जाता है और उन्हें एक ही अध्यापक कुछ देर तक कुछ पढ़ाता अथवा उनसे कोई काम कराता है। इस प्रकार कक्षा-शिक्षण का भी रूप इस पद्धति में दिखलाई पड़ता है। यद्यपि सभी स्कूलों में ऐसे योग्य अध्यापक नहीं मिलते जो इतनी बड़ी कक्षा का निरीक्षण करते हुये उसके अध्ययन में योग दे; पर कुछ तो ऐसे अवश्य ही हर अच्छे स्कूल में होते हैं।

प्रॉजेक्ट पद्धति की तरह 'गैरी-पद्धति' भी स्कूल और व्यक्ति के बाहरी जीवन में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। पर इसकी विधि कुछ भिन्न है। 'गैरी-पद्धति' में शिक्षक केवल पढ़ाता ही नहीं, वरन् साधारण नागरिकों के जीवन-यापनार्थ जो कार्य आवश्यक हैं उनके करने की विधि को भी वह बालकों को समझाता है। उदाहरणार्थ, रसायन-शास्त्र (केमिस्ट्री) का अध्यापक उन प्राकृतिक वस्तुओं का विश्लेषण करना बालकों को सिखलाता है जिन्हें बाहर उसका व्यवसायी भी करता है। ऐसे विश्लेषण में लड़के पूर्ण भाग लेते हैं। इस प्रकार गैरी-स्कूल केवल ज्ञान सीखने का ही नहीं, वरन् काम करने का भी स्थान है।

बाहरी और स्कूल के जीवन में सम्बन्ध।

कुछ लोगों की धारणा है कि गैरी-स्कूल में कक्षा-शिक्षण पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है और इस सम्बन्ध में वह अन्य साधारण स्कूलों से पीछे है। गैरी-स्कूल के इस दोष का कारण यह है कि इसमें अध्यापक अन्य स्कूल के अध्यापकों की तरह अपने को बालकों की उन्नति के लिए उत्तरदायी अनुभव नहीं करते, क्योंकि वे बालकों को काफी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दे देते हैं। गैरी-स्कूल में कुछ "अप्लीकेशन-टीचर" हुआ करते हैं। इनका कर्त्तव्य मन्द बालकों को व्यवसाय, व्यापार, उद्योग तथा नागरिकता आदि की बातें समझानी होती हैं, जिससे वे भविष्य में अच्छे नागरिक बन सकें। कुछ ऐसे अध्यापकों की उपस्थिति से स्कूल के अध्यापक अपने को इस उत्तरदायित्व से मुक्त समझते हैं। पर यह अच्छा लक्षण नहीं,

कक्षा-शिक्षण पर ध्यान कम, अप्लीकेशन-टीचर।

क्योंकि अध्यापकों को बालकों के विकास के लिए एक सामूहिक उत्तरदायित्व का अनुभव करना चाहिए। इसलिए अब कुछ लोग 'गैरी-स्कूलों' में 'अप्लीकेशन-टीचर' के कार्य क्षेत्र को बढ़ाना चाहते हैं। सभी बालकों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं के अध्ययन की उससे उपेक्षा होनी चाहिए और बालकों की कुछ विशेष समस्याओं पर उसे अन्य अध्यापकों से भी विचार-विनिमय करना चाहिए। ऐसा न करने से स्कूल की एकता नष्ट हो जाती है और काम भी सन्तोष-जनक नहीं हो पाता, क्योंकि सभी बालकों के विषय में "अप्लीकेशन-टीचर" का जानना सम्भव नहीं।

६—"मेसन-पद्धति"

इस पद्धति के निर्माता मिस चार्लट मेसन हैं। इसके अनुसार बालकों को ज्ञानवर्द्धक अथवा साहित्यिक आदि विषय नहीं पढ़ाये जाते, वरन् उन्हें यह सिखलाया जाता है कि "क्या और कैसे पढ़ें।" "क्या और कैसे पढ़ें" का ज्ञान हो जाने पर बालक स्वतन्त्र अध्ययन में समर्थ हो सकेंगे। मेसन के अनुसार बालकों की पाठ्य-पुस्तकों में विविध प्रकार के विषयों का होना आवश्यक है, क्योंकि इससे उनकी रुचि बनी रहेगी। विषय ऐसे हों कि वे यथासम्भव उनके व्यक्तिगत अनुभव की ओर संकेत कर सकें। ऐसा होने से वे उन्हें स्वतः समझ सकेंगे। विषय को एक बार बालक को पढ़ने के लिए देना चाहिए। तत्पश्चात् मौखिक और लिखित रीति से उसे व्यक्त करने के लिए उन्हें उत्सा-

'क्या' और 'कैसे' पढ़ें, पाठ्य-पुस्तकों में विविध प्रकार के पाठ, मौखिक और लिखित पुनरावृत्ति पर जोर, उपयुक्त पुस्तकों का अभाव बाधक।

हित करना चाहिए। इस प्रकार मेसन-पद्धति में मौखिक और लिखित पुनरावृत्ति पर विशेष जोर दिया जाता है, क्योंकि मिस मेसन का विश्वास है कि बिना आवृत्ति के कोई ज्ञान स्थायी नहीं होता। पर यह ध्यान देने की बात है कि मेसन-पद्धति में ज्ञानार्जन के लिए बालक को एक ही बार पढ़ने पर जोर दिया जाता है, जिससे एक ही बार में वह अपना ध्यान एकाग्रित करना सीख ले। जहाँ कहीं भी इस पद्धति का प्रयोग किया गया वहाँ इसे बड़ी सफलता मिली है। साधारण स्कूलों के छात्रों की अपेक्षा 'मेसन-पद्धति' पर चलने वाले स्कूलों के छात्र अधिक श्रम, उत्साह और संलग्नता से अपना विषय पढ़ते और याद करते हैं और उनका ज्ञानार्जन भी अधिक होता है। पर मेसन-पद्धति को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त पुस्तकों का अभाव बड़ा बाधक दिखलाई पड़ता है।

सहायक पुस्तकें

१—बॉसिङ्ग, नेलसन एल०—प्रोगेसिव् मेथड ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स
२—बर्टन, विलियम एच०—द गाइडेन्स ऑव् लर्निङ्ग ऐक्टीविटीज़
३—मेसन—एन एसे टुवर्ड्स ए फ़िलॉसफ़ी ऑव् एडूकेशन
४—सी० डब्लू वाशबर्न—ऐडजस्टिङ्ग द स्कूल टु द चाइल्ड
५—डब्लू जे० मैककालिस्टर—द ग्रोथ ऑव् फ्रीडम इन एडूकेशन
६—डब्लू सी० बैगले—एडूकेशनल वैलूज़
७—स्टेवेन्सन—प्रॉजेक्ट मेथड इन टीचिङ्ग
८—ई० ड्यूई— डाल्टन लेबोरेटरी प्लान
९—ह्यूग्स—लर्निङ्ग एण्ड टीचिङ्ग—अध्याय, २०
१०—रिस्क—प्रिन्सीपुल्स एण्ड प्रैक्टिसेज़ ऑव् टीचिङ्ग—अध्याय, २४

बारहवाँ अध्याय

परीक्षा

१—भूमिका

परीक्षा हमारी शिक्षा-प्रणाली का एक मुख्य अंग है। अतः इस पर भी कुछ विचार करना उपयुक्त जान पड़ता है। परीक्षा बालकों की शिक्षा का माप-दण्ड हो गई है। उन्हें परीक्षा में पास होने के लिए ही पढ़ाया जाता है। शिक्षक के सामने भी मुख्य उद्देश्य अपने छात्रों को परीक्षा में शत प्रतिशत उत्तीर्ण करना ही रहता है।

परीक्षा माप-दण्ड,

परीक्षा के लिए पढ़ाना।

व्यक्तित्व के विकास का आदर्श शिक्षकों के सामने बहुत कम आता है। वास्तव में यह स्थिति बड़ी खेदजनक है। हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं कि परीक्षा से हानि ही होती है, परन्तु हमें उसके गुण व अवगुण दोनों पर ध्यान देना चाहिए। पढ़ाया हुआ विषय विद्यार्थी ने कहाँ तक समझ लिया है तथा शिक्षक अपने अध्यापन-कार्य में कहाँ तक सफल हुआ है इसकी जाँच के लिए परीक्षा का अवलम्बन लेना अनिवार्य है। इसलिए छात्रों की समय-समय पर परीक्षायें हुआ करती हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा-विभाग अथवा सरकार द्वारा भी कुछ परीक्षायें हुआ करती हैं। इनके फल पर प्रधान प्रमाण-पत्र दिया जाता है। पर वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली कुछ ऐसी हो गई है कि इससे विद्यार्थियों को बड़ा डर लगता है। परीक्षा के समय उन्हें खाने-पीने का अवकाश नहीं रहता। रात-रात

भर जाग कर परिश्रम करने पर भी उन्हें परीक्षा का डर बना ही रहता है। नीचे हम परीक्षा के कुछ अन्य दोषों की ओर भी संकेत कर रहे हैं। उनकी व्याख्या की आवश्यकता नहीं; इसलिए उन्हें हम सूत्र रूप में ही दे रहे हैं।

२—वर्त्तमान परीक्षा-प्रणाली के दोष

१—एक ही उत्तर पर विभिन्न परीक्षकों द्वारा भिन्न-भिन्न अंक दिये जाते हैं। एक परीक्षक उसमें प्रथम श्रेणी देता है, तो दूसरा तृतीय और तीसरा फ़ेल तक कर देता है। इस प्रकार परीक्षा का निर्णय परीक्षक की व्यक्तिगत झक पर बहुत निर्भर रहता है।

२—पाठ्य-क्रम की अपेक्षाकृत प्रश्नों की संख्या कम होती है। इसलिये परीक्षार्थी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का अनुमान लगा कर पढ़ते हैं। यदि अनुमानित प्रश्न न आया तो उनकी बुरी दशा होती है।

३—प्राय: सभी प्रश्नों के लिए बराबर अंक रहते हैं। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि सभी प्रश्नों की तैयारी में समान परिश्रम आवश्यक नहीं होता।

४—प्रत्येक क्षेत्र में छात्र की लेखन-शक्ति की ही विशेषकर परीक्षा होती है। इस शक्ति के अभाव में सारी बातों को जानते हुये भी परीक्षार्थी इच्छित सफलता नहीं पाता। उदाहरणार्थ, भूगोल व इतिहास जैसे विषयों में कुछ परीक्षार्थी अपनी लेखन-शक्ति के सहारे ऐसी भूमिका बाँध देते हैं कि मालूम होता है कि उन्हें बहुत आता है और दूसरे परीक्षार्थी इसके अभाव में सारी बातें जानते हुए भी अपने भावों का सफल प्रकाशन नहीं कर पाते। इस प्रकार परीक्षा द्वारा उनके इतिहास व

भूगोल की उतनी परीक्षा नहीं होती जितनी कि लेखन-शक्ति की। इसमें परीक्षा के उद्देश्य की हार हो जाती है।

५—परीक्षा अविश्वास के वातावरण में ली जाती है। अध्यापक संतरी की तरह परीक्षा-भवन में नियुक्त कर दिये जाते हैं और वे अपने सूक्ष्म निरीक्षण के प्रमाण देने के एक अवसर को भी नहीं चूकते। परन्तु नकल करने वाले परीक्षार्थी किसी न किसी प्रकार अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ही लेते हैं। कागज पर लिख कर इधर-उधर रख लेना अथवा अपने हाथ या पैर पर कुछ लिख लेना उन्हें कभी-कभी सहायक हो जाता है; यदि इस प्रकार नक़ल करते हुये वह पकड़ा गया तो उसे परीक्षाधिकारी मनमाना दण्ड दे डालते हैं।

६—परीक्षा से विद्यार्थी के वास्तविक ज्ञान की ठीक जाँच नहीं हो पाती। यह देखा जाता है कि कम बुद्धि और ज्ञान वाला छात्र कभी-कभी अपने से तेज विद्यार्थी से परीक्षा में आगे बढ़ जाता है। इसका कारण उपर्युक्त प्रथम दो पैराग्राफ़ में स्पष्ट है।

७—प्रश्नों का निश्चित और स्पष्ट उत्तर नहीं होता। विभिन्न परीक्षार्थी अपनी-अपनी विधि से उत्तर देते हैं। कोई तर्क शक्ति पर जोर देता है तो कोई स्मृति और बातों की क्रम-बद्धता पर। वस्तुतः परीक्षक इन तीनों बातों का एक ही में समन्वय चाहता है, पर एक ही उत्तर में विभिन्न मानसिक क्रियाओं का समन्वय सम्भव नहीं।

३—सुधार के लिए कुछ सुझाव

उपर्युक्त दोषों के निराकरण के लिये शिक्षा-शास्त्रियों ने मनोवैज्ञानिकों की सहायता से एक नई परीक्षा-प्रणाली का

आविष्कार किया है जिसे 'अचीवमेण्ट टेस्ट या न्यू टाइप-टेस्ट' अथवा 'ज्ञान-परीक्षा' कहते हैं। अचीवमेण्ट टेस्ट के गुण और अवगुण दोनों हैं। वर्त्तमान परीक्षा-प्रणाली के बहुत से दोषों को उससे निःसन्देह दूर किया जा सकता है। परन्तु हमारे गरीब देश में, जहाँ कि साक्षरता की ही समस्या का सरल समाधान नहीं दिखलाई पड़ता. उनका उपयोग धनाभाव के कारण सम्भव नहीं। "अचीवमेण्ट टेस्ट" की रचना के लिए हमें कुछ विशिष्ट अध्यापकों की ही आवश्यकता न होगी, वरन् उन्हें शिक्षा भी एक दूसरे ढंग से देनी पड़ेगी। पर हमारी वर्त्तमान शिक्षा-व्यवस्था 'अचीवमेण्ट टेस्ट' के निर्माण तथा उपयोग के लिए तैयार नहीं। अतः हम यहाँ 'अचीवमेण्ट टेस्ट' के गुणों, व अवगुणों का विवेचन करना विशेष लाभप्रद नहीं समझते। इसकी व्याख्या तो किसी एक अलग ही पुस्तक में की जायगी। हम यहाँ केवल यही विचार करेंगे कि वर्त्तमान परीक्षा-प्रणाली में किन किन बातों का सुधार कर दिया जाय कि वह काम-चलाऊ हो जाय, क्योंकि सुधार का धीरे-धीरे लाना ही अधिक युक्तिसंगत और व्यावहारिक होता है।

ऊपर हम कह चुके हैं कि परीक्षा का होना आवश्यक है। हमें प्रयत्न यह करना है कि वह उपर्युक्त दोषों से मुक्त हो जाय। यथासम्भव परीक्षा स्वाभाविक वातावरण में लेनी चाहिए। उसका वातावरण कृत्रिम न हो, अन्यथा छात्रों के मन से उनके प्रति भय न जायगा। परीक्षा का रूप ऐसा हो कि वह छात्र के दैनिक शिक्षा-क्रम का ही आवश्यक अंग

अचीवमेण्ट टेस्ट्स के प्रयोग में कठिनाई; परीक्षा स्वाभाविक वातावरण में; परीक्षा

दैनिक शिक्षा के अंग की तरह।

मालूम हो। यदि उसे दैनिक शिक्षा-क्रम का साधारण अंग बनाया जा सका तो उसकी पूर्व सूचना आवश्यक न होगी। विषयों के अध्यापन की तरह अचानक एक दिन परीक्षा भी हो जायगी। यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न की जाती तो वह आदर्श होता। इससे छात्रों में प्रतियोगिता की भावना न आयेगी। प्रतियोगिता से शारीरिक और मानसिक शक्तियों का बड़ा ह्रास होता है। परीक्षा के पूर्व बालकों से स्पष्ट कह देना चाहिए कि बिना डर के उन्हें जो कुछ आता हो लिखें।

प्रश्न-पत्र के बनाने में अध्यापकों को कुछ बातों पर ध्यान देना चाहिए। कठिन-कठिन प्रश्न देना मनोवैज्ञानिक नहीं।

सरल प्रश्न, लम्बा नहीं, छात्रों की रुचि और योग्यता के अनुकूल, प्रश्न-पत्र एक ही बैठक में न बनाना, सभी पाठों के अंश, प्रश्न का रूप ऐसा हो कि छात्रों को अपनी ओर से कहने की स्वतन्त्रता।

प्रश्न इतने सरल हों कि अधिकांश छात्र अधिक से अधिक लिख सकें। प्रश्न-पत्र का लम्बा होना भी ठीक नहीं। प्रश्नों की रचना में यह ध्यान रहे कि छात्रों की रुचि और योग्यता के अनुकूल कुछ प्रश्न अवश्य मिल जाँय। प्रश्न-पत्र एक ही बैठक में नहीं बनाने चाहिए। ऐसा करने से प्रायः उन्हीं प्रश्नों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जो कि आसानी से बन जाते हैं और इस प्रकार पठित विषय का बहुत भाग छूट जाता है। प्रयत्न यह होना चाहिए कि प्रत्येक पाठ से कुछ न कुछ बातें पूछी जाँय। ऐसा करना असम्भव नहीं—पर प्रश्न-पत्र बनाने में अध्यापक को अधिक परिश्रम करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, भाषा के प्रश्न-पत्र में व्याख्या, शब्दार्थ, जीवन-

चरित्र तथा शैली आदि सम्बन्धी प्रश्न विभिन्न पाठों से बनाये जा सकते हैं। अपनी दृष्टि से केवल महत्त्वपूर्ण पाठों से ही प्रश्नों को चुन देना ठीक नहीं। इसी प्रकार भूगोल, इतिहास, विज्ञान तथा गणित आदि विषयों में भी सभी पठित-विषयों से कुछ न कुछ प्रश्न बनाये जा सकते हैं। ऐसा करने से परीक्षार्थियों की अनुमान लगाने की आदत धीरे-धीरे बहुत कम हो जायगी। प्रश्नों का रूप ऐसा हो कि छात्रों को अपनी ओर से भी कुछ कहने की स्वतन्त्रता हो। इससे उनके व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होगी और परीक्षा का मूल्य भी बढ़ जायगा।

सार्वजनिक परीक्षायें, इनका शिक्षा-प्रणाली पर बड़ा प्रभाव, परीक्षा एक कला।

उपर्युक्त बातें तो विशेषकर स्कूल की आन्तरिक परीक्षाओं के सम्बन्ध में हुईं। पर इनके अतिरिक्त जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ दूसरी परीक्षायें भी होती हैं जो शिक्षा-विभाग अथवा सरकार द्वारा आयोजित की जाती हैं। इन्हें सार्वजनिक परीक्षायें कह सकते हैं। इन परीक्षाओं के परीक्षकों को भी ऊपर कही हुयी बातों पर यथासम्भव ध्यान देना चाहिए, क्योंकि उनका उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता है। परीक्षकों को सदा यह याद रखना चाहिए कि उनके प्रश्न-पत्र का प्रभाव शिक्षा-प्रणाली पर बड़ा गहरा पड़ता है। जैसे प्रश्न परीक्षा में पूछे जाते हैं उसी के अनुसार अध्यापक कक्षा में पढ़ाने का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि यदि परीक्षक सावधानी से प्रश्न-पत्र बनाये तो शिक्षा-प्रणाली और परीक्षा की बहुत कुछ बुराइयाँ दूर की जा सकती हैं। जैसे अध्यापन एक कला है, उसी प्रकार परीक्षा भी एक कला है। इस कला को प्रत्येक परीक्षक को सीखना चाहिए। प्रश्न-पत्र बनाने

के समय परीक्षक को अपने मन में निम्नलिखित प्रश्न पूछने चाहिए :—

१—इस प्रश्न का शिक्षा प्रणाली पर क्या असर पड़ेगा ?

२—क्या इससे छात्रों में रटने की आदत पड़ेगी ?

३—क्या प्रश्न उनके मानसिक विकास के अनुकूल हैं ?

४—इससे छात्र पुस्तकीय-ज्ञान के अतिरिक्त अपनी बुद्धि और ज्ञान का कहाँ तक प्रयोग करेंगे ?

५—क्या ये प्रश्न सम्पूर्ण पठित विषय का प्रतिनिधित्व करते हैं ?

६—क्या प्रश्नों की भाषा स्पष्ट है ? क्या इससे एक ही उत्तर की ओर संकेत हो रहा है ?

७—प्रश्न प्रधानतः एक ही मानसिक शक्ति के प्रयोग की ओर संकेत करता है या नहीं ?

इन प्रश्नों पर ध्यान रखने से परीक्षकों के पथभ्रष्ट होने का कम डर रहेगा ।

प्रश्न-पत्र बनाने के पूर्व परीक्षक को पाठ्य-क्रम तथा पठित-विषयों का पूरा ज्ञान कर लेना चाहिए। यह आन्तरिक और

परीक्षक को पाठ्य-क्रम और पठित विषय का पूरा ज्ञान होना, पढ़ाने के क्रम में ही समय-समय पर प्रश्न लिखते रहना, सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षकों को भी पाठ्य-

वाह्य दोनों परीक्षकों के लिए आवश्यक है। इस ज्ञान का यह तात्पर्य नहीं कि पाठ्य-क्रम और पठित विषय का केवल शीर्षक भर देख लिया जाय। ऐसा करने से परीक्षक अपने कर्त्तव्य का उचित पालन न कर सकेगा। ऊपर कहा जा चुका है कि एक ही बार बैठ कर प्रश्न नहीं बनाने चाहिए। अध्यापक को पढ़ाने के क्रम में ही अवसर

पुस्तक को खूब पढ़ना चाहिए, अपरीक्षणीय विषय को न देना।

पर प्रश्न लिखते जाना चाहिए। इससे बड़े अच्छे प्रश्न बनते हैं और छात्रों की कठिनाई और आवश्यकता से वह पूर्ण रूपेण परिचित हो जाता है। परीक्षा के समय इन्हीं प्रश्नों में से प्रश्न-पत्र बना लेना चाहिए। सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षकों को पाठ्य-पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ना चाहिए। पढ़ने के क्रम में जो प्रश्न आयें उनको अंकित करते रहना चाहिए और अन्त में इन्हीं प्रश्नों में से उसे बालक की मानसिक अवस्थानुसार प्रश्न-पत्र बनाने चाहिए। परीक्षकों को याद रखना चाहिये कि पाठ्य-विषय के सभी अंश परीक्षणीय नहीं होते। अपरीक्षणीय अंश को प्रश्न-पत्र में देना ठीक नहीं क्योंकि इससे छात्रों में बिना समझे रटने की आदत पड़ती है। परीक्षणीय और अपरीक्षणीय विषयों का अन्तर समझना सरल नहीं। पहले लोगों को धारणा रही कि भूगोल और इतिहास में केवल रटना ही रटना रहता है। पर आधुनिक शिक्षा-शास्त्रियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि मनोवैज्ञानिक ढंग से पढ़ने पर इनसे तर्क-शक्ति और निर्णय-शक्ति की वृद्धि की जा सकती है। पर किसी अंश का हानिकर अथवा लाभ-कर होना परीक्षक और परीक्षण-प्रणाली पर आश्रित होता है।

जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे मालूम होता है कि परीक्षक यदि स्कूल के अध्यापक ही हों तो बड़ा अच्छा है।

स्कूल के अध्यापक का परीक्षक होना उत्तम।

सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षक बहुधा कालेजों व विश्वविद्यालयों के विद्वान अध्यापक नियुक्त कर दिये जाते हैं, क्योंकि सरकारी शिक्षा-विभाग में उनका बड़ा जोर रहता है। परीक्षक चुनने में यह ध्यान नहीं

रखा जाता कि निर्वाचित व्यक्ति बालकों के प्रति कहाँ तक सहानुभूति दिखला सकेगा, अथवा उसे स्कूल-अध्यापन सम्बन्धी विभिन्न बातों का आवश्यक ज्ञान कहाँ तक है। बस, निर्वाचित परीक्षकों के यहाँ पाठ्य-क्रम के अनुसार कुछ पुस्तकें भेज दी जाती हैं। परीक्षक महोदय अपने काम से खाली हुये तो पुस्तक के पन्ने इधर उधर उलट-पुलट कर कुछ प्रश्न बना देते हैं। इस प्रकार वे हजारों के भाग्य निर्माता होने के गर्व में मन ही मन प्रसन्न होते हैं। इस पद्धति की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। कुछ लोगों का कहना है कि स्कूल-अध्यापक सार्वजनिक परीक्षाओं के परीक्षक होने योग्य नहीं, क्योंकि वे अपने प्रश्न-पत्रों का रहस्योद्घाटन कर सकते हैं। ऐसी भावना उच्चपदासीन शिक्षाधिकारियों की धनलोलुपता का द्योतक है। प्रचलित परीक्षा-प्रणाली में भी प्रश्न-पत्रों का भण्डा फोड़ कितना हो चुका है यह बात किसी से छिपी नहीं है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि हमारे स्कूल के अध्यापक किसी से कम ईमानदार नहीं। दायित्व पाने पर वे इतनी सतर्कता से काम करेंगे कि ऐसी शंका के लिए कहीं स्थान भी न रहेगा।

अब उत्तर-पुस्तकों की परीक्षा की बात आती है। वस्तुतः इनकी परीक्षा करना प्रश्न-पत्र बनाने से कहीं कठिन है। हम ऊपर कह चुके हैं कि एक उत्तर पर विभिन्न परीक्षक भिन्न-भिन्न अंक देते हैं। इस दोष के सुधार के लिए दो प्रकार के सुझाव दिये गए हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्रश्न ऐसे पूछे जाँय जिनमें छात्र की लेखन-शक्ति की परीक्षा न हो, वरन् ज्ञान अर्थात् आवश्यक बातों की परीक्षा हो। यदि

उत्तर-पुस्तक देखना कठिन, मनोवैज्ञानिक बुद्धि-परीक्षा की तरह बहुत प्रश्नों का देना।

लेखन-शक्ति की परीक्षा आवश्यक हो तो उसमें बीस प्रतिशत से अधिक अंक न रखने चाहिए। उनका कहना है कि सात या आठ प्रश्न न पूछ कर सौ प्रश्नों के लगभग पूछने चाहिये। ये प्रश्न ऐसे हों कि प्रत्येक का उत्तर तीन-चार शब्दों में ही आ जाय। यह प्रणाली केवल भूगोल, इतिहास, विज्ञान व भाषा में ही नहीं, वरन् गणित में भी लागू हो सकती है। परीक्षा की यह प्रणाली मनोवैज्ञानिक बुद्धि-परीक्षा के लिए बनाये गये प्रश्न-प्रणाली से बहुत मिलती है। इस प्रणाली में अंक देना परीक्षकों की झक पर नहीं निर्भर करेगा। इसमें पाठ्य-विषय का अधिकांश सम्मिलित किया जा सकता है।

कई प्रकार के प्रश्नों का देना—उनका उत्तर छोटा और बड़ा दोनों होना, प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में लेखन-शक्ति विशेष की परीक्षा नहीं।

कुछ दूसरे शिक्षा-शास्त्री उपर्युक्त विधि से पूर्णतः सहमत नहीं। उनका कहना है कि साहित्य और भाषा जैसे विषयों में उत्तर के विभिन्न सूत्रों का आपस में सम्बन्धित होना आवश्यक है। सम्बधित सूत्रों में अपने भाव को व्यक्त करने की शक्ति इतनी आवश्यक है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। छात्रों में इस शक्ति के विकास के लिए उचित प्रेरणा देना आवश्यक है। उपर्युक्त दो परस्पर विरोधी मतों में समझौता करना आवश्यक है। हमें लेखन-शक्ति का भी विकास करना है और साथ ही साथ यह भी देखना है कि लेखन-शक्ति की परीक्षा दूसरी आवश्यक बातों को ढक न ले हमें परीक्षक के झक के लिए कम से कम स्थान देना है। यह देखना है कि परीक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का छात्र

अनुमान ही न लगावें, वरन् विषय के वास्तविक बोध की प्राप्ति की भी चेष्टा करें। सबसे अच्छी विधि यह मालूम होती है कि प्रश्न-पत्रों में बहुत से कई प्रकार के प्रश्न दिए जाँय। इनका उत्तर एक दो, तीन या चार शब्दों में एक वा दो-तीन वाक्य में, एक पैराग्राफ में अथवा तीन-चार पृष्ठों में आवश्यकतानुसार देना हो, अर्थात् प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में लेखन-शक्ति के प्रयोग की बात न आवे, पर इसको सर्वथा उपेक्षा करना भी वांछित नहीं।

आदर्श उत्तर का विश्लेषण, शीघ्रता से पढ़ कर मूल्यांकन करना, विभिन्न अंगों के अनुसार जाँचना, वैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक।

उत्तरों की परीक्षा के लिए कुछ लोगों का कहना है कि आदर्श उत्तर के विभिन्न अंगों का विश्लेषण पहले कर लेना चाहिये और इन अंगों की तुलना में ही उत्तर-पुस्तकों का जाँचना ठीक होगा। कुछ दूसरे शीघ्रता से पढ़ने में बने हुये विचार के अनुसार ही उनके मूल्यांकन की राय देते हैं। कुछ लोग उत्तर के विचारों के विस्तार और प्रकार, शैली, बातों का ठीक व ग़लत होने तथा साधारण रूप पर मूल्यांकन करने को अधिक अच्छा समझते हैं। पर इस प्रकार उप-भाग करने में विभिन्न सूत्रों के समन्वय पर ध्यान देना कठिन है। कुछ दूसरों का कहना है कि इन उप-भागों पर ध्यान रखते हुये शीघ्रता से पढ़कर ही मूल्यांकन करना ठीक है। इन विभिन्न विधियों में सबसे अच्छी कौन है इसका बिना वैज्ञानिक अन्वेषण किए पता नहीं चल सकता।

परीक्षा की कितनी ही निन्दा क्यों न की जाय पर उससे पिण्ड छुड़ाना कठिन है। इसकी उत्पत्ति मानव सभ्यता के विकास-

काल से ही है। परीक्षा में कुछ दोष अवश्य है, पर सर्वथा वह दोषपूर्ण नहीं; इसीलिये तो वह अभी तक चली आती है। वस्तुतः बालक परीक्षा से प्रायः डरते नहीं। परीक्षा में उनका ज्ञान परिष्कृत हो जाता है। पढ़ाई हुई बातें वे अच्छी तरह याद करने की चेष्टा करते हैं। परीक्षा से उनमें स्पर्धा आती है और वे एक दूसरे से बढ़ जाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार उनकी आत्मगौरव-प्रवृत्त्यात्मक इच्छा की पूर्ति होती है। शिक्षकों के दृष्टिकोण से भी परीक्षा की उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस पर हम प्रारम्भ में ही संकेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि बालकों की योग्यता सम्बन्धी सभी बातें परीक्षा द्वारा नहीं जाँची जा सकतीं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि शिक्षा की वास्तविक परीक्षा तो छात्र की विभिन्न रुचियों की गहराई और स्थायित्व पर निर्भर करती है, न कि इस पर कि वे पढ़ाई हुई बातें किस हद तक याद रखते हैं। यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं क्योंकि रुचि और ज्ञान में विरोध नहीं है। रुचि के होने पर ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है—हाँ, यह ज्ञान रटी हुई बातों से एकदम भिन्न है। यदि चरित्र-निर्माण ही शिक्षा की वास्तविक परीक्षा समझी जाय तो यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि बौद्धिक ज्ञान चरित्र निर्माण में सहायक ही है क्योंकि परीक्षा से बौद्धिक ज्ञान की सीमा नापी जाती है। सत्य यह है कि शिक्षा के उद्देश्य और परीक्षा में सैद्धान्तिक विरोधी नहीं। हाँ, परीक्षा का ऐसा रूप न हो कि लड़कों के लिए वह हउआ हो जाय। यदि गुरु

परीक्षा अनिवार्य, परीक्षा से ज्ञान परिष्कृत, स्पर्धा, बौद्धिक ज्ञान की सीमा मापना, शिक्षा के उद्देश्य और परीक्षा में सैद्धान्तिक विरोध नहीं।

पृष्ठों में किए गये संकेतों के अनुसार चला जाय तो परीक्षा के बहुत कुछ दोष दूर किए जा सकते हैं और शिक्षा-उद्देश्य की पूर्ति का मार्ग सरल हो सकता है।

सहायक पुस्तकें

१—ग्रीन एण्ड वर्कएनफ़—ए प्राइमर ऑव् टीचिङ्ग प्रोसेस अध्याय १३, १४
२—टी० रेमाण्ट—मार्डन एड्रूकेशन, अध्याय—६
३—वार्ड ऐण्ड रॉसक्यू—द अप्रोच टु टीचिङ्ग—अध्याय १३
४—बैलर्ड—द न्यू एक्ज़ामिनर
५—पी० जे० हार्टॉग—एक्ज़ामीनेशन ऐण्ड देयर रिलेशन टु कल्चर ऐण्ड एफ़ीसीएन्सी।
६—बी० सी० वालिस—द टेकनिक ऑव् एक्ज़ामिनिङ्ग चिल्ड्रेन
७—सी० डब्लू वैलेनटाइन—द रिलायेबिलिटी ऑव् एक्ज़ामीनेशन्स।
८—स्टर्ट ऐण्ड ओकडेन—मैटर ऐन्ड मेथड इन एड्रूकेशन—पृष्ठ २०४—२४१।
९—सी० सी० क्राफ़ोर्ड—हाऊ टु टीच—अध्याय २५
१०—बॉसिङ्ग, नेलसन एल०—प्रोग्रेसिव् मेथड ऑव् टीचिङ्ग इन सेकण्डरी स्कूल्स—अध्याय २०
११—स्कीनर—एड्रूकेशनल साइकॉलॉजी—अध्याय १७ (१९४५)
१२—ल्योनार्ड, जे० पॉल—ऐन इवैलुएशन ऑव् माडर्न एड्रूकेशन (१९४२)
१३—रॉस सी० सी०—मेज़रमेण्ट इन टुडेज़ स्कूल्स (१९४१)

तेरहवाँ अध्याय

प्रॉजेक्ट पद्धति (प्रॉजेक्ट मेथड)

प्रॉजेक्ट पद्धति अमेरिका के शिक्षा-विशारदों द्वारा अनुप्राणित की गयी है। इसमें ड्यूई और किलपैट्रिक का विशेष हाथ कहा जाता है। कृषि-शिक्षा में किए गए प्रयोग के आधार पर प्रॉजेक्ट पद्धति का जन्म हुआ है। जब तक कृषि-शिक्षा के लिए स्कूलों में खेत और क्यारियाँ आदि के रूप में समुचित संगठन नहीं किया गया बालक कृषि सम्बन्धी अपने प्रयोग घर पर ही एक वातावरण उत्पन्न कर करते थे। बालक के अनुभवों से शिक्षकों में जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसके आधार पर श्रीमती किलपैट्रिक के नेतृत्व में एक नई शिक्षा-विधि का जन्म दिया गया। प्रॉजेक्ट पद्धति के मनोवैज्ञानिक आधार के ओर भी संकेत किया गया है।

कृषि-सम्बन्धी प्रयोग से इसका जन्म।

१—मनोवैज्ञानिक आधार

मनुष्य वातवरण के सम्पर्क में आकर कई प्रकार का अनुभव करता है। वह समझता है कि उसका वातावरण पर प्रभाव पड़ता है और वह भी वातावरण द्वारा जान अथवा अनजान में प्रभावित होता है। इस प्रकार अपने तथा वातावरण के परस्पर आदान-प्रदान पर उसके व्यक्तित्व का विकास बहुत हद तक निर्भर रहता है।

सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण में विषमता के कारण व्यक्ति में स्वाभाविक उत्तेजना—इस उत्तेजना की नींव

पर प्रॉजेक्ट पद्धति की कल्पना।

व्यक्ति की सदा यह चेष्टा रहती है कि वह वातावरण में उपस्थित वस्तुओं तथा अपनी दैनिक इच्छाओं में शीघ्राति-शीघ्र एक सामञ्जस्य प्राप्त कर ले। जब तक वह इस सामञ्जस्य को नहीं पाता उसे चैन नहीं। इस सामञ्जस्य के पा लेने पर वह कुछ देर के लिए शान्त हो जाता है। पर व्यक्ति की इच्छायें विभिन्न हुआ करती हैं। विकास के अनुसार इनका क्षेत्र दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। फलतः किसी न किसी सामञ्जस्य प्राप्ति के लिए उसमें प्रेरणा और उत्साह बना ही रहता है। इस प्रेरणा और उत्साह के अभाव में वह जीते हुए भी मृतक के समान है। उसका जीवन पशुवत् हो जाता है। सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण में किसी विषमता के देखने से उसका व्यक्तित्व उत्तेजित हो उठता है और अपनी शक्ति के अनुसार सामञ्जस्य की प्राप्ति के लिए रास्ते ढूँढ़ने के चक्कर में वह लग जाता है। इस प्रकार के अनुभव से उसकी एक ऐसी आदत पड़ जाती है कि भविष्य में भी यथा अवसर उसमें पूर्व संस्कार उत्तेजित हो उठते हैं और वह आवश्यक क्रिया में अनायास लग जाता है। यदि शिक्षणीय विषय को बालक के सामने एक ऐसी समस्या के रूप में रखा जाय कि उसे वातावरण में अपेक्षित सामञ्जस्य में विषमता दिखलाई पड़े तो उस समस्या की पूर्ति के लिए उसमें स्वभावतः प्रेरणा और उत्साह आ जायगा। इसी मनोवैज्ञानिक सत्य की नींव पर प्रॉजेक्ट पद्धति की कल्पना की गई है।

प्रॉजेक्ट-पद्धति में बालकों के सामने कुछ ऐसी समस्यायें रखी जाती हैं जिन्हें उन्हें यथासम्भव वास्तविक परिस्थिति के वातावरण में पूरी करनी होती हैं। स्कूल में बहुत से ऐसे

कार्य कराये जाते हैं जिनका वास्तविक जीवन से सम्बन्ध बालकों को नहीं मालूम होता। अंक-गणित के अभ्यासों में यह बात बहुधा देखी जाती है। भूगोल के पाठ में भी अनेक ऐसे स्थल आते हैं जो वास्तविक परिस्थिति के बहुत परे मालूम पड़ते हैं; क्योंकि बहुत सी बातें कल्पना के ही आधार पर माननी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, दो स्थानों की दूरी का अनुमान हम एक कल्पित माप-दण्ड के आधार पर लगा लेते हैं। किसी स्थान के जलवायु के बारे में कुछ बातों का अध्ययन कर अनुमान किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति ऐसी स्थिति की बड़ी कड़ी आलोचना करती है और स्कूल और वास्तविक जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की पक्षपाती है। प्राजेक्ट पद्धति स्कूल को ज्ञान देने का केन्द्र न मान कर उसे कार्य केन्द्र बनाना चाहती है। डा० स्टेवेन्सन के अनुसार प्रॉजेक्ट पद्धति वह विधि है जिससे किसी समस्यात्मक कार्य (प्राब्लेमेटिक ऐक्ट) को उसके स्वाभाविक वातावरण के अन्तर्गत पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति की यह विशेषता है कि बालक के सामने पाठ्य-विषय को इस प्रकार उपस्थित किया जाता है कि उससे किसी शिक्षाप्रद क्रिया का प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक शिक्षात्मक-क्रिया का एक निश्चित उद्देश्य होना चाहिये। यह समझना भूल है कि प्रॉजेक्ट पद्धति केवल शारीरिक क्रिया को ही प्रश्रय देती है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति की सभी

स्कूल और वास्तविक जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना, स्कूल-ज्ञानकेन्द्र नहीं—वरन् कार्य-केन्द्र, समस्यात्मक कार्य को स्वाभाविक वातावरण में पूरा करना, सभी क्रियायें।

क्रियाओं को लिया जा सकता है, चाहे उनका प्रधान सम्बन्ध शारीरिक श्रम से हो या मानसिक श्रम से।

प्रॉजेक्ट-पद्धति में बालकों के सामने तीन प्रकार का कार्यक्रम रखा जाता है। पहले प्रकार में उन्हें आवश्यक उपकरण दे दिये जाते हैं और कुछ बातें भी बतला दी जाती हैं। तदनुसार उन्हें कुछ ऐसी चीजें बनानी होती हैं जिनका व्यावहारिक महत्त्व होता है। उदाहरणार्थ

तीन प्रकार का कार्यक्रम।

गाड़ी, पुल तथा इन्जिन आदि का नमूना बनाना अथवा टोकरी, दरी व खिलौने इत्यादि दूसरे प्रकार के कार्यक्रम में शिक्षक आवश्यक साधनों का उल्लेख नहीं करता। वह केवल बनाई जाने वाली वस्तु का नाम बतला देता है और शेष बालकों को स्वयं ही सोचकर उद्देश्य की पूर्ति करनी होती है। तीसरे प्रकार के कार्यक्रम में सब कुछ बालकों को ही करना पड़ता है। अपना उद्देश्य भी वे ही निर्धारित करते हैं।

प्राजेक्ट पद्धति का अर्थ यह है कि शिक्षा उद्देश्यहीन न हो। बालकों को यह निश्चित रूप से जानना चाहिये कि वे किस उद्देश्य की पूर्ति की ओर परिश्रम कर रहे हैं। उद्देश्य का ज्ञान रहने से उनका उत्साह सदा बना रहता है। शिक्षा काल में बालकों को संसार की वास्त-

शिक्षा उद्देश्य-पूर्ण, 'करने से सीखना'।

विक परिस्थिति से अनभिज्ञ रखना ठीक नहीं, अन्यथा वे कुशल नागरिक न हो सकेंगे। प्रॉजेक्ट पद्धति के अनुयायियों का मत है कि सब कुछ किसी व्यावहारिक क्रिया के आधार पर ही पढ़ाना चाहिए। बालकों को 'करने से सीखने' (लर्निङ्ग बाइ डूइङ्ग) के लिए उत्साहित करना चाहिए। जो ज्ञान स्

अपने परिश्रम से प्राप्त किया जाता है वह मस्तिष्क में सदा के लिए सुसंगठित हो जाता है। इस प्रकार पढ़ने से बालकों को अपनी विशेष रुचि का भी पता चल जाता है।

यह याद रखना होगा कि प्रॉजेक्ट का सम्बन्ध कृत्रिम वातावरण से न हो, अन्यथा वह प्रॉजेक्ट न होगा, चाहे वह एक समस्या भले ही हो जाय। बालकों को व्यावहारिक जीवन की गंभीर समस्याओं के निराकरण करने की शिक्षा और शक्ति देने के लिये प्रॉजेक्ट-पद्धति का आविष्कार किया गया है। काल्पनिक समस्याओं की पूर्ति से बालक व्यावहारिकता का पाठ नहीं सीख सकते। 'समस्यात्मक' कार्य को उसके प्राकृतिक वातावरण में सम्पादित करने पर जोर देने वाली प्रॉजेक्ट पद्धति का शुद्ध रूप से प्रयाग बहुत ही कम होता है। प्रॉजेक्ट पद्धति पर चलने वाले स्कूल कुछ अन्य बातों का भी मिश्रण कर लेते हैं। इसमें किसी कक्षा के लिए पहले से ही निर्धारित कोई पाठ्य-क्रम नहीं रहता। सभी विषयों के शिक्षक मिलकर कुछ 'प्रॉजेक्ट' की सूची बना लेते हैं। अपनी विकास-अवस्था के अनुसार बारी-बारी से उनको पूरा करना होता है। उन्हें पूरा करने में छात्रों को कई प्रकार की बातों का ज्ञान आवश्यक होता है। ऐसे ही स्थल पर बालक किसी विषय को जानने की आवश्यकता समझता है। इस प्रकार उसे इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित तथा भाषा आदि विषयों का ज्ञान आवश्यक जान पड़ता है। वस्तुतः इन सब विषयों के सीधे सीखने का कोई आयोजन नहीं रहता, वरन् उनके स्थान पर कुछ योज-

व्यावहारिक जीवन की गम्भीर समस्याओं का निराकरण, पूर्व निर्धारित पाठ्य-क्रम नहीं, विभिन्न विषयों का समन्वय।

नाएँ रहती हैं। इनकी पूर्ति में उसे वांछित विषय का ज्ञान हो जाता है। प्रत्येक योजना में किसी न किसी प्रकार प्रायः सभी विषयों का कुछ ज्ञान आवश्यक रहता है। इस प्रकार उसके चारों ओर कई विषयों का समन्वय हो जाता है। जिन विषयों का समन्वय नहीं हो पाता उनका ज्ञान अलग से दे दिया जाता है। इस प्रकार 'शुद्ध प्राकृतिक वातावरण' के सिद्धान्त के साथ कुछ समझौता करना पड़ता है।

२—प्रॉजेक्ट पद्धति के गुण

व्यावहारिकता का ज्ञान; दूरदर्शिता, मौलिकता, आत्म-निर्भरता, सहकारिता, विनय, नेतृत्व और 'उचित कार्य विवरण की शक्ति' का विकास।

हमारे देश के स्कूलों में व्यावहारिकता की छाप बहुत कम दिखलाई पड़ती है। छात्र स्कूलों में सिद्धान्त का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं पर उनका वे अपने व्यावहारिक जीवन में उपयोग नहीं कर पाते। प्रॉजेक्ट पद्धति इन दोषों से मुक्त दिखलाई पड़ती है। इससे बालक व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करता है। वह धीरे-धीरे सीख लेता है कि वास्तविक जीवन में उसे किस प्रकार के शारीरिक व मानसिक श्रम करने पड़ेंगे। प्रॉजेक्ट पद्धति में बालक को सदा यह भान होता है कि वह किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में लगा हुआ है। इससे उसका उत्साह सदा बना रहता है। उसकी रुचि कभी ठण्डी नहीं पड़ती। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधनों के ढूँढ़ने से बालकों में दूरदर्शिता, मौलिकता और आत्म-निर्भरता आदि गुणों का विकास होता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में शिक्षा-समन्वय की समस्या अपने आप हल हो जाती है। किसी 'समस्यात्मक क्रिया' को करने में

जिन विभिन्न विषयों का बालक ज्ञान पाता है वे उसे एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखायें मालूम पड़ती हैं। कुछ प्रॉजेक्ट ऐसे होते हैं जिन्हें कई बालकों को मिलकर करना पड़ता है। इससे उनमें सहकारिता, विनय, नेतृत्व तथा उचित कार्य-वितरण आदि के गुण आ जाते हैं।

अन्वेषण और कल्पना शक्ति, ज्ञान और व्यवहार में सामञ्जस्य, निश्चित आदत और कौशल का विकास।

प्रॉजेक्ट पद्धति से बालकों में अन्वेषण शक्ति का विकास होता है, क्योंकि उन्हें कभी-कभी साधनों को भी खोजना पड़ता है। इस प्रकार उनमें कल्पना-शक्ति बढ़ती है। बालकों में हर समय क्रियाशीलता दिखलाई पड़ती है। अपने से 'करके सीखना' मनोवैज्ञानिक भी है, इससे बालकों के ज्ञान और व्यवहार में सामञ्जस्य आ जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में श्रम का दुरुपयोग बहुत कम होता है, क्योंकि अनुभव की हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही ज्ञानार्जन करने का प्रयत्न किया जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति से बालकों में कुछ निश्चित आदतों और कौशल का विकास हो जाता है, क्योंकि वे यह शीघ्र अनुभव कर लेते हैं कि उनमें किन-किन बातों की कमी है। इस अनुभव के वश क्रियाशील रहने में उन्हें बड़ी प्रेरणा मिलती है। यदि प्रॉजेक्ट पद्धति से बालक को कृषि-शास्त्र पढ़ाया गया है तो ठीक-ठीक अपने ज्ञान को कार्यान्वित कर खेत के बहाने वह कुछ पैदा भी कर सकता है।

३—प्रॉजेक्ट पद्धति के अवगुण

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी प्रॉजेक्ट पद्धति में कुछ

ऐसे दोष हैं जिनसे उसे पूर्णरूपेण कार्यान्वित करना सरल नहीं दिखलाई पड़ता। कुछ अध्यापकों का कहना है कि इस प्रणाली के अनुसार काम करने में शिक्षा में कोई क्रम न रह जायगा। किसी प्रॉजेक्ट के चारों ओर समन्वित कर कुछ विषयों के कुछ अंश को अवश्य पढ़ाया जा सकता है। पर उनका पूर्ण ज्ञान बालकों को देना सम्भव नहीं, क्योंकि प्रॉजेक्ट चाहे जैसा भी हो उससे सभी विषयों का पूर्णरूपेण सम्बन्ध नहीं दिखलाया जा सकता। इस प्रकार शिक्षा अधूरी रह जायगी। कुछ लोगों की यह धारणा है कि प्रॉजेक्ट पद्धति से लड़कों का ज्ञान सुसंगठित नहीं होता। यदि वे केवल अनुभव की हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही ज्ञानार्जन करते हैं तो उन्हें किसी भी विषय का पूर्णरूपेण ज्ञान नहीं हो सकेगा और बहुत सम्भव है कि उनकी यह अपूर्णता सदा बनी रहे।

शिक्षा में क्रम का अभाव, विषय का अपूर्ण ज्ञान रहने की सम्भावना।

प्रॉजेक्ट पद्धति में परीक्षा सम्बन्धी भी एक कठिनाई दिखलाई पड़ती है। परीक्षा में सफलता के लिए एक निश्चित पाठ्य-क्रम का अभ्यास करना आवश्यक है। प्रॉजेक्ट पद्धति में यह सम्भव नहीं, जब तक कि पूरी शिक्षा व परीक्षा-प्रणाली को एकदम बदल न दिया जाय। स्कूल-कार्य को किसी उद्देश्य से नियन्त्रित करना बड़ा अच्छा मालूम होता है, परन्तु स्कूल में हम बड़े-बड़े प्रॉजेक्ट का आयोजन नहीं कर सकते, क्योंकि इसके लिए हमें बहुत अधिक अध्यापकों

परीक्षा-सम्बन्धी कठिनाई, बड़े-बड़े प्रॉजेक्ट का आयोजन कठिन, स्कूल-कार्य अस्त-व्यस्त।

की आवश्यकता होगी और सारे स्कूल के कार्य-क्रम को तदनुसार परिवर्तित करना होगा। प्रॉजेक्ट को पूरा करने में स्कूल के सारे कार्य के अस्त-व्यस्त हो जाने का भय है, क्योंकि उसमें बहुत से छात्रों को बाहर आकर मैदान में काम करना पड़ेगा।

४—ऊपर की कुछ आपत्तियों के उत्तर

कुछ लोगों का कहना है कि ज्ञान का सुसंगठित रूप मस्तिष्क में कुछ दिन के बाद बनता है। ज्ञान का सुसंगठित रूप शिक्षा का प्रारम्भ नहीं है, वरन अन्त है। अतः प्रारम्भ में ही बालक से इसकी आशा करना भ्रम है।

ज्ञान का सुसंठित रूप देना प्रारम्भ में सम्भव नहीं, पाठ्य-क्रम की रचना पहले ही नहीं, पाठ्य-क्रम बालक के लिए।

पहले तो सभी ज्ञान असंगठित और अपर्याप्त होते हैं। विभिन्न समयों पर संचित ज्ञान को मस्तिष्क बाद में संगठित करता है। अतः संगठित ज्ञान देने के आधार पर प्रॉजेक्ट पद्धति की आलोचना करना ठीक नहीं, क्योंकि मस्तिष्क स्वयं यथासमय अपना ज्ञान संगठित कर लेता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि कुछ लोगों का कहना है कि प्रॉजेक्ट पद्धति से सारा पाठ्य-क्रम गड़बड़ा जाता जाता है। प्रॉजेक्ट पद्धति के समर्थकों के अनुसार ऐसी आलोचना तथ्यपूर्ण नहीं, क्योंकि प्रॉजेक्ट के पहले ही पाठ्य-क्रम की रचना कर देना गलत है। पाठ्य-क्रम बालक के लिए है, न कि बालक पाठ्य-क्रम के लिए। यदि प्रॉजेक्ट का आयोजन ठीक से किया जाय तो उससे स्वयं एक पाठ्य-क्रम की रूपरेखा निकल आयेगी और यह रूपरेखा ऐसी होगी कि उसके आधार पर सभी सामान्य विषय मनोवैज्ञानिक ढंग से समन्वित किए जा सकेंगे।

५—प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमायें

गुण व अवगुण पर विचार कर लेने के बाद निष्पक्ष रूप से प्रॉजेक्ट पद्धति की सीमाओं की ओर संकेत कर देना उचित है।

प्रॉजेक्ट पद्धति के साथ अन्य विधियों की भी सहायता आवश्यक।

यदि स्कूल केवल प्रॉजेक्ट पद्धति पर ही आयोजित किया जाय तो उपर्युक्त दोषों का शिक्षा-क्रम में आ जाना असम्भव न होगा। प्रॉजेक्ट पद्धति में बालक का उद्देश्य ज्ञान ही प्राप्त करना नहीं है, वरन् उससे किसी स्थूल वस्तु (कॉनक्रीट थिंग) की प्राप्ति की भी उसे आशा रहती है, जैसे खिलौना, टोकरी, फ़र्श व दरी आदि। इसलिये इन चीजों को शीघ्र बना लेने की धुन में बालक जल्दबाजी भी कर सकते हैं और यह देखा भी गया है कि बहुत से लड़के जल्दी में बड़ी खराब चीज बनाते हैं। प्रॉजेक्ट पद्धति के अनुसार बालक जो शिक्षा पाता है उसे वह गौण मालूम होती है; प्रधान तो उसे उस वस्तु विशेष का बनाना लगता है। यदि प्रॉजेक्ट-पद्धति के साथ कुछ अन्य विधियों की भी सहायता ली जाय तो उसकी कमी कुछ पूरी हो सकती है। पर प्राजेक्ट-पद्धति की पूरी उपेक्षा करना बालक को एक बड़े लाभ से वंचित करना होगा। अच्छा होगा कि बालकों के शिक्षा-क्रम में कुछ प्रॉजेक्ट रखते हुये अन्य प्रचलित विधियों से भी काम लिया जाय।

सहायक पुस्तकें

१—विलियम एच किलपैट्रिक—द प्रॉजेक्ट मेथड टीचर्स कॉलेज रेकर्ड, भाग १६।

२—डब्लू० डब्लू चार्टर्स—द लिमिटेशन्स ऑव द प्रॉजेक्ट

(द ऐड्रेस एण्ड प्रोसीडिङ्गिज़ ऑव् द फ़िफ्टीनाइन्थ ऐनुवल मीटिंङ्ग) भाग ५६, पृष्ठ ४२८-३० ।

३--ल्योनार्ड जे० पॉल—ऐन इवैलुयेशन ऑव् एडूकेशन-अध्याय ३, ४, ।

४—पीटर्स, चार्ल्स सी०—द करीक्यूलम ऑव् डेमोक्रैटिक एडूकेशन ।

५—स्कीनर—एडूकेशनल साइकॉलॉजी–अध्याय ११ ।

६—जे० ऐण्ड ई० ड्यूई—स्कूल्स ऑव् टुमॉरो ।

७—टी० ब्लेविट—द माडर्न स्कूल्स हैण्डबुक ।

चौदहवाँ अध्याय

डाल्टन पद्धति (डाल्टन प्लान)

१—स्वरूप

मॉन्तेसरी पद्धति से तार्किक समानता, स्कूल ऐसी प्रयोगशाला जहाँ बालक अपने विकास के लिए स्वयं प्रयत्न कर सके।

डाल्टन पद्धति की रचना अमेरिका की मिस पार्कहर्स्ट द्वारा की गई है। डाल्टन नगर में सबसे पहले इसका प्रारम्भ होने से इसका नाम डाल्टन प्लान दिया गया है। नवीन शिक्षा-पद्धति में डाल्टन पद्धति का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मिस पार्कहर्स्ट को डा० मॉन्तेसरी के साथ सन् १६१५-१८ तक काम करने से यह ज्ञात हो गया था कि व्यक्तिगत आधार पर शिक्षा देकर बालकों की विभिन्न नैसर्गिक शक्तियों का विकास कैसे किया जा सकता है। एक प्रकार से मॉन्तेसरी और डाल्टन पद्धति में बड़ी तार्किक समानता दिखलाई पड़ती है। मिस पार्कहर्स्ट पर डा० ड्यूई के शिक्षा-सिद्धान्तों का भी काफी प्रभाव पड़ा है। अपने समय की अमेरिका की प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से मिस पार्कहर्स्ट को बड़ा असन्तोष हुआ। उन्होंने देखा कि प्रचलित शिक्षा से बालकों में नैतिक बल तथा आत्म-निर्भरता का आना बहुत कठिन है। बात बात में बालकों का शिक्षक की सहायता पर निर्भर रहना उसे बड़ा खटकता था। वह शिक्षा का संगठन इस प्रकार चाहती थी कि बालक अपने प्रयत्नों से ही स्वतः

व्यक्तित्व का विकास कर सके। मिस पार्कहर्स्ट स्कूल के शिक्षा-क्रम में सामाजिक जीवन का पुट भी ले आना चाहती थी। इसके अतिरिक्त वह स्कूल को एक ऐसी प्रयोग शाला बनाना चाहती थी जहाँ बालक विविध प्रयोग कर अपने ज्ञान और व्यक्तित्व का विकास करें।

२—डाल्टन पद्धति की विशेषतायें

उपर्युक्त विवेचन से हमें डाल्टन पद्धति और प्रचलित शिक्षा-प्रणाली की तुलना में बहुत सी भिन्नताओं का भान होता है। डाल्टन पद्धति से शिक्षा में एक क्रान्ति सी आ गई है। प्रचलित शिक्षा में शिक्षक का महत्त्व अधिक दिखलाई पड़ता है; मानो उसके बिना शिक्षा की कोई भी क्रिया सम्भव ही नहीं। सभी बालकों को समान समझ कर उन्हें समान रूप से शिक्षा दी जाती है और इस प्रकार उनकी व्यक्तिगत भिन्नता और आवश्यकताओं की उपेक्षा की जाती है। ३५-४० की कक्षा में शिक्षक आकर ४० मिनट तक मनमानी कर जाता है। अध्यापन से बालकों का कितना लाभ हुआ इस पर विचार करना उसके लिए सम्भव नहीं होता और कदाचित् भार से लदे हुये अध्यापक को इसका अवकाश भी नहीं। इस प्रकार तेज और कमजोर सभी प्रकार के छात्र एक साथ ही चलते हैं। डाल्टन पद्धति में इस स्थिति का पूरा सुधार किया गया है।

व्यक्तिगत आवश्यकता पर पूरा ध्यान।

डाल्टन पद्धति में एक सीमा के अन्तर्गत बालकों को पूरी स्वतन्त्रता दी जाती है। अपनी शिक्षा और विकास के लिए उनका दायित्व बहुत बढ़ा दिया जाता है। अपने विकास के

लिए बालकों को ही स्वयं उत्तरदायी बना देने का श्रेय डाल्टन पद्धति को ही है। इसके पहले भी इसकी काफी चर्चा चल चुकी थी, पर कार्यान्वित करने में सबको कठिनाई मालूम होती थी। डाल्टन पद्धति में समय-सारिणी (टाइम टेबुल) आदि का बन्धन नहीं। रुचि होने पर कोई बालक अपनी इच्छानुसार चाहे जितनी देर तक किसी विषय के अध्ययन में लगा रह सकता है।

सीमा के अन्दर उचित स्वतन्त्रता, समय-सारिणी का बन्धन नहीं।

डाल्टन पद्धति के अन्तर्गत कक्षाओं के लिए अलग-अलग कमरे न होकर विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग प्रयोग शालायें होती हैं। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ इनमें स्कूल-समय तक बैठे रहते हैं, जिससे बालक अपनी इच्छानुसार चाहे जब आकर उनकी सहायता से लाभ उठा सके। पाठ-निर्देश (एसाइनमेण्ट) देते समय बालक को उसके उद्देश्य का थोड़ा अनुमान दिया जाता है और तदनुसार उसके अध्ययन की सीमा भी निर्धारित कर दी जाती है। कभी-कभी कुछ आवश्यक साधनों की ओर भी संकेत कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, इतिहास, साहित्य व विज्ञान के निर्देश में उन्हें पढ़ने योग्य पुस्तकों के नाम बता दिये जाते हैं। छात्र को अपनी उन्नति का पूरा लेखा (रेकार्ड) रखना होता है। इसकी तीन प्रतियाँ होती हैं जिसमें से एक अध्यापक के पास चली जाती है। बालक की उन्नति का लेखा ग्राफ़ द्वारा अंकित किया जाता है। प्रत्येक बालक का अलग-अलग ग्राफ शिक्षक

प्रयोगशालायें, पाठ-निर्देश, उन्नति का लेखा।

कक्षा में टांगे रहता है। इससे उसे पूरा ज्ञान रहता है कि कौन सा बालक कितनी उन्नति कर रहा है। बालक अपने पास दो प्रकार का लेखा रखते हैं : १—विभिन्न विषयों का अलग-अलग, और २—सबका सामूहिक। इस प्रकार उन्हें अपने कार्य तथा सफलता का पूरा ज्ञान रहता है।

अलग-अलग काम करते हुये भी बालकों को कभी-कभी ऐसी कठिनाई होती है कि उनका काम रुक सा जाता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक की सहायता अपेक्षित होती है। यदि कोई कठिनाई सभी लड़कों के साथ है तो उसका निराकरण कक्षा-शिक्षण की भाँति सामूहिक रूप में किया जाता है। कक्षा-शिक्षण के पक्षपाती अपने समर्थन में बहुधा कहा भी करते हैं कि कक्षा-शिक्षण का महत्त्व घट नहीं सकता, क्योंकि डाल्टन पद्धति को भी इसकी आवश्यकता होती है। सच है, रसानुभूति के पाठ में तो शिक्षक को कक्षा-शिक्षण के ही अवलम्बन से अधिक सफलता मिल सकती है।

सामान्य कठिनाई का निराकरण सामूहिक रूप में।

डाल्टन पद्धति कोई नई शिक्षण-विधि नहीं। यह केवल एक नये शिक्षा-संगठन का रूप है। निर्धारित पाठ्य-क्रम को इसमें एक नये संगठन व विधि के रूप में पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें छात्रों का श्रेणी-विभाजन भी माना जाता है, परन्तु उस श्रेणी-विभाजन के लिए बालकों की विभिन्न योग्यता और रुचि की अवहेलना नहीं की जाती। श्रेणी-विभाजन

नई शिक्षण-विधि नहीं, नए शिक्षा-संगठन का एक रूप, श्रेणी विभाजन में व्यक्तिगत भिन्नता की उपेक्षा नहीं; पारस्परिक

सहायता की पूरी स्वतन्त्रता, सामाजिकता का विकास।

के आधार पर कक्षा-शिक्षण में बालकों को इधर-उधर घूमने की स्वतन्त्रता नहीं रहती। बस, एक मेज और कुर्सी के सहारे हर समय बैठा रहना ही उनके विनय का सबसे उत्तम लक्षण समझा जाता है। डाल्टन पद्धति में ऐसी स्थिति वांछनीय नहीं। इसमें छात्रों को इधर-उधर घूमने, परामर्श करने और पारस्परिक सहायता की पूरी स्वतन्त्रता होती है। वस्तुतः उनमें सामाजिकता का ज्ञान देने का यह एक बड़ा भारी साधन माना जाता है।

आत्म-शिक्षण, पूर्वाह्न और अपराह्न।

डाल्टन पद्धति में कक्षा-शिक्षण के साथ-साथ आत्म-शिक्षण की भी व्यवस्था दिखलाई पड़ती है और यह आशा की जाती है कि इसके द्वारा शिक्षा पाने पर बालक अधिक योग्य व्यक्ति और नागरिक होगा। डाल्टन स्कूल का समय दो भागों में बँटा रहता है: १—पूर्वाह्न (मार्निङ्ग) और १—अपराह्न (आफ़्टरनून)। पूर्वाह्न बालकों के स्वतन्त्र रीति से काम करने के लिए और अपराह्न कक्षा-शिक्षण और खेल आदि के लिए होता है।

स्कूल समाज का एक छोटा रूप।

डाल्टन पद्धति में स्कूल समाज का एक छोटा रूप माना जाता है और यह चेष्टा की जाती है कि सभी छात्र यह समझें कि वे इस समाज के महत्त्वपूर्ण सदस्य हैं। छात्रों को यह समझाने की चेष्टा की जाती है कि उनका स्कूल (अर्थात् समाज) एक स्वशासित संस्था है और उसके अच्छे शासन के लिए वे स्वयं उत्तरदायी हैं। इस प्रकार कक्षा और पाठ्य-विषयों के पुनर्संगठन के

आधार पर डाल्टन पद्धति एक नये सामाजिक पुनर्संगठन की ओर हमारा ध्यान आकर्षिक करती है। स्पष्ट है कि डाल्टन पद्धति से शिक्षा में एक अभूतपूर्व सामाजिक परिवर्तन का चित्र दिखलाई पड़ता है।

मौखिक पाठ

बालकों की व्यक्तिगत कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रति सप्ताह प्रति विषय के लिए एक मौखिक पाठ का आयोजन रहता है। इस प्रकार प्रतिदिन सभी छात्र एक बार एकत्रित हो जाते हैं। इस मौखिक पाठ में शिक्षक भाषणवक्ता और छात्र श्रोता नहीं होते। यह पाठ आपसी बातचीत की तरह होता है। बालकों की पाठ में अनुभव की हुई व्यक्तिगत कठिनाइयों के निराकरण में ही बहुधा सारा समय दिया जाता है।

विशेषज्ञ

ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि प्रयोगशालाओं में विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ बैठे रहते हैं। डाल्टन पद्धति में विशेषज्ञों का महत्त्व बढ़ जाता है। उन्हें छात्रों की कठिनाइयों को दूर करने के लिए हर समय तैयार रहना होता है। इसलिए उनका ज्ञान बड़ा गहन और विस्तृत होना चाहिए। यह ध्यान देने की बात है कि डाल्टन पद्धति में विशेषज्ञों को अपने विषय में विशेष ट्रेनिङ्ग की आवश्यकता नहीं; अर्थात् भूगोल को पढ़ाने लिए भूगोल-शिक्षण में विशेषज्ञता प्राप्त करना अपेक्षित नहीं। यदि स्कूल के सभी शिक्षक मिलकर एक-एक विषय के पढ़ने तथा उसमें छात्रों की सहायता करने के लिए आपस में निर्णय कर लें तो कुछ ही दिनों में प्रत्येक एक विषय में

विशेषज्ञ हो जायगा और इससे स्कूल की आवश्यकता अच्छी प्रकार पूरी होगी।

३—पाठ-निर्देश (एसाइनमेण्ट)

डाल्टन पद्धति में प्रत्येक विषय के पूरे साल के कार्य-क्रम को छोटे-छोटे भागों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार बँटे हुये भाग को 'निर्देशित पाठ' अथवा पाठ-निर्देश कहते हैं। पाठ-निर्देश डाल्टन पद्धति का प्राण है। एक निश्चित अवधि के लिए व्यक्तिगत योग्यतानुसार प्रत्येक बालक के लिए कुछ पाठ निर्देशित (एसाइन्ड) कर दिया जाता है। वैज्ञानिक रूप में इन पाठों का विभाजन और उप-विभाजन किया रहता है। साधारणतः किसी विषय के साल भर के लिए दिये हुये कार्य को ठेका (कॉनट्रैक्ट), एक महीने वाले को पाठ-निर्देश (एसाइनमेण्ट), एक सप्ताह वाले को अवधि (पीरियड) और एक दिन वाले को इकाई (यूनिट) कहते हैं। प्रत्येक ठेके को एक प्रति महीने के हिसाब से दस भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक पाठ-निर्देश को चार अवधियों, और प्रत्येक अवधि को पाँच इकाइयों में विभाजित कर दिया जाता है। एक 'इकाई' एक दिन का कार्य होता है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बालक प्रतिदिन हर विषय में एक इकाई पूरा करे। अपनी रुचि के अनुसार वह एक दिन में किसी विषय का पूरा या आधा ही निर्धारित कार्य कर सकता है। शिक्षक को केवल इतना ही देखना होता है कि महीने का निर्देशित पाठ उस महीने में पूरा हो जाता है।

डाल्टन पद्धति का प्राण पाठ-निर्देश।

बहुधा यह देखा जाता कि ७५ प्रतिशत छात्र निर्देशित

पाठ को उचित समय के भीतर ही पूरा कर लेते हैं। जो लड़के इसमें असफल होते हैं शिक्षक उनकी अपेक्षित सहायता करता है। सहायता के अन्तर्गत कठिनाइयों का दूर करना तथा प्रेरणा देना आता है। ऐसे अवसर पर शिक्षक का व्यवहार बड़ा सहानुभूति पूर्ण होना चाहिए।

यह देखना कि पाठ-निर्देश का ठीक अध्ययन किया गया है या नहीं।

डाल्टन पद्धति के अनुसार पढ़ने से जिन बालकों की उन्नति कम दिखलाई पड़ती है उन्हें दूसरे स्कूलों में भेज दिया जाता है। पर ऐसा करने में बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि छात्र धीरे-धीरे काम करते हैं, पर अपना काम बहुत पक्का करते हैं; दूसरे जल्दी में निर्देशित पाठ को पूरा कर जाते हैं, पर उन्हें विशेष बोध नहीं होता। फलतः धीरे-धीरे काम करने वालों से परीक्षा में वे हार जाते हैं। अतः शिक्षक को केवल यही नहीं देखना है कि लड़के ने निर्देशित पाठ को पूरा कर लिया कि नहीं, वरन् उसे यह भी देखना है कि पाठ का ठीक अध्ययन किया है या नहीं। इसी की परीक्षा करने के लिए पीछे वर्णित ग्राफ़ की व्यवस्था की गई है।

यहाँ पाठ-निर्देश का एक नमूना दे देना संगत दिखलाई पड़ता है। अतः नीचे इतिहास-पाठ का एक नमूना दिया जाता है।

इतिहास का पाठ-निर्देश

क्रम संख्या १

(कक्षा ६ के लिए, बालकों की आयु १३-१४ वर्ष)

प्रथम सप्ताह (पीरियड)

विषय---मुग़ल-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति

तुमने मुगल साम्राज्य का विस्तृत अध्ययन कर लिया है। अब हमें यह देखना है कि इस काल की सभ्यता और संस्कृति कैसी थी। इसका पता लगाने के लिए हमें उस समय की शासन-व्यवस्था, वास्तुकला, चित्र कला, संगीत-विद्या, साहित्य, सामाजिक जीवन, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति आदि का अध्ययन करना होगा।

खण्ड १ (यूनिट १) (एक दिन के लिए)

मुग़ल-राज्य फौजी न था, पर उसकी प्रतिष्ठा और शक्ति बहुधा सेना पर ही निर्भर थी। प्रजा के हित पर बराबर ध्यान रखा जाता था। टोडरमल, मानसिंह और बीरबल आदि के बारे में तुम लोग पढ़ ही चुके हो। इससे मालूम होता है कि हिन्दू और मुसलमानों आदि का समान आदर किया जाता था। टोडरमल द्वारा की हुई पैमाइश पर खेतों और किसानों का उचित प्रबन्ध किया गया था। पर सड़कें सुरक्षित न थीं। देहात में रहने वालों की रक्षा और न्याय का समुचित प्रबन्ध न था। इन सब का अध्ययन डा० ईश्वरी प्रसाद तथा डा० तारा चन्द्र के भारतवर्ष के इतिहास में क्रमशः पृष्ठः ४१४ से ४२५, तथा पृष्ठ ३१२-३२० में पढ़ो। इस पर दो पृष्ठ का एक निबन्ध लिखकर दिखलाना। (इसी प्रकार वास्तुकला व चित्रकला, संगीत व साहित्य, सामाजिक जीवन, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति आदि का एक-एक खण्ड बना कर विभिन्न दिनों के लिए दिया जा सकता है। प्रत्येक विषय पर पढ़ने के लिए पुस्तकों का नाम व पृष्ठ-संख्या दे देनी होगी। हर विषय पर एक छोटा निबन्ध लिखने के लिये दे देना चाहिये अथवा कुछ छोटे-छोटे प्रश्नों का

संक्षेप में उत्तर लिखने के लिए भी दिया जा सकता है। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी पाठ-निर्देश दिया जाता है।)

४—डाल्टन पद्धति की आलोचना

कुछ लोगों का कहना है कि डाल्टन पद्धति में बालक को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इतनी अधिक दे दी जाती है कि वह उसका दुरुपयोग कर सकता है। बालक यह सोच कर कभी-कभी घबड़ा भी सकता है कि वह स्वतः निर्देशित कार्य नहीं कर सकता। इस आपत्ति के उत्तर में दूसरे कहते हैं कि घबड़ाने वाले लड़के तो हर जगह घबड़ायेंगे। ऐसे लड़के की सहायता के लिए शिक्षक उपस्थित रहता ही है। कक्षा-शिक्षण में शिक्षक के घनिष्ट सम्पर्क से लाभ उठाने का बालकों को उतना सुअवसर नहीं मिलता जितना के डाल्टन पद्धति में। डरने वाले लड़के कम होते हैं। उत्तरदायित्व से भागने की प्रवृत्ति उनमें नहीं होती। यदि ठीक परिस्थिति में रख दिया जाय तो वे अपना काम पूरा करके ही उठेंगे। बहुधा यह देखा भी जाता है कि बालक का स्वभाव ही बेकार बैठना नहीं है। यदि दोषपूर्ण शिक्षा से उसका यह स्वभाव न बिगड़ा तो पढ़ने और लिखने में उसकी रुचि सदा बनी रहेगी। प्रारम्भ में यह देखा भी जाता है कि छोटे-छोटे लड़के पढ़ने-लिखने का कितना स्वाङ्ग रचते हैं। डाल्टन-पद्धति में बालक के निरीक्षण के लिए अध्यापक सदा रहता है। बालक की स्वतन्त्रता सीमित है। जब चाहे तब वह घर नहीं जा सकता।

बालक मनमानी बात नहीं कर सकता, उसकी स्वतन्त्रता सीमित।

"सामान्य बालकों की ही शिक्षा"।

यह बात ठीक है कि डाल्टन पद्धति सामान्य बालकों की ही शिक्षा में सफल हो सकती है। असामान्य बालकों की शिक्षा इससे सन्तोषजनक नहीं होती। इसीलिए उन्हें दूसरे स्कूलों में भेज दिया जाता है।

किसी एक नियम-पालन की बद्धता नहीं।

कुछ लोगों का कहना है कि ग्राफ की सहायता से बालक की उन्नति का लेखा रखने की विधि इतनी विस्तृत है कि शिक्षकों में उनके दास होने की आदत पड़ सकती है। इस प्रकार डाल्टन पद्धति में एक ओर तो बालकों को स्वतन्त्रता दी जाती है और दूसरी ओर शिक्षक की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। पर यह ध्यान देने की बात है कि डाल्टन पद्धति में किसी नियम-पालन की बद्धता पर जोर नहीं दिया जाता। डाल्टन पद्धति तो वह प्रणाली है जिसे कार्यान्वित करने के लिए एक ही नियम के पालन की अपेक्षा नहीं की जाती। इसे सभी लोग अपनी अपनी विधि के अनुसार उपयोग में ला सकते हैं।

उपयुक्त पुस्तकें और योग्य शिक्षकों की आवश्यकता।

कुछ लोगों का कहना है कि डाल्टन पद्धति में मौखिक कार्य के अभ्यास के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलता। मौखिक कार्य भाषा के सीखने में बड़ा आवश्यक है। इस प्रणाली को ठीक से कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त पुस्तकें और योग्य शिक्षकों की आवश्यकता है। उपयुक्त पुस्तकों के अभाव में बालक अपने से कुछ न कर सकेंगे। यदि शिक्षक योग्य न हुये तो वे पाठ-निर्देश अच्छा न बना सकेंगे। वे किसी न

किसी प्रकार का पाठ बालकों को देकर केवल खाना पूर्ति कर देंगे। पाठ-निर्देश ऐसा होना चाहिए कि बालकों की सारी मानसिक शक्ति उसमें लग जाय। तार्किक क्रम से विषय का विवेचन करने वाली पुस्तकें बालकों के लिये विशेष उपयोगी नहीं होती। डाल्टन पद्धति के लिए पाठ्य पुस्तकें कैसी हों इसका अभी कोई सर्वमान्य निर्णय नहीं किया जा सका है। पर बालकों के विकास पर पूरा ध्यान देकर ऐसी पाठ्य-पुस्तकों का लिखना आवश्यक है जिन में उपयुक्त पाठ निर्देश भी दिये हों। इसके अतिरिक्त डाल्टन स्कूल में प्रत्येक विषय के लिए अच्छी और आवश्यक पुस्तकों का संग्रह होना आवश्यक है। इसके बिना पाठ-निर्देश का कुछ तात्पर्य न होगा।

५—डाल्टन-पद्धति और हमारा देश

कुछ अध्यापकों को डाल्टन पद्धति अरुचिकर लगती है। क्योंकि उसमें उनके आत्म-गौरव-प्रदर्शन करने की इच्छा की विशेष पूर्ति नहीं होती। उनका स्थान गौण हो जाता है। डाल्टन पद्धति में सालाना तरक्की के सम्बन्ध में बड़े-बड़े नियमों का पालन किया जाता है। भारतीय अभिभावक अभी उनके लिए तैयार नहीं। वे तो अपने बालक को हर साल आगे की कक्षा में देखना चाहते हैं। इस प्रकार अभिभावकों से सहानुभूति न मिलने से हमारे देश में डाल्टन पद्धति का सफल होना कठिन है। डाल्टन पद्धति में स्कूल-भवन ऐसा होना चाहिए कि उसमें विभिन्न विषयों के लिये प्रयोगशालायें बनाई जा सकें। जब कि हमारे देश के बहुत से स्कूल किसी प्रकार अपने

धन की कमी, सहानुभूति नहीं।

को धूप और वर्षा से बचाने के प्रबन्ध में हैं तो वे प्रयोग-शालाओं के लिए बड़ी-बड़ी इमारतें कहाँ बनवा सकते हैं ? स्पष्ट है कि डाल्टन पद्धति को भारतवर्ष में कार्यान्वित करने में सबसे बड़ी कठिनाई धन की है। धन होने पर योग्य शिक्षक, उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें और आवश्यक इमारतें सभी उपलब्ध हो सकती हैं। परन्तु पूरा नहीं तो कुछ सिद्धान्तों को कार्यान्वित किया ही जा सकता है। डाल्टन पद्धति के प्रवर्त्तक के अनुसार कुछ ही सिद्धान्तों के पालन से बालकों का बहुत लाभ हो सकता है। अतः कुछ न कुछ प्रयत्न तो करना ही चाहिए।

सहायक पुस्तकें

१—हेलेन पार्कहर्स्ट—एडूकेशन ऑन द डाल्टन प्लान
२—इवेलिन ड्यूई—द डाल्टन लेबोरेटरी प्लान
३—ए० जे० लिञ्च—द डाल्टन प्लान
४—किमिन्स एण्ड रेनी—द ट्रम्फ ऑव द डाल्टन प्लान
५—ब्यायड—'टुवर्ड्स ए न्यू एडूकेशन
६—जे० ऐडम्स—माडर्न डेवलपमेण्ट इन एडूकेशनल प्रैक्टिस
७—आर० आर० रस्क—रिसर्च इन एडूकेशन
८—रग हेरोल्ड—डेमोक्रेसी एण्ड द करीक्यूलम

पन्द्रहवाँ अध्याय

खेल द्वारा शिक्षा

(प्ले-वे इन एडूकेशन)

प्राय: सभी नवीन शिक्षा-प्रणालियों में 'खेल' द्वारा शिक्षा देने पर काफी जोर दिया जाता है। एक प्रकार से प्रॉजेक्ट मेथड और डाल्टन प्लान में भी बालक की खेल-प्रवृत्ति का कुछ न कुछ उपयोग किया जाता है। किण्डरगार्टेन और मॉन्तेसरी प्रणालियाँ तो प्रधानत: खेल पर ही आधारित हैं। अत: यहाँ खेल के स्वरूप तथा शिक्षा में उसके उपयोग पर संक्षेप में विचार कर लेना असंगत न होगा। खेल की मनो-वैज्ञानिक व्याख्या तथा उसके विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख यहाँ न किया जायगा।*

१—खेल का स्वरूप

खेल का स्वरूप ठीक-ठीक समझने के लिए 'काम' से उसकी तुलना कर लेना युक्ति संगत जान पड़ता है। खेल और

खेल और काम में सैद्धान्तिक विरोध, आदर्श की दृष्टि से दोनों में समानता।

काम में सैद्धान्तिक विरोध दिखलाई पड़ता है, क्योंकि दोनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। काम से व्यक्ति किसी उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है। उदाहरणार्थ, बढ़ई लकड़ी पर काम करता है जिससे मेज और कुर्सियाँ तैयार हो जाँय। अन्न पैदा करने के लिए किसान

---

* लेखक द्वारा रचित "आधुनिक मनोविज्ञान और शिक्षा" के प्रासंगिक पृष्ठ 'खेल का मनोवैज्ञानिक व्याख्या और सिद्धान्त' के लिए पढ़िये।

खेत में काम करता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए विद्यार्थी कमरे में बैठ कर घण्टों पढ़ता रहता है—यह उसका काम हुआ। डाक्टर का काम धनोपार्जन के लिए रोगियों को देखने यहाँ-वहाँ जाना है या अस्पताल में ही बैठे उनकी चिकित्सा करनी है। अपने-अपने काम पूरे हो जाने पर बढ़ई, किसान, विद्यार्थी और डाक्टर सन्तोष का अनुभव करते हैं। 'खेल' की बात इससे एक-दम निराली है। खेल में व्यक्ति खेल के परे किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं चाहता। वस्तुतः खेल खेलना ही उसका ध्येय होता है। खेलाड़ी को वास्तविक आनन्द का अनुभव खेल-क्रिया ही में होता है। इसके विपरीत कार्य करने वाले को आनन्द का अनुभव कार्य के सफलतापूर्वक सम्पादित हो जाने पर होता है। यहाँ एक आदर्श की ओर संकेत कर देना अप्रासंगिक न होगा। ऊपर हम कह चुके हैं कि खेल और काम में सैद्धान्तिक विरोध है। पर आदर्श की दृष्टि से ऐसी बात नहीं। यदि कार्य अर्थात् कर्त्तव्य को हम खेल की मुद्रा में कर डालें तो कितनी बड़ी बात हो! वस्तुतः व्यक्तित्व के आदर्श विकास की यही माँग है। तभी तो कर्त्तव्य-पालन कृष्ण और राम के लिए खेल ही था। कदाचित् इसी भावनावश हमारे पूर्वजों ने उसका नाम 'कृष्णलीला' और 'रामलीला' दिया है। 'लीला' का अर्थ खेल ही है। विषय की अधिक खींचा-तानी करनी न होगी यदि हम कहें कि कर्त्तव्य-पालन में हम बालक को खेल की ही मुद्रा देना चाहते हैं जिससे वह अपना कार्य प्रसन्न चित्त होकर करे। खेलने में उसे जो आनन्द आता है वही आनन्द उसे अपने काम में भी आना चाहिए। हमारा भी यह अनुभव है कि जो काम हम बड़े आनन्द से करते हैं उसका फल बड़ा ही मनोहर होता

है। शिक्षक को बालक का पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करना है कि वह वर्त्तमान और भावी जीवन में प्रस्तुत कार्य को हँसते-हँसते कर ले। इसी वांछित आदत की ओर 'खेल द्वारा शिक्षा' का आन्दोलन संकेत करता है। मानव समाज के लिए वह दिन बड़े आनन्द का होगा जब कि प्रत्येक नागरिक अपने-अपने काम को हँसते-हँसाते करता जाय। ऐसा होने पर ही समाज की विभिन्न कुरीतियाँ दूर हो सकती हैं और भावी महायुद्धों से हम मुक्त हो सकते हैं। आइए, हम आशा करें कि वह दिन बहुत दूर नहीं। हम शिक्षकों को तो आशा के ही आधार पर अपने कर्त्तव्यों का पालन करते जाना है। हमारा यह आदर्श बालकों के लिए बड़ा भारी उदाहरण होगा।

भावावेश में ऊपर हम बहुत दूर तक चले गये। खेल और काम के कुछ अन्य भेदों पर भी अभी दृष्टिपात करना शेष है। खेल हमारी इच्छा पर निर्भर होता है, पर काम नहीं। अपनी रोटी कमाने अथवा अपने ध्येय को पूरा करने के लिए काम करने को हम बाध्य हो जाते हैं। किसान खेत में काम न करेगा तो क्या खायेगा?

खेल इच्छा पर निर्भर-पर काम नहीं।

डाक्टर रोगियों की चिकित्सा नहीं करेगा तो पैसा कैसे पायेगा। अर्थात् ऐसे कामों के बिना उसका काम नहीं चल सकता। खेल के विषय में ऐसी बात नहीं। वह तो व्यक्ति के झक पर निर्भर है। मन किया तो रैकेट लेकर टेनिस खेलने मैदान में पहुँच गए। इच्छा हुई तो सिनेमा देखने चले गए, नहीं तो सो हो गए; अर्थात् खेल में बाहरी कोई दबाव नहीं।

काम में हमें दूसरों के द्वारा कुछ निर्धारित नियमों का पालन करना होता है। काम से और वास्तविक जीवन की

घटनाओं से पक्का सम्बन्ध है। खेल में अपने ही बनाये हुये नियमों का पालन करना होता है और उनके पालन में आनन्द आता है। खेल में हम वास्तविक जीवन से दूर होकर काल्पनिक संसार के क्षेत्र में विचरते हैं। बचपन में न्यायाधीश, पुलिस व वकील आदि का मनमाना अभिनय किसने नहीं किया है? पुल, रेल और महल बनाने का स्वाङ्ग किसने नहीं रचा है? काल्पनिक संसार में विचरने की स्वतन्त्रता खेल प्रवृत्ति का प्राण है। इसी को छीन लीजिए तो साधारण व्यक्ति के लिए वही खेल 'काम' हो जायगा। यदि निरीक्षण-सक्ति की वृद्धि के लिए बालक पतंग उड़ाता है, रोटी कमाने के लिए पहलवान कुश्ती लड़ता है, टिकट पर धन कमाने के लिए खेलाड़ी हॉकी या फुटबॉल का खेल खेलता है तो 'पतंग उड़ाना, 'कुश्ती लड़ना' और हॉकी या फुटबॉल' आदि खेल 'काम' हो जायेंगे, क्योंकि उसमें खेलाड़ी की मनचाही स्वतन्त्रता छिन जाती है।

काम में वास्तविक जीवन से सम्बन्ध, खेल में काल्पनिक जीवन।

२—खेल द्वारा शिक्षा

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खेल और काम में बहुत हद तक दृष्टिकोण का अन्तर है। दृष्टिकोण के परिवर्तन से खेल 'काम' और काम 'खेल' हो सकता है। शिक्षा में खेल की प्रवृत्ति के उपयोग से हम बालकों के दृष्टिकोण में ही वांछित परिवर्त्तन कर देना चाहते हैं। पाश्चात्य शिक्षा शास्त्री श्री काल्डवेल कुक का कहना

खेल और काम में दृष्टिकोण का अन्तर, खेल से व्यक्ति का स्वभाव पहचानना, खेल बचपन की प्रधान क्रिया

और सीखने का साधन।

है कि खेल में बालक की सभी रचनात्मक प्रवृत्तियों का स्पष्ट आभास मिलता है। मनुष्य के स्वभाव को खेल द्वारा सरलता और ठीक से समझा जा सकता है। किसी ने सच कहा है कि 'किसी के स्वभाव का अध्ययन करना है तो उसके साथ कुछ देर तक खेल लो।' खेल में व्यक्ति भूलकर अपने वास्तविक स्वभाव को अनजान में स्पष्ट कर देता है। ऊपर हमने खेल और काम के भेद का स्पष्टीकरण किया है और उससे यह समझा जा सकता है कि काम से जी ऊब जाने पर व्यक्ति मनोरञ्जन के लिए खेल का आश्रय लेता है। यदि खेल का यही अर्थ लिया जाय तो 'खेल द्वारा शिक्षा' की बात उठाना ही भ्रम होगा। इसीलिए श्री काल्डवेल कुक ने 'खेल' को बचपन की एक प्रधान क्रिया मानी है। कहना न होगा कि यह धारणा बिलकुल ठीक भी है। बाल-मन में ढिलाई नहीं होती। बालक की संसार के दृढ़ प्राणियों में गणना की जा सकती हैं। खेलने के समय बालक बड़ा एकाग्रचित्त और दृढ़ दिखलाई पड़ता है। खेलने के आवेश में खाना पीना और सभी सामाजिक बन्धन भूल जाता है। दस वर्ष का बन्नू खेलने में इतना मग्न रहा कि बाबू जी के कई दिन पर बाहर से आने पर भी उसे उन्हें प्रणाम करने की सुधि न रही। खेल समाप्त होने पर वह अचानक बाबू जी को प्रणाम कर बैठा। खेल के मनोवैज्ञानिक आधार से अपरिचित व्यक्ति चौंक पड़े। सच है, खेल में बालक उतना ही दृष्टिप्रतिज्ञ रहता है जितना कि रणक्षेत्र में सेनापति। कदाचित् इसीलिये श्री कुक का कहना है कि शिक्षा में खेल को लाने का तात्पर्य बालक को अध्ययन अथवा सीखने की क्रिया से वंचित कर उसका मनोरंजन मात्र नहीं करना है,

वरन् उसे सीखने की ही क्रिया में संलग्न करना है, क्योंकि बालक के लिए 'खेलना' सीखने का बड़ा भारी साधन है। 'खेल प्रवृत्ति' के उपयोग से पढ़ने-लिखने में उसे आनन्द आने लगता है।

स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि 'खेल द्वारा शिक्षा' के प्रधान लक्षण; रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करना।

श्री कुक के अनुसार स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व और रुचि 'खेल द्वारा शिक्षा' के प्रधान लक्षण हैं; क्योंकि ये तीनों खेल के मुख्य गुण हैं। खेल में बालक पूरी स्वतन्त्रता का अनुभव करता है। इसके अभाव में खेल 'खेल' नहीं है। खेल के बुरे अथवा अच्छे फल का उत्तरदायित्व पूर्णतः खेलाड़ी पर ही होता है। खेल में गहरी चोट लग जाने पर भी बालक नहीं रोता। भारी से भारी हानि हो जाने पर भी वह चूँ नहीं बोलता, क्योंकि उसमें उसी का उत्तरदायित्व रहता है। खेल रुचि रहने तक ही चलता है। किसी के कहने पर बालक खेलना नहीं प्रारम्भ कर सकता। रुचि रहने पर ही वह खेलता है और न रहने पर घर चला आता है। घर-घरौंदा खेलते हुये बालक को यदि अभिनय के स्वाङ्ग रचने के लिए आदेश दिया जाय तो अपनी रुचि के विरुद्ध वह कुछ न करेगा। रुचि के अनुसार वह अपनी खेल-क्रिया का रूप बदला करता है, पर दूसरे की रुचि के अनुसार खेलना उसे स्वीकार नहीं हो सकता। खेल द्वारा शिक्षा में मनोवैज्ञानिक ढंग से हम कुछ अरुचिकर क्रियाओं को ही खेल के रूप में बालकों से करवाते हैं। बालकों की कुछ वस्तुओं में स्वभावतः रुचि होती है और कुछ में अरुचि।

"खेल द्वारा शिक्षा" में हम बालक की स्वभावतः रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में एक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। अतः बालकों की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं में स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना "खेल द्वारा शिक्षा" का उद्देश्य है।

बालक की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं का पता कैसे चलाया जाय ? वस्तुतः हम उनका ठीक-ठीक वर्गीकरण नहीं कर सकते। जो चीज एक समय रुचिकर है वही दूसरे समय अरुचिकर हो सकती है। अपनी रुचि से किए जाने वाले कार्य को यदि किसी के दबाव के कारण हमें जबरदस्ती करना हुआ तो वही कार्य अरुचिकर हो जायग। बालक की रुचिकर और अरुचिकर वस्तुओं के विषय में भी यही कहा जा सकता है। गेंद खेलने में उसे बड़ा आनन्द आता है। पर यदि उसे गेंद खेलने के लिये बाध्य किया जाय तो वही काम उसके लिए अरुचिकर हो जायगा। पर यदि अरुचिकर को रुचिकर के साथ जोड़ दिया जाय तो वही रुचिकर जान पड़ेगा। एक मील पैदल चलना बालक के लिए अरुचिकर हो सकता है। पर कबड्डी या कुश्ती लड़ने के लिये इतने दूर पैदल जाना उसे रुचिकर मालूम होगा। बालक को यदि उसके कार्य का उद्देश्य बता दिया जाय तो वह उसे रुचि के साथ कर सकता है।

अरुचिकर को रुचिकर के साथ जोड़ना।

३—'खेल द्वारा शिक्षा' के विरोधियों का मत

'खेल द्वारा शिक्षा' प्रणाली से पूरी शिक्षा-पद्धति को रूपान्तरित किया जा सकता है। पर कुछ लोगों का कहना है कि खेल द्वारा सभी विषयों का पढ़ाना सम्भव नहीं। ऐसे लोग

खेल का बहुत सीमित अर्थ लगाते हैं। वे हॉकी, फुटबाल, कबड्डी, तथा नाटक आदि को ही खेल का प्रधान अंग मानते हैं। वे कहते हैं कि केवल इन्हीं के आधार पर पाठ्य-क्रम के सभी विषयों को नहीं पढ़ाया जा सकता। साहित्य तथा इतिहास जैसे विषयों को भले ही किसी प्रकार अभिनय तथा खेल के द्वारा पढ़ा दिया जाय। पर गणित और विज्ञान आदि विषयों को खेल द्वारा पढ़ाना सम्भव नहीं। इस प्रकार 'खेल' का अन्ध-भक्त होकर सब कुछ खेल-प्रणाली के अनुसार पढ़ाना युक्तिसंगत नहीं दिखलाई पड़ता। पर खेल-प्रणाली के उग्र समर्थक अपने विरोधियों के इस तर्क से चुप होने वाले नहीं। मिस फिनले जानसन और श्री कुक को तो धारणा है कि प्रत्येक विषय खेल द्वारा पढ़ाया जा सकता है।

प्रत्येक विषय खेल द्वारा नहीं पढ़ाया जा सकता।

कुछ शिक्षा-शास्त्री खेल को शिक्षा का आधार मानना सिद्धान्ततः बुरा मानते हैं। उनका कहना है कि शिक्षा का तात्पर्य व्यक्ति को वास्तविक और व्यावहारिक जीवन के लिए तैयार करना है। जीवन में बहुत सी नीरस बातें अपनी इच्छा के विपरीत करनी होती हैं। अतः यह मान लेना कि सब कुछ बालक की रुचि के अनुसार ही बना कर पढ़ाना आवश्यक है एक बहुत बड़े सत्य को अवहेलना करनी है। शिक्षा तो इस प्रकार की होनी चाहिए कि अरुचिकर कार्य को भी कर्त्तव्य भावना से, व्यक्ति करने को तैयार हो जाय। इस आदत के अभाव में उसे भविष्य में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना

खेल को शिक्षा का आधार बनाना सिद्धान्ततः गलत ?

पड़ सकता है। अतः इन शिक्षा-शास्त्रियों के अनुसार जहाँ खेल का आधार लेना सम्भव भी हो वहाँ भी उसे न लेना चाहिए, क्योंकि इससे बालकों में केवल मनोरंजक कार्य करने की ही आदत पड़ेगी और अरुचिकर कार्य से डरने की प्रवृत्ति उनमें पैदा होगी। शिक्षा के प्रारम्भिक दिनों में कुछ खेलों के आधार पर थोड़ी शिक्षा-व्यवस्था भले ही कर ली जाय, पर बाद में तो अरुचिकर श्रम उसे करना ही पड़ेगा। अतः बालकों में एक बुरी आदत क्यों डाली जाय ?

'खेल द्वारा शिक्षा' का अर्थ परिश्रम से बालक को दूर हटाना नहीं।

"खेल द्वारा शिक्षा" के विरोध में उपर्युक्त दो मतों के समर्थक एक भूल कर रहे हैं। वे समझते हैं कि शिक्षा में खेल के आधार को स्वीकार करने वाले बालक को परिश्रम तथा अरुचिकर कार्य से दूर हटाना चाहते हैं। ऐसा समझना भ्रम है; क्योंकि अरुचिकर वस्तु को रुचिकर बना कर पढ़ाने का यह तात्पर्य नहीं होता, वरन् अरुचिकर को इतना मनोरंजक बना देना है कि बालक अधिक परिश्रम कर सके। खेल का शिक्षा में प्रयोग का तात्पर्य एक मनोवृत्ति विशेष अथवा दृष्टिकोण से है। यदि बालक में शिक्षा के समय खेल की मनोवृत्ति उत्पन्न की जा सकी तो कठिन से कठिन कार्य भी उसे सरल मालूम होगा। सन्तोष की बात है कि खेल द्वारा शिक्षा के उपर्युक्त विरोध का कोई विशेष प्रभाव न पड़ा और यथा सम्भव खेल-मनोवृत्ति का बालकों की शिक्षा में सदुपयोग किया गया है। नीचे हम कुछ ऐसे उदाहरण देंगे जिनसे खेल द्वारा शिक्षा की प्रगति का पता चलेगा।

४—खेल द्वारा शिक्षा का क्रियात्मक रूप

आजकल शायद ही ऐसा कोई स्कूल होगा जहाँ बालचर संस्था की एक टोली न हो। बालचरों को खेल के द्वारा ही अनेक व्यावहारिक और वास्तविक बातों में शिक्षा दी जाती है। जिन नैतिक गुणों के प्रति स्थायी-भाव उत्पन्न करने के लिये कक्षा में शिक्षक को बड़ी कठिनाई मालूम होती है उन्हें बालचर अपने खेलों के आधार पर अपना लेते हैं। बालचरों का भ्रातृत्व, लोकसेवा, जीवों के प्रति दया, दुःखियों के लिये सहानुभूति और सहायता, सहिष्णुता आदि नैतिक गुणों से सभी परिचित हैं। वस्तुतः बालचर संस्था तो इन्हीं गुणों पर आधारित है। स्कूल अथवा घर में व्यावहारिक जीवन की बातें सीखने के लिए काम करना बालकों को बड़ा अरुचिकर लगता है। पर बालचर संस्था में खेल के रूप में बहुत सी व्यावहारिक बातें वह हँसते-हँसते सीख लेता है। कैम्प में वह प्रसन्न चित्त चारों ओर की गन्दगी साफ़ कर डालता है, भोजन बनाता है और दूसरों की सेवा करता है। जाड़े की रात्रि में वह घण्टों पहरा देता रहता है। वह कर्त्तव्य परायण हो जाता है। बालचर संस्थायें बालकों के जीवन को आदर्श बनाने के लिये बहुत ही उपयुक्त हैं।

बालचर-संस्था।

स्कूलों में कभी-कभी नाटक भी खेलने का आयोजन किया जाता है। इससे बालकों को इतिहास और साहित्य की अच्छी शिक्षा मिलती है। सिनेमा से भी उन्हें कई तरह की अच्छी शिक्षायें दी जाती हैं। सिनेमा का आधार खेल ही होता है। हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट और कबड्डी

नाटक, सिनेमा, हॉकी व फुटबॉल आदि खेल।

आदि खेलों से केवल शारीरिक स्वास्थ्य की ही वृद्धि नहीं होती, वरन् उनसे बालक, नेतृत्व, आत्मत्याग तथा सहिष्णुता आदि अनेक नैतिक गुण प्राप्त करता है।

रसानुभूति-पाठ।

संगीत, साहित्य और चित्रकला आदि में रसानुभूति-पाठों (ऐप्रीसियेशन लेसन्स) की आजकल चलन चल पड़ी है। इनमें यह प्रयत्न किया जाता है कि बालक संगीत, साहित्य, चित्रकला के कुछ सुन्दर अंगों को समझें और यदि सम्भव हो तो स्वयं वैसी रचना करने का प्रयत्न करें। इनमें 'खेल द्वारा शिक्षा' के सिद्धान्त की ही ओर संकेत मिलता है, क्योंकि इसमें बालक के सौन्दर्य-प्रेम के विचारात्मक और क्रियात्मक दोनों भावों का मेल दिखलाई पड़ता है।

सहायक पुस्तकें

१—काल्डवेल कुक—प्ले-वे इन एडूकेशन।
२—रेनी—द प्लेस ऑव प्ले इन एडूकेशन।
३—टी० पी० नन—एडूकेशन इट्स डेटा ऐण्ड फ़र्स्ट प्रिन्सीपुल्स —अध्याय—७-८।
४—लोवेनफाल्ड—प्ले इन चाइल्डहूड।

सोलहवाँ अध्याय

किण्डरगार्टेन पद्धति

फ्रोबेल का उद्देश्य।

खेल द्वारा शिक्षा देने के विस्तृत और क्रम-बद्ध रूप सबसे पहले जर्मनी के दार्शनिक शिक्षा विशेषज्ञ फ्राबेल* ने १९ वीं शताब्दी में हमें दिया। १९ वीं शताब्दी में स्कूल बालकों के लिए जेल के समान थे। उनको खेल पर आधारित करना शिक्षा में एक बड़ी भारी क्रान्ति लाना था। स्कूल एक अरुचिकर स्थान का द्योतक हो चला था। कदाचित् इसीलिए फ्रोबेल ने अपनी प्रणाली के नामकरण में 'स्कूल' शब्द का समावेश नहीं किया। वह स्कूल को बालकों के मनोरंजन का स्थान बनाना चाहता था। वह चाहता था कि बालक स्कूल वैसे ही प्रसन्न मन से जाँय जैसे वे खेल-मैदान में जाते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने खेल को छोटे बालकों की शिक्षा का आधार बनाया।

१—फ्रोबेल के दार्शनिक विचार पर शिक्षा की नींव

विकास का सार्वलौकिक नियम,

फ्रावेल विकास के एक सार्वलौकिक नियम में विश्वास करता है। उसके शिक्षा-आदर्श में आध्यात्म-विद्या की छाप स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। उसके अनुसार आध्यात्मिक विकास के क्रम-बद्ध होने से ही शिक्षा सम्भव हो

---

* फ्रोवेल के गहन दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों की विवेचना करना इस अध्याय का उद्देश्य नहीं। इसके लिये पाठक लेखक की "पाश्चात्य शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास" पढ़ें। यहाँ पर केवल 'किण्डर गार्टेन पद्धति' की रूप-रेखा पर ही अति संक्षेप में प्रकाश डाला जायगा।

आध्यात्मिक विकास का शिक्षा से सम्बन्ध, विभिन्न वस्तुओं में एकता का भान, विकास में वाह्य हस्तक्षेप हानिकर।

हो सकती है। "शिक्षा का उद्देश्य शरीर और आत्मा को बन्धन से मुक्त करना है। वांछित दशायें सभी स्वस्थ बालकों में उपस्थित रहती हैं। शिक्षा द्वारा केवल वास्तविक वातावरण ही उपस्थित करना है।" फ्रोबेल कहता है कि इस संसार की समस्या शिक्षा है और इसका समाधान निश्चित दैवी नियमानुसार ही हो सकता है। उसकी धारणा थी कि धर्म शिक्षा की सच्ची नींव है। शिक्षा ऐसी हो कि व्यक्ति अपने को प्रकृति, मानव जाति तथा ईश्वर को समझ सके। संसार की विभिन्न वस्तुओं में एकता का व्यक्ति को भान कराना शिक्षा का उद्देश्य है। "शिक्षा का उद्देश्य पवित्र, शुद्ध तथा श्रद्धापूर्ण जीवन की प्राप्ति है।" फ्रोबेल अपने समय के काण्ट, फिशे तथा हीगेल आदि दार्शनिकों से बड़ा प्रभावित हुआ था। ये दार्शनिक प्रकृति और मनुष्य की सारभूत एकता में वास्तविकता और जीवन का कारण समझना चाहते थे। इस विचार का फ्रोबेल पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह भी मनुष्य और प्रकृति का उद्गम स्थान स्वयंभू परमात्मा में देखता था। व्यक्ति की शिक्षा का संचालन इस प्रकार हो कि वह ईश्वर में स्थित विभिन्न वस्तुओं की एकता पहिचान ले। फ्रोबेल के अनुसार विकास एक क्रम से होता है और यह क्रम स्वतः ईश्वरीय नियमों के अनुसार चलता रहता है। इसमें किसी प्रकार का वाह्य हस्तक्षेप हानिकार होता है। यहाँ हरबार्ट और फ्रोबेल में भिन्नता दिखलाई पड़ती है। हरबार्ट के अनुसार मस्तिष्क वातावरण के संघर्ष से उत्पन्न विचारों के फलस्वरूप बनता है।

फ्रोबेल का विश्वास है कि इसका विकास भीतर से होता है।" बालक जो कुछ भी होगा वह उसके भीतर ही है, चाहे उसका कितना ही कम संकेत क्यों न मिले।

२—विकास-क्रम

लीबनीज़ के सिद्धान्तों का भी फ्रोबेल पर काफी प्रभाव पड़ा था। लीबनीज़ की तरह फ्रोबेल का विश्वास था कि "बीज में वृक्ष का अथवा बालक में प्रौढ़ मनुष्य का सारा रूप सूक्ष्म में निहित रहता है"। उसके विभिन्न अंगों का विकास एक दूसरे पर निर्भर होता है। यह विकास स्वतः होता है। इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप घातक होता है। शिक्षक व अभिभावक बालक के विकास-क्रिया में किस प्रकार की सहायता दे सकते हैं? विकास शक्तियों के अभ्यास अथवा स्वाभाविक क्रियाशीलता पर निर्भर होता है। जैसे विभिन्न अंगों को पुष्ट बनाने के लिए उनके उपयुक्त व्यायाम की आवश्यकता होती है, वैसे ही मानसिक शक्तियों के विकास के लिए भी अभ्यास आवश्यक है।

लीबनीज़ का फ्रोबेल पर प्रभाव, विकास के लिए अभ्यास आवश्यक।

यदि विकास एक सार्वलौकिक नियम के अनुसार चलता है और उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप हानिकर होता है तो शिक्षा की आवश्यकता क्या? फ्रोबेल कहता है कि बालक का वातावरण स्वाभाविक नहीं होता। जन्मते ही वह एक सामाजिक प्राणी हो जाता है और उस पर कृत्रिम वातावरण के विभिन्न

विकास के लिए आदर्श अवस्था नहीं, अतः शिक्षा की आवश्यकता, शिक्षक माली

की तरह अनुकूल वातावरण उपस्थित कर दे।

प्रभाव पड़ने लगते हैं। इन प्रभावों के कारण उसका विकास स्वतन्त्र रूप से नहीं चल पाता। उसमें माता-पिता, तथा अन्य सम्बन्धियों द्वारा अनजान में भी हस्तक्षेप हो जाता है। इस प्रकार विकास के लिये आदर्श दशा नहीं रहती। इसलिए शिक्षा की आवश्यकता है। पर बालकों की शिक्षा के लिए फ्रोबेल एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। वह बालक को पौधे की उपमा देता है। इसी उपमा के आधार पर उसने बच्चों के स्कूल का नाम 'किण्डर-गार्टेन' (बच्चों का बाग) रक्खा। पौधे के विकास में माली केवल योग देता है। उसके लिए अनुकूल वातावरण अर्थात् आवश्यक मिट्टी, खाद व पानी का वह प्रबन्ध भर कर देता है। वह निरीक्षण करता रहता है, जिसमें पौधे को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। माली के सभी प्रयत्नों के होते हुये भी विकास का काम पौधा ही करता है। माली केवल आवश्यक साधनों का आयोजन मात्र कर देता है। पौधे के विकास के लिए माली उतावला नहीं होता। वह उसकी जड़ खोद-खोद कर यह नहीं देखता कि उसका विकास कितना हुआ है। वह केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित करके विकास क्रम का उत्तरदायित्व पौधे पर छोड़ देता है। फ्रोबेल का सिद्धान्त है कि बालक की शिक्षा में शिक्षक को भी एकदम यही करना है। फ्रोबेल शिक्षक की उपमा माली से देता है। माली की तरह शिक्षक को भी केवल अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देना है। जिस प्रकार माली पौधे की स्वाभाविक क्रिया में योग देता है उसी प्रकार शिक्षक को भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। बालक की स्वाभाविक क्रिया खेल है। खेल विभिन्न प्रकार के हुआ करते

हैं। शिक्षक को बालक के खेल का ही मनोवैज्ञानिक आयोजन करना है। यदि यह आयोजन ठीक हुआ तो उसका विकास अपने आप होगा। इस प्रकार फ्राबेल बालक के विकास में खेल को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। खेल में फ्राबेल को आध्यात्मिक महत्त्व दिखलाई पड़ता है। "व्यक्ति के विकास में बचपन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। बचपन खेल के लिए है और किशोरावस्था कार्य के लिए। बालक ने जो पहले अपनी स्वाभाविक क्रियाशीलतावश किया उसे बड़ा लड़का एक निश्चित फल के लिए करेगा। क्रियाशीलता से बच्चे को आनन्द आता है और बड़े लड़के को कार्य से।"※

३—मानसिक विकास और शिक्षा का उद्देश्य

फ्रोबेल के अनुसार मानसिक क्रियायें तीन प्रकार की होती हैं:—जानना, अनुभव करना और संकल्प करना (नोइंग, फीलिंग और विलिंग)। इन तीनों क्रियाओं का विकास एक साथ ही होता रहता है। जैसे पौधे की शाखाओं और पत्तों के लिए माली एक साथ ही उद्योग करता है वैसे ही शिक्षक को इन सभी मानसिक-क्रियाओं के विकास के लिए एक साथ ही प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से ही मस्तिष्क का अनुरूप विकास हो सकता है-(ऐडूकेशन ऑव् मैन)।

सभी मानसिक क्रियाओं के विकास के लिए एक साथ ही प्रयत्न करना, क्रियाशीलता शिक्षा का सच्चा रूप।

फ्रोबेल कहता है कि "सृष्टि, प्रकृति, संसार के क्रम तथा मानव जाति की उन्नति में ईश्वर ने हमें शिक्षा के वास्तविक रूप का आभास दिया है। सृष्टि और प्रकृति में हर समय हमें

※ एडूकेशन ऑव् मैन, १४६

व्यक्तित्व होता है। इसीलिए एक साथ पढ़ते रहने पर भी सब का विकास एक समान नहीं होता।

शिक्षा में बालकों की ही इच्छा प्रधान, आत्म-क्रिया सबसे बड़ा शिक्षक।

हमारे कहने से बालक कुछ नहीं करता। उसके मन में जो आता है वही करता है। फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में शिक्षकों की इच्छा को स्थान देना नहीं चाहता। वह बालकों की ही इच्छा को प्रधान मानता है। फ्रोबेल का मत है कि आत्म-क्रिया (सेल्फ ऐक्टिविटी) सबसे बड़ा शिक्षक है। आत्म-क्रिया से ही बालक अपने विभिन्न अंगों का विकास करते हुए विविध ज्ञान प्राप्त करता है। बालक हर समय क्रियाशील दिखलाई पड़ता है। उसे चुपचाप बैठना पसन्द नहीं। बड़े लोग उसकी क्रियाशीलता से तंग आ कर उसे शान्त रखने के लिए बहुधा डाँटा करते हैं। फ्रोबेल का विश्वास है कि उसकी क्रियाशीलता को ठीक पथ पर अनुशासित कर देना ही उसकी शिक्षा का सबसे बड़ा साधन है। इस ओर हम ऊपर भी संकेत कर चुके हैं।

४—किण्डरगार्टेन की नई शिक्षा-प्रणाली

फ्रोबेल ने देखा कि 'गाना', 'संकेत करना' और 'कुछ बनाना' बालकों की सरलतम स्वाभाविक क्रियायें हैं। इन्हीं के द्वारा वह अपने विचार प्रकट किया करता है। अतः उसके उचित पथ-प्रदर्शन के लिए इनका अध्ययन कर तदनुसार अपेक्षित उपकरणों का आयोजन करना नितान्त आवश्यक है। इसलिए फ्रोबेल बालकों की शिक्षा में 'गाना', 'संकेत'

गाना, संकेत करना, और बनाना बालक की स्वाभाविक क्रियायें।

और 'बनाने' को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। बच्चों को इन्हीं साधनों से ज्ञान देना चाहिए। उनके विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों का विकास उनकी स्वाभाविक क्रिया-शीलता में योग देने से किया जा सकता है। इस योग के लिए 'गाना', 'संकेत' और 'बनाना' बड़े अच्छे साधन हैं। उदाहरणार्थ, उसे किसी ऐतिहासिक घटना का ज्ञान, गाना, कहानी तथा नाटक के रूप में सरलता से दिया जा सकता है। कहानी इतनी सरल हो कि बालक अनुभव करे कि उसी के स्वभाव का वर्णन किया जा रहा है। गाना ऐसा हो कि वह भी उसमें भाग ले सके। कागज तथा मिट्टी की कुछ वस्तुएँ बनवाने से भी घटना की कुछ बातें उसे समझायी जा सकती हैं। इस प्रकार यथा-सम्भव बालक के सामने "वास्तविकता" का रूप उपस्थित करने की चेष्टा करनी चाहिए। इससे उसमें विचार-शक्ति का विकास होगा।

उपहार और क्रियायें।

बच्चों की शिक्षा गाने, संकेत करने और बनाने तक ही सीमित नहीं। फ्रोबेल उनके लिए कुछ उपहार (गिफ्ट्स) और क्रियाओं (ऑकूपेशन्स) का भी प्रबन्ध करना चाहता है। बालकों की स्वाभाविक क्रियाशीलता को जागृत करने के लिए उन्हें लकड़ी तथा कागज आदि के कुछ खिलौने अर्थात् उपहार दिये जाते हैं। इन खिलौनों के साथ जो उन्हें खेल खेलने होते हैं वे ही उनकी क्रियायें (अर्थात् ऑकूपेशन) हुईं। "उपहारों" का चुनाव फ्रोबेल एक सिद्धान्त के अनुसार करना चाहता है। ऊटपटाँग वस्तुओं का चुनाव उसे पसन्द नहीं। 'उपहार' के चुनाव में बच्चे के विकास पर ध्यान देना आवश्यक है। एक विकास-अवस्था

के लिए चुने हुये 'उपहार' दूसरी विकास-अवस्था वाले से भिन्न हों। पहले उपहार के देखने से दूसरे उपहार का अनुमान लगा लेना कठिन न हो; अर्थात् उपहारों में पारस्परिक सम्बन्ध होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध के निभाने से ही बालक के विकास में 'उपहार' कुछ योग दे सकता है। उपहारों का चुनाव फ्रोबेल अपनी दार्शनिक भित्ति पर करता है। उसे 'उपहार' और 'क्रिया' में जीवन और प्रकृति के नियम दिखलाई पड़ते हैं। फ्रोबेल का विश्वास था कि जीवन में सफलता लाने के लिए मनुष्य को निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए। पर यदि यह कार्य उसे विवश होकर करना हुआ तो उसका कुछ महत्त्व न रहेगा। इसलिए वह बालकों को खेल के रूप में ही कुछ कार्य कराना चाहता है, जिससे वह कार्य बालक को स्वाभाविक प्रतीत हो।

सामूहिक खेल।

बालकों में सामाजिकता के विकास के लिए फ्रोबेल उन्हें कुछ सामूहिक खेल खेलाना चाहता है। गोलाकार खड़ा कर तथा परस्पर स्पर्धा के आधार पर उत्साहित कर उन्हें खेल खेलाना चाहिए। इसमें उनमें सहानुभूति, अनुकरण तथा नेतृत्व आदि के गुण सरलता से आ सकते हैं।

केवल पुस्तकीय शिक्षा नहीं।

स्कूल में बालकों से शारीरिक परिश्रम कराने का भी फ्रोबेल पक्षपाती है। "प्रत्येक बच्चा, बालक और युवक को, जीवन की चाहे जैसी स्थिति में प्रतिदिन दो एक वस्तुएँ बनानी चाहिए। केवल पुस्तकीय शिक्षा से बालकों में क्रियाहीनता आ जाती है। इस प्रकार मानव शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग अविकसित रह जाता

है।* फ्रोबेल के शिक्षा-सिद्धान्त का इस प्रकार संक्षेप में उल्लेख कर लेने के बाद अब हम कुछ उपहारों की व्याख्या करेंगे। इससे किण्डरगार्टेन-पद्धति ठीक-ठीक स्पष्ट हो जायगी।

पहला उपहार

उपहारों में सबसे पहले रंग-विरंगे ऊन के छः गेंद दिये जाते हैं। गेदों को इधर-उधर लुढ़काना उनके साथ की 'क्रिया' है। फ्रोबेल का विश्वास है कि गेदों की सहायता से बालक को रूप, रंग, व गति का ज्ञान प्राप्त होगा। इसके अतिरिक्त गेंद के उपहार और तत्सम्बन्धी निहित दार्शनिक सिद्धान्त का भी बालक पर प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। इससे उसके विकास में सहायता मिलेगी। गेंद सरलता से घूम सकता है, स्वयं ही स्थिर हो जाता है, लचीला, चमकदार और गरम है। फ्रोबेल सोचता है कि बालक समझ सकेगा कि उसके जीवन और गेंद में बड़ी समानता है। इस प्रकार उसे आत्मबोध का कुछ आभास होगा। जिस प्रकार गेंद में उसे विभिन्न गुणों के समन्वय का ज्ञान होता है, वैसे ही बालक यह अनुमान कर सकेगा कि वे सब गुण उसमें भी निहित हैं।

रंग-बिरंगे ऊन के छः गेंद; रूप, रंग और जाति का ज्ञान; गेंद से बालक को आत्म-ज्ञान का आभास।

दूसरा उपहार

दूसरे उपहार में बालक को लकड़ी के बने हुये त्रिघात, गोला (स्फीयर) और नलाकार (सीलिण्डर) दिये जाते हैं। फ्रोबेल समझता है कि इन वस्तुओं के साथ खेलने में बालक को ईश्वर की

त्रिघात, गोला, नला-

*एडूकेशन ऑव् मैन, § २३।

कार ; विभिन्नता में सामञ्जस्य का ज्ञान । सृष्टि के नियम का कुछ आभास मिलेगा । त्रिघात प्रत्येक स्थिति में स्थिर रहता है । गोला अस्थिर रहता है और नलाकार एक स्थिति में स्थिर और दूसरी में अस्थिर रहता है । अतः इनके साथ खेलने में बालक यह समझ सकेगा कि स्थिरता और अस्थिरता अर्थात् दो भिन्न वस्तुओं का सामञ्जस्य एक ही वस्तु में कैसे मिल सकता है । इस प्रकार उसे अपने विभिन्न अवयवों और शक्तियों के विकास की एकता में विश्वास हो जायगा । यह समझना कठिन है कि अबोध बालक इन दार्शनिक विचारों को कैसे समझ सकेगा । वस्तुतः फ्रॉबेल के विचार बड़े गूढ़ हैं उन्हें किसी भी व्यक्ति के लिए समझना कठिन है ।

तीसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठाँ उपहार

तीसरे उपहार में बालक को लकड़ी का एक बड़ा त्रिघात दिया जाता है जो आठ बराबर भागों में बँटा रहता है । इससे सम्बद्ध क्रिया उनसे बेंच, कुर्सी तथा सीढ़ी आदि बनाना होता है । इससे बालक सम्पूर्ण और उसके भाग के सम्बन्ध को समझ लेता है । चौथे, पाँचवें और छठें उपहार में पाटी (टैबलेट), छड़ी (स्टिक) और छोटी कुण्डली दी जाती हैं । इनसे फ्रॉबेल बच्चे को सतह, रेखा और बिन्दु की कल्पना देना चाहता है । उपहारों को देने से ही शिक्षक का उत्तर-दायित्व समाप्त नहीं हो जाता । क्रिया की ओर उसे संकेत करना होता है और कभी-कभी उसे स्वयं करके दिखाना भी पड़ता है, या वह उपहार सम्बन्धी गीत गाने लगता है, जिससे तत्सम्बन्धी भाव बालक अपने मन में ला सकें ।

५—आलोचना

फ्रोबेल के निर्णय ठीक, पर उनका कारण सर्वमान्य नहीं, फ्रोबेल का दृष्टिकोण आध्यात्मिक।

फ्रोबेल ने लिखा है कि "मानव स्वभाव का रूप बचपन में जैसा हम देखते हैं और उसके लिए जैसी शिक्षा की आवश्यकता है उसके प्रति मेरे विचारों को संसार कदाचित् शताब्दियों बाद समझेगा। एफ० डब्लू पार्कर के अनुसार 'किण्डरगार्टेन' उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार है। श्री कोर्टहोप के अनुसार "किण्डरगार्टेन बिना किण्डरगार्टेन के विचार के ही प्रयोग किया जा सकता है। वह बिना आत्मा के शरीर सा है। इसका ह्रास शीघ्र ही हो जायगा।" डा० जेम्सवार्ड कहते हैं कि "किण्डरगार्टेन को समझने वाले उससे प्रशंसनीय फल दिखला सकते हैं। पर यह निष्प्राण यन्त्र के समान लगता है। इसमें सभी खेल एक साथ ही बालकों को खेलने के लिए दे दिये जाते हैं।" आलोचकों के इन विचारों में कुछ सत्य अवश्य जान पड़ता है। पर फ्रोबेल की महत्ता में कदाचित् उन्हें भी सन्देह न होगा। फ्रोबेल के सभी निर्णय ठीक दिखलाई पड़ते हैं। पर अपने निर्णय का कारण जो वह बतलाता है वह सर्वमान्य नहीं। फ्रोबेल का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक न होकर आध्यात्मिक है। परन्तु दार्शनिकों में उसकी गणना नहीं की जाती, क्योंकि वह अपने विचारों को क्रमबद्ध न कर सका। कुछ लोगों का कहना है कि फ्रोबेल ने जिन चित्रों और गानों के प्रयोग की राय दी है वे उपयुक्त नहीं है। पर फ्रोबेल का यह तात्पर्य नहीं कि आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्त्तन न लाये जाँय।

बालकों को रुचि पर ध्यान देने के लिए रूसो, पेस्तालॉजी और हरबार्ट ने भी जोर दिया था। पर आदर्श को मूर्तरूप देने का सफल प्रयास फ्राबेल के बराबर इन तीनों में से कोई न कर सका। वस्तुओं की सम्बद्धता और पारस्परिक निर्भरता की ओर संकेत कर फ्राबेल ने ही आधुनिक समन्वित शिक्षा का बीज बोया। कर्नल पार्कर और ड्यूई आदि के क्रियात्मक प्रणालियों (ऐक्टिविटी मेथड्स) का उद्गम हमें फ्राबेल के आत्मक्रिया (सेल्फ ऐक्टिविटी) वाले सिद्धान्त में दिखलाई पड़ता है। शिक्षा के सामाजिक दृष्टिकोण की ओर जो इतना ध्यान आजकल दिखलाई पड़ता है उन सबमें फ्राबेल की ही आत्मा मालूम पड़ती है। फ्राबेल ने छोटे बालकों की शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान पहले पहल आकर्षित किया। उसके पहले उनकी शिक्षा को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता था। एक दृष्टि से मॉन्तेसरी प्रणाली को किण्डरगार्टेन का दत्तक-पुत्र ही मानना चाहिए। आजकल का युग बालकों का युग माना जाता है। इस कल्पना-धारा के निर्माण में फ्राबेल का उतना ही बड़ा हाथ है जितना कि मॉन्तेसरी का। हाँ, यह सत्य है कि फ्राबेल के बहुत से दार्शनिक सिद्धान्त हमें बोधगम्य नहीं होते। पर उसके बालक सम्बन्धी स्वतन्त्रता, आत्म-क्रिया, स्वाभाविक क्रियाशीलता और मनोज्ञकता के सिद्धान्त हमारे लिए सदा नवीन बने रहेंगे। इन सिद्धान्तों के कार्यान्वित रूप में देश व काल के अनुसार कुछ परिवर्त्तन अवश्य होते रहेंगे, पर उनकी अन्तरात्मा शाश्वत है, अतः वह सदा समान रहेगी।

आधुनिक समन्वित शिक्षा का बीज, सामाजिक दृष्टिकोण फ्रोबेल की देन, बालक का युग, सिद्धान्तों की अन्तरात्मा शाश्वत।

किण्डरगार्टेन पद्धति के विवेचना के बाद आधुनिक

किण्डरगार्टेन स्कूल की रूप-रेखा पर संक्षेप में यहाँ संकेत कर देना असंगत न होगा। इस प्रयास में सम्भव है कि कुछ बातों का पृष्टिपोषण हो जाय, पर विचार स्पष्टता के लिए वह आवश्यक है।

६—किण्डरगार्टेन स्कूल

अध्यापिकायें, छोटा पाठ, धार्मिक शिक्षा, विभिन्न विषय।

किण्डरगार्टेन स्कूल में प्रायः अध्यापिकायें नियुक्त की जाती हैं, क्योंकि छोटे बालकों के पढ़ाने की उनमें अधिक क्षमता होती है। इस स्कूल में प्रत्येक पाठ बीस या पचीस मिनट का होता है। यथासम्भव शिक्षा स्थूल रूप में दी जाती है। मनोरञ्जकता के लिये पाठ का रूप बदलता रहता है। छोटी कक्षाओं में हाथ के कामों और खेलों पर अधिक जोर दिया जाता है। स्कूल प्रार्थना अथवा धार्मिक शिक्षा से बहुधा प्रारम्भ किया जाता है। धार्मिक शिक्षा का रूप बड़ा सरल रखा जाता है, जिससे बालक उसे सरलता से समझ सके। स्कूल के प्रथम भाग में प्रायः अंकगणित और पढ़ना सिखलाया जाता है। इसके बाद कुछ जलपान और विश्राम के लिये अवकाश दिया जाता है। फिर खेल, ड्रिल और संगीत की बारी आती है। तत्पश्चात् क्रमशः लिखना, ड्राइङ्ग, प्रकृति-विज्ञान, वस्तु-पाठ, इतिहास अथवा भूगोल, मिट्टी का काम, सूई का काम, कागज का काम या चटाई बुनने का काम किया जाता है। अन्त में गाने के बाद घर जाने के लिए छुट्टी दी जाती है।

अब हम पाठ्य-क्रम के विविध विषयों की शिक्षा विधि

पर ध्यान देंगे। धार्मिक शिक्षा छोटी-छोटी मनोरंजक कहानियों के रूप में दी जाती है। मौखिक शिक्षा में यथासम्भव चित्रों का प्रयोग किया जाता है, जिससे बालकों की रुचि बनी रहे। यदि कोई विषय खेल द्वारा पढ़ाया जा सकता है तो उसको खेल ही द्वारा बालकों को समझाया जाता है। प्रारम्भिक कक्षा में वर्ण ज्ञान के लिए खिलौने के रूप में लकड़ी के ऐसे टुकड़े बने रहते हैं जिन्हें जोड़ने से वर्ण के विभिन्न अंग अलग-अलग बनाये जाते हैं। तत्पश्चात् अंगों को जोड़ कर किसी वर्ण का रूप दिया जाता है। शिक्षक निरीक्षण के लिए उपस्थित रहता है। खेलते ही खेलते बालक यह जान लेता है कि उसे कुछ वर्णों का ज्ञान हो गया। अंकगणित पढ़ाने में यथासम्भव स्थूल वस्तुओं का ही आधार लिया जाता है। इन स्थूल वस्तुओं में गोलियाँ, पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े तथा तीलियों आदि के नाम लिए जा सकते हैं। अंकों से परिचित कराने के लिए वर्णों जैसी ही विधि अपनाई जाती है। गिनती व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों रीति से समझायी जाती है।

खेल के रूप में सब कुछ सीखना।

लिखने का पाठ 'पढ़ने' से सम्बन्धित रक्खा जाता है। लिखने में श्यामपट्ट तथा कापी को सहायता ली जाती है। उन्हें शब्दों की ध्वनि समझायी जाती है। प्रकृति और वस्तु-पाठ में चित्रों की सहायता से बालकों से बातचीत की जाती है। बातचीत का विषय यथासम्भव बालकों का व्यक्तिगत अनुभव ही रखा जाता है इसके अतिरिक्त कुछ बागवानी की जाती है और पालतू पशु

क्रियाशीलता शिक्षा का आधार।

पाले जाते हैं। इससे प्राकृतिक वस्तुओं को बालक समझने लगते हैं। किण्डरगार्टेन स्कूलों में बालक की कल्पना शक्ति के विकास तथा उनमें सद्गुण के प्रति प्रेम उत्पन्न करने के लिए ऐतिहासिक कहानियाँ, परियों का वृतान्त तथा महापुरुषों के जीवन चरित्र सुनाये जाते हैं। नदी व पहाड़ आदि के विभिन्न नमूनों की सहायता से बालकों को उनकी विकास-अवस्था के अनुसार भौगोलिक शिक्षा दी जाती है। रूप, रंग और संख्या के ज्ञान के लिए बालकों को चटाई, कागज मोड़ना, मिट्टी आदि के खिलौने बनाना, रंगीन लकड़ी के टुकड़ों से विभिन्न प्रकार की आकर्षक वस्तुएँ बनाना आदि सिखलाया जाता है।

स्वास्थ्य पर ध्यान

किण्डरगार्टेन स्कूलों में मार्चिङ्ग तथा ड्रिल आदि के आधार पर बालकों के शारीरिक स्वास्थ्य पर भी काफी ध्यान दिया जाता है। इसके लिए कुछ सामूहिक खेल भी खेलाये जाते हैं। इनसे उनमें सामाजिकता का विकास होता है।

स्वतन्त्रता, शिक्षक का भय नहीं।

किण्डरगार्टेन स्कूलों का सारा काम खेल द्वारा होता है। बच्चों को पूरी स्वतन्त्रता होती है। उन्हें शिक्षक का भय नहीं रहता। वे एक जगह से दूसरी जगह इच्छानुसार जा सकते हैं। बच्चों की रुचि पर पूरा ध्यान दिया जाता है। यथासम्भव सामूहिक रूप में ही बालकों से सारे काम कराये जाते हैं। बच्चों को खेलने के लिए शिक्षोपयोगी विभिन्न वस्तुएँ दी जाती हैं। इनके साथ खेलते-खेलते वे पढ़ना-लिखना और अंकगणित आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

सहायक पुस्तकें

१—रस्क— दी डॉक्ट्रिन्स ऑव् ग्रेट एडूकेटर्स ।
२—फ्रोबेल—एडूकेशन बाई डेवेलपमेन्ट ।
३— ,, —द एडूकेशन आव् मैन ।
४—ह्यूज़, जे० एल०—दी एडूकेशनल थियोरीज़ आव् फ्रोबेल ऐण्ड हरबार्ट ।

सत्तरहवाँ अध्याय

मॉन्तेसरी पद्धति

मॉन्तेसरी पद्धति का नामकरण उसके आविष्कर्त्री डा० मॉन्तेसरी के नाम पर ही किया गया है। आप का जन्म सन् १८७० ई० में हुआ। आप इटैलियन महिला हैं। शिक्षा क्षेत्र में आप अब भी बड़ी क्रियाशील हैं। शिक्षा में बालकों के प्रति प्रेम व सहानुभूति उत्पन्न करने का विशेष श्रेय आप ही को दिया जा सकता है। अस्पताल में काम करते हुये मैडम मॉन्तेसरी को कुछ मन्द-बुद्धि के बालकों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उनकी दुर्दशा देख उसका हृदय द्रवीभूत हो उठा। उनकी शिक्षा के लिए उसने एक नई प्रणाली बनायी और अपने सफलता की परीक्षा के लिए उसने एक बालक पर उसका प्रयोग भी किया। मॉन्तेसरी को यह भान हुआ कि उचित शिक्षा पाने पर मन्द-बुद्धि बालक साधारण बालकों से बहुत पीछे न रहेंगे। भाग्यवश उन दिनों मनोविज्ञान पर काफी काम किया जा रहा था। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान का भी जन्म हो चुका था। मॉन्तेसरी ने अपनी विधि की प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की कसौटी पर परीक्षा की। उसने सेग्विन, लॉमब्रॉसो और सजाई आदि के प्रणालियों का भी सूक्ष्म अध्ययन किया। इस प्रकार अपनी शिक्षा-प्रणाली को पुष्ट करने में उसने यथा-शक्ति प्रयत्न किया।

डा० मॉन्तेसरी।

१—मॉन्तेसरी का शिक्षा-सिद्धान्त

मॉन्तेसरी के शिक्षा-सिद्धान्त को समझने के प्रयत्न में

उसका फ्रोबेल से कुछ तुलना करना प्रासंगिक और युक्तिसंगत जान पड़ता है।

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी।

फ्रोबेल और मॉन्तेसरी में काफी समानता दिखलाई देती है। दोनों ने छोटे बच्चों की शिक्षा-प्रणाली का निर्माण खेल के आधार पर किया है और एक प्रकार से यह कहा भी जा सकता है कि मॉन्तेसरी पद्धति किण्डरगार्टेन पद्धति का परिवर्द्धित रूप है। पर दोनों पद्धतियों में मौलिक भेद भी दिखलाई पड़ता है। मॉन्तेसरी फ्रोबेल के समान दार्शनिक नहीं। वह फ्रोबेल की तरह बच्चों के सामने कृत्रिम वातावरण नहीं उपस्थित करना चाहती। वह बच्चों को उपहार नहीं देती। वह स्वाभाविक वातावरण में ही उसकी शिक्षा के आयोजन करने की पक्षपाती है। निस्सन्देह मॉन्तेसरी प्रणाली अधिक वैज्ञानिक और उपयोगी जान पड़ती है। यद्यपि बालक की स्वतन्त्रता और रुचि पर मॉन्तेसरी भी फ्रोबेल के समान ध्यान देती है। पर किण्डरगार्टेन पद्धति में अध्यापक का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण दिखलाई पड़ता है। उसे बालक को उपहारों के आधार पर कुछ विशिष्ट कार्यों में लगाना पड़ता है। मॉन्तेसरी पद्धति में बालक को अधिक स्वतन्त्रता होती है। प्राप्त उपकरणों के साथ वह इच्छानुसार खेल सकता है। मॉन्तेसरी पद्धति में वैयक्तिक क्रिया पर विशेष बल दिया जाता है। इसके लिए फ्रोबेल के "उपहार" के आधार पर मॉन्तेसरी ने शिक्षोपकरणों (डिडैक्टिक मैटीरियल्स) की रचना की है। शिक्षापकरणों की रचना ही इस प्रकार की गई है कि बालक अपने से ही अधिक से अधिक कार्य कर सके। फ्रोबेल सामाजिकता को विशेष महत्त्व देता है। वह

विभिन्नता में बालक को एकता का ज्ञान देने का इच्छुक है। वह बालक को आध्यात्मिकता का आभास देना चाहता है। मॉन्तेसरी इन सबके फेर में नहीं पड़ती। वह भौतिक क्रियाओं को ही विशेष महत्त्व देती है।

मॉन्तेसरी बालकों की शिक्षा में 'मनोवैज्ञानिक क्षण' (साइकॉलॉजिकल मोमेण्ट) को विशेष महत्त्व देती है। रुचि

मनोवैज्ञानिक क्षण का महत्त्व।

और आवश्यकतानुसार बालक को शिक्षा देना ही "मनोवैज्ञानिक क्षण" का निर्वाह करना है। मॉन्तेसरी की धारणा है कि बिना "मनोवैज्ञानिक क्षण" पर ध्यान दिये कोई शिक्षा सफल नहीं हो सकती। यदि पढ़ाया हुआ विषय बालक की समझ में नहीं आया तो इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षक ने 'मनोवैज्ञानिक क्षण' पर ध्यान नहीं दिया है अथवा उसे समझने में उसने भूल की है। 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के अनुसार पढ़ाने में बालक को विषय का पूरा-पूरा बोध हो जाता है। 'मनोवैज्ञानिक क्षण' के अनुसार पढ़ाने का तात्पर्य यह है कि बालक की मानसिक स्थिति का शिक्षक को पूरा ज्ञान होना चाहिए और तदनुसार उसे उसकी शिक्षा के लिए आवश्यक उपकरणों का आयोजन कर देना है। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि इस प्रकार पढ़ाने से बालकों में दम्भ नहीं आता। वे किसी कृत्रिम पुरस्कार के इच्छुक नहीं होते। गुण की प्राप्ति ही उनके लिए सबसे बड़ा पुरस्कार होता है। इसीलिए तो किसी चीज के बना लेने पर मॉन्तेसरी स्कूल का बालक चिल्ला उठता है "मास्साब! मास्साब! देखिए मैंने क्या बना दिया है।"

हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि मॉन्तेसरी बालक को पूर्ण

स्वतन्त्रता देना चाहती है। उसका विश्वास है कि स्वतन्त्रता से ही बालक की नैसर्गिक शक्तियों का पूर्ण विकास होता है। अतः वह स्कूल का वातावरण स्वतन्त्रता-प्रधान बनाना चाहती है, जिससे बालक अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार अपने व्यक्तित्व के निर्माण में अग्रसर हो सकें। वह बालक की स्वाभाविक क्रिया में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती। एक शिक्षक ने किसी बालक से पूछा "बेटा तेरे लिए मैं क्या करूँ" ? बालक ने शीघ्र उत्तर दिया "जैसा मैं करता हूँ वैसा मुझे करने दो।" इन्हीं शब्दों में मॉन्तेसरी पद्धति के आत्मा की झलक है। नीचे हम मॉन्तेसरी स्कूल का संक्षेप में वर्णन कर रहे हैं। इससे मॉन्तेसरी सिद्धान्तों तथा पद्धति का कुछ और स्पष्टीकरण हो जायगा।

वातावरण स्वतन्त्रता प्रधान।

२—मॉन्तेसरी स्कूल-व्यावहारिक जीवन की शिक्षा

मॉन्तेसरी स्कूल में प्रायः ढाई से सात वर्ष के बच्चों की शिक्षा का आयोजन रहता है। बालकों को प्रायः दो प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। पहले उन्हें व्यावहारिक जीवन में कुछ शिक्षा दी जाती है। हाथ, मुँह, नाक, दाँत, नेत्र तथा कपड़े आदि साफ़ रखना उन्हें सिखलाया जाता है। यदि आवश्यक हुआ तो अध्यापिका उनके शरीर की सफ़ाई भी कर देती है। वह "अरे! तुम्हारा मुँह तो बड़ा गन्दा है, छिः छिः तुम्हारी नाक और आँख तो बड़ी ही मैली है" न कह करके यह कहती है "बेटा! जरा मेरे पास आओ। मैं तुम्हारे मुँह, नाक, और आँख धो दूँ और तुम्हें सुन्दर बना दूँ।" भावना का कितना गहरा प्रभाव

स्कूल 'प्यार का घर'।

पड़ता है! बालक गद्गद हो जाता है! उसे मालूम होता है कि मानो वह अपने घर में ही है और माता उसे बुला रही है! यदि मॉन्तेसरी स्कूल को "प्यार का घर" कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। मालूम होता है इस भावना को अपनाने में मॉन्तेसरी को पेस्तालॉजी से प्रेरणा मिली है।

आत्मनिर्भरता और अध्यवसाय का पाठ।

मॉन्तेसरी स्कूल में बालक को आत्मनिर्भरता और अध्यवसाय का पाठ सिखलाया जाता है। यदि सम्भव हुआ तो बालक को ही अपने कार्य कर लेने के लिए उत्साहित किया जाता है। उसके असफल होने पर अध्यापिका प्यार से उसका पथ-प्रदर्शन करती है। कपड़े पहनना, तथा उन्हें उतार कर ठीक रखना बालक को सिखलाया जाता है। भोजन करना, सोना, बातचीत करना तथा हँसना आदि सभी बातों में उसे मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षा दी जाती जाती है। कमरे को सजाने की शिक्षा देने के लिए किसी कमरे की चीजें अस्त-व्यस्त कर दी जाती हैं और उन्हें ठीक करना बालकों को सिखलाया जाता है। इन सब व्यावहारिक शिक्षा में बालकों के विकास-अवस्था पर पूरा ध्यान रक्खा जाता है। जो बालक जिस कार्य के योग्य हुआ उसे उसी में शिक्षा दी जाती है। बालकों के स्वास्थ्य पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। बालकों को लय और ताल बड़े प्रिय होते हैं। अतः एक लय और ताल में उन सबों को कुछ शारीरिक व्यायाम कराया जाता है। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है।

३—शिक्षोपकरणों से ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा
(सेन्स ट्रेनिङ्ग बाइ डिडैक्टिक मैटीरियल्स)

मॉन्तेसरी बालक की शिक्षा में अध्यापक द्वारा कम से

कम हस्तक्षेप चाहती है। कदाचित् उसके शिक्षोपकरणों के आविष्कार का यह भी एक कारण है।

स्पर्श, दृष्टि और श्रवण शक्ति को बढ़ाना ।

इन्हीं शिक्षोपकरणों से बालक को विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा दी जाती है । पहली कक्षा में बालक की स्पर्श, दृष्टि और श्रवण शक्ति बढ़ाने की चेष्टा की जाती है। उसे विभिन्न स्थूल वस्तुओं के आकार और रूप का ज्ञान दिया जाता है । उदाहरणार्थ: खिड़की, मेज, कुर्सी और दरवाजा आदि के सम्बन्ध में उसे कुछ काम दिया जाता है, जिससे वह उन्हें समझ ले । उन्हें झाड़ना-पोंछना तथा ठीक स्थान पर रखना ही उनके सम्बन्ध का काम होता है।

वूसरी कक्षा ।

दूसरी कक्षा में लकड़ी के टुकड़े के टीले और सीढ़ियाँ आदि बनवाकर बालकों को लम्बाई व चौड़ाई का ज्ञान दिया जाता है। चौड़ी सीढ़ियों के बनाने में उन्हें लम्बे और पतले का ज्ञान होता है। कुछ वस्तुओं को इधर-उधर बिखेर दिया जाता है। उनके चुनने में बालकों को छोटे व बड़े का ज्ञान होता है । अपनी भूलों का स्वयं सुधार करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। वे सारा कार्य प्रायः अकेले ही करते हैं, पर कभी-कभी तीन-चार बालक मिलकर भी किसी काम को कर लेते हैं। रंग-ज्ञान के लिये विभिन्न रंग के चौसठ कार्ड उन्हें दिये जाते हैं। उन्हें रंग का नाम बतलाना पड़ता है और वस्तु का नाम भी याद करना होता है। स्पर्श-ज्ञान के लिए उन्हें गर्म, ठण्डा, कठोर व कोमल वस्तुओं को आँखें बाँधकर ऊँगलियों से छूना होता है । स्पर्श ज्ञान को मॉन्तेसरी प्राथ-

मिक मानती है। इसलिए मानसिक विकास में इसे वह विशेष महत्त्व देती है। मॉन्तेसरी की धारणा है कि रंग-ज्ञान से नेत्रों की निर्णयात्मिका शक्ति का विकास होगा। इस शक्ति से लिखना और पढ़ना सीखने में सहायता मिलेगी।

तीसरी कक्षा।

तीसरी कक्षा में श्रवण-शक्ति के विकास के लिए बालू, पत्थर के टुकड़े, अनाज के दानों तथा सीटी से विभिन्न प्रकार की उत्पन्न ध्वनि को बालक को पहचानना होता है। विभिन्न तौल पर समान रूप और आकार की तीन टिकियों से बालकों को तौल-ज्ञान दिया जाता है। बहुत से छेद वाले लकड़ी के टुकड़े में बालकों को कई तरह के छोटे-छोटे टुकड़े अपने-अपने स्थान पर बैठाने होते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना।

चौथी कक्षा में बालकों के इन्द्रिय-ज्ञान को और पुष्ट किया जाता है। इस अवस्था में व्यावहारिक जीवन की शिक्षा पर पहले से कुछ अधिक ध्यान दिया जाता है। कमरे की चीजें जानबूझ कर अस्त-व्यस्त कर दी जाती हैं और बालकों को उन्हें सजाना पड़ता है। मॉन्तेसरी छोटे बालकों की शिक्षा मे ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा पर बड़ा जोर देती है। अपने "मॉन्तेसरी मेथड" नामक ग्रन्थ में वह कहती है; "ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा सम्बन्धी क्रियाओं का यह ध्येय नहीं कि बालकों को विभिन्न-वस्तुओं के रूप, वर्ण और गुण का ज्ञान हो जाय, वरन् उनसे हम उनकी ज्ञानेन्द्रियों को परिष्कृत करना चाहते हैं। इससे उनकी बुद्धि का भी विकास होता है। यदि इन अभ्यासों को विविध शिक्षापकरणों द्वारा मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया जाय तो उनसे बुद्धि के विकास में

वैसे ही सहायता मिलेगी जैसे उपयुक्त व्यायाम से शरीर बनता है।"

४—लिखने पढ़ने की शिक्षा

शिक्षोपकरणों के साथ खेलने-खेलते बालक लिखना-पढ़ना बड़े जल्दी सीख लेता है। लिखने और पढ़ने की इस विधि के लिये मॉन्तेसरी पद्धति की विशेष प्रशंसा की गई है। मॉन्तेसरी अध्यापिका बालक को वर्ण का नाम नहीं रटाती। वह पहले उसके रूप और ध्वनि में सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। जैसे बालक अन्य वस्तुओं को देख कर उनका नाम बतलाने पर उन्हें याद कर लेता है वैसे ही किसी वर्ण को दिखला कर अध्यापिका एक विशेष ध्वनि का उच्चारण करती है। बाद में उस ध्वनि के उच्चारण से बालक वर्ण को पहचान जाता है, या वर्ण को देख कर उसकी ध्वनि को वह स्वयं उच्चारित कर देता है। इस प्रकार बड़ी सरलता से उसे सब वर्णों का ज्ञान हो जाता है।

खेल-खेल में इसका ज्ञान।

यह ध्यान देने की बात है कि मॉन्तेसरी पढ़ने के पहले लिखना सिखलाना चाहती है। उसका कहना है कि पढ़ना लिखने से कठिन है, क्योंकि उसमें बालक का उच्चारण, लय तथा गति आदि पर विशेष ध्यान देना होता है। लिखने में ऐसी बात नहीं। इससे बालक को सफलता की भावना बड़े जल्दी मिलती है। इससे उत्साहित होकर वह अधिक सीखने का प्रयत्न करता है। बालक की शिक्षा में सफलता की भावना का बड़ा भारी

मॉन्तेसरी के अनुसार पढ़ने के पहले लिखना सिखलाना।

महत्त्व है, क्योंकि इससे उसके आत्म-गौरव और विधायकता की मूल-प्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति होती है। शिक्षोपकरणों पर आधारित विभिन्न खेलों के आधार पर उन्हें लिखना इस प्रकार सिखलाया जाता है कि वे जान ही नहीं पाते कि उन्हें लिखने की शिक्षा दी जा रही है।

तीसरी कक्षा में बालकों को पढ़ना सिखलाया जाता है। पढ़ने से तात्पर्य समझते हुये पढ़ने से है। यदि पढ़ी हुई बात को

समझते हुये पढ़ना।

बालक समझने में असमर्थ है तो उसका पढ़ना पृष्ठ पर भूँकने के समान है। ज्ञात अक्षरों और शब्दों को पट्टियों अथवा कार्ड बोर्ड पर लिख कर बालकों से पढ़वाया जाता है। इसी प्रकार परिचित वस्तु के सम्बन्ध में दो-तीन वाक्य लिख कर पढ़ने के लिए उन्हें उत्साहित किया जाता है।

चौथी कक्षा में पढ़ने-लिखने का और आगे अभ्यास कराया जाता है। अब उन्हें कुछ अङ्कगणित का भी ज्ञान दिया जाता

अङ्कगणित खेल द्वारा।

है। बालकों को इसका ज्ञान बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से कराया जाता है वस्तुतः लिखने-पढ़ने और अङ्कगणित सिखाने की मनोवैज्ञानिक विधि के कारण मॉन्तेसरी-विधि बड़ी प्रसिद्ध हो गई है। गोलियों या अन्य वस्तुओं की सहायता से खेल के रूप में बालकों को गिनना, जोड़ना और घटाना सिखलाया जाता है। मनोरञ्जनार्थ अध्यापिका बीच-बीच में कुछ पूछ दिया करती है। इस पूछने से उनका ज्ञान संयत होता जाता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मॉन्तेसरी का स्व-शिक्षा में बड़ा विश्वास है। वह बालक को अपनी उन्नति के लिए

स्वयं उत्तरदायी बना देना चाहती है। इसी विश्वास पर वह बालकों के स्कूल में विनय भी स्थापित करना चाहती है। मॉन्तेसरी का विश्वास है कि पूरी स्वतन्त्रता दे देने से विनय-समस्या का समाधान स्वतः हो जाता है। बालक स्वयं बड़ा विनयी होता है। वह अपना काम करना चाहता है। उसका ऊधम बड़ों के दृष्टिकोण से ऊधम हो सकता है, परन्तु बालक के लिये तो वह भी एक आवश्यक काम ही होता है। यह बात भी ठीक मालूम होती है। मॉन्तेसरी स्कूल में विनय-समस्या उठती ही नहीं। सभी बालक अपने-अपने काम में मग्न रहते हैं। कोई गेंद से खेल रहा है, कोई कुर्सी-मेज उलट रहा है, कोई पेड़ पर चढ़ रहा है, तो कोई दो लड़के विनोदार्थ आपस में कुश्ती ही लड़ रहे हैं। इस प्रकार स्कूल में सर्वत्र सद्भावना और क्रियाशीलता का राज्य दिखलायी पड़ता है। कोई किसी के कार्य में बाधा डालता ही नहीं। किसी के अपराध करने पर उसे शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता।

स्व-शिक्षा, विनय की समस्या नहीं।

५—मॉन्तेसरी पद्धति की आलोचना

छोटे-छोटे बालकों की शिक्षा की एक नई प्रणाली का निर्माण कर मॉन्तेसरी ने बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया है। लिखाने-पढ़ाने की बहुत सी जटिल समस्याओं का समाधान कर उसने शिक्षा-जगत का बड़ा कल्याण किया है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पर इन गुणों के होते हुए भी मॉन्तेसरी प्रणाली दोष-मुक्त नहीं। ऊपर के

सामूहिक खेलों को स्थान नहीं, अभिमान और स्वार्थ-भाव आने का डर, बौद्धिक विकास एकांगी।

विवरण से स्पष्ट है कि इस प्रणाली में सामूहिक खेलों को स्थान नहीं। इससे बालकों में सामाजिकता का विकास नहीं होता। व्यक्तिगत कार्यों पर ही जोर देने से बालकों का विकास एकांगी हो जाता है। बालकों को अभिनय व सामूहिक गानों में बड़ा आनन्द आता है। पर मॉन्तेसरी प्रणाली में इसका पूरा अभाव है। किलपैट्रिक महोदय ने इस दोष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। मॉन्तेसरी पद्धति में आत्मनिर्भरता की शिक्षा के आयोजन की विलियम स्टर्न ने कड़ी आलोचना की है। मॉन्तेसरी के व्यक्तिगत कार्य करने की प्रणाली से बालक में अभिमान और स्वार्थ-भाव आने का बड़ा डर है। शिक्षोपकरणों द्वारा ज्ञानेन्द्रिय-शिक्षा की भी स्टर्न महोदय ने आलोचना की है। उनका कहना है कि इससे बौद्धिक विकास एकांगी होता है, क्योंकि रंग, रूप और ध्वनि पर अलग-अलग जोर देने का दूसरा परिणाम नहीं हो सकता। सर्जियस हेसेन के अनुसार मॉन्तेसरी के शिक्षोपकरण मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला की तरह हैं और उनमें बच्चों के खेल के वास्तविक सिद्धान्त की अवहेलना की गई है।

मॉन्तेसरी-पद्धति में काल्पनिक-शक्ति के विकास का क्षेत्र नहीं। यही बात शिक्षा-शास्त्रियों को सबसे अधिक खटकती है। मॉन्तेसरी का मत है कि बालक स्वयं विभिन्न कल्पनाओं से भरा हुआ रहता है, अतः और काल्पनिक बनाना उसे वास्तविकता से बहुत दूर हटाना होगा। इसलिए काल्पनिक खेल व साहित्य को वह उनकी शिक्षा में कोई स्थान नहीं देना चाहती।

काल्पनिक शक्ति का विकास नहीं, भावना-ग्रन्थियाँ, ज्ञानेन्द्रिय की अलग-अलग शिक्षा नहीं।

परन्तु मॉन्तेसरी का ऐसा सोचना ठीक नहीं। कल्पना

के सहारे बालक अपने अनेक मूलप्रवृत्त्यात्मक इच्छाओं की पूर्ति कर लेता है। इन इच्छाओं की पूर्ति के अभाव से उसमें नाना प्रकार की भावना-ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जातीं, जो कि उसके विकास पथ में रोड़े का काम करतीं। लिखाने और पढ़ाने के लिए मॉन्तेसरी पद्धति वैज्ञानिक है, पर मनोवैज्ञानिक नहीं। मॉन्तेसरी वर्ण और शब्द से चलकर वाक्य तक पहुँचना चाहती है; पर आधुनिक मनोवैज्ञानिक वाक्य को ही सरलतम मानते हैं। मॉन्तेसरी ज्ञानेन्द्रियों को अलग-अलग करके उन्हें शिक्षित करने की पक्षपाती है। जेस्टाल्ट मनोविज्ञान ने इसे गलत सिद्ध कर दिया है। जेस्टाल्ट मनोविज्ञान के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उसके सम्पूर्ण आकार के बोध से होता है। चेहरे के ज्ञान से उसमें आँख, कान, मुँह तथा नाक आदि सभी अंग आ जाते हैं। एक को अलग-अलग देखने से सम्पूर्ण चेहरे का बोध नहीं हो सकता। ज्ञानेन्द्रियों की अलग-अलग शिक्षा देना अमनोवैज्ञानिक है, क्योंकि मस्तिष्क तो एक सम्पूर्ण भाग की तरह विकास करता है। मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा में मॉन्तेसरी-पद्धति अधिक सफल हो सकती है, क्योंकि उनके एक ज्ञानेन्द्रिय की निर्बलता में दूसरे के प्रबल बनाने की आवश्यकता हो सकती है। वस्तुतः मॉन्तेसरी पद्धति का प्रारम्भ मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा के लिए किया गया था। साधारण बालकों की शिक्षा में बिना आवश्यक परिवर्त्तन किये मॉन्तेसरी पद्धति का प्रयोग करना ठीक न होगा। इस पद्धति को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसमें कुछ सामाजिक आदर्शों का समावेश तथा ज्ञानेन्द्रियों की शिक्षा सम्बन्धी आवश्यक सुधार कर लेना युक्ति संगत होगा।

सहायक पुस्तकें

१—द मॉन्तेसरी मेथड—(एफ़ ए० स्टोक्स क० न्यूयार्क, १६१२)
२—हॉल्मस—द मॉन्तेसरी सिस्टम ऑव् एडूकेशन।
३—रस्क—द डॉक्ट्रिन्स ऑव् द ग्रेट एडूकेटर्स, अध्याय, १२।
४—किलपैट्रिक— द मॉन्तेसरी सिस्टम एक्ज़ामिन्ड।
५—मॉन्तेसरी—द सीक्रेट ऑव् चाइल्डहुड।

अठारहवाँ अध्याय

बेसिक शिक्षा

१—भूमिका

बेसिक शिक्षा हमारे देश में शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रथम प्रयास है। पर बेसिक शिक्षा को मौलिक नहीं कहा जा सकता। इसमें कई प्रणालियों से सहायता ली गई है। प्रॉजेक्ट पद्धति की छाप इसमें बहुत अधिक दिखलाई पड़ती है, पर यह 'प्रॉजेक्ट पद्धति' से बहुत भिन्न है। प्रॉजेक्ट पद्धति में एक प्रॉजेक्ट को मान कर उसके आधार पर आवश्यक विषयों की शिक्षा दी जाती है। बेसिक शिक्षा में एक ऐसे हस्तकला के आधार पर बालक को शिक्षा दी जाती है जिसे वह भविष्य में अपने जीवकोपार्जन का साधन बना सके। प्रॉजेक्ट-पद्धति एक शिक्षण-विधि है और प्रॉजेक्ट शिक्षा देने का एक साधन है। बेसिक शिक्षा में हस्तकला साधन और साध्य दोनों मानी जाती है। वस्तुतः उसके साध्य होने पर अधिक जोर दिया जाता है, क्योंकि विभिन्न विषयों को पढ़ाते समय हस्तकला को गौण नहीं समझा जाता। इसीलिए बालक का किसी हस्तकला विशेष से प्रेम हो जाता है, क्योंकि उसका लक्ष्य सदा उसमें कौशल प्राप्त करना होता है। प्रॉजेक्ट पद्धति में ऐसी बात नहीं। जो प्रॉजेक्ट साधन माना जाता है उसका महत्त्व स्थायी नहीं होता। एक प्रॉजेक्ट के

मौलिक नहीं, प्रॉजेक्ट पद्धति और बेसिक शिक्षा।

पूरा होने पर उसके प्रति बालक का प्रेम रुक जाता है और और अपनी क्रियात्मक वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिये वह दूसरे प्रॉजेक्ट पर काम करने लगता है। इस प्रकार तात्कालिक लक्ष्य की प्राप्ति के बाद प्रॉजेक्ट निरर्थक होता जाता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा और प्रॉजेक्ट पद्धति में बहुत समानता होते हुये भी दोनों में मौलिक भेद है। डेनमार्क के ग्रामीण स्कूल की शिक्षा-प्रणाली और बेसिक शिक्षा में काफी समानता दिखलाई पड़ती है। डेनमार्क के बालकों को भूगोल, इतिहास व विज्ञान आदि विषय उसी हद तक पढ़ाये जाते हैं जहाँ तक वे उनके व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सहायक हो सकें। इन विषयों को उनके उद्योग-धन्धों से भी सम्बन्धित किया जाता है। इस प्रकार बेसिक शिक्षा के मौलिक सिद्धान्त दुनिया के किसी न किसी कोने में पहले ही से वर्त्तमान थे। बेसिक शिक्षा की विशेषता यह है कि उसे भारत की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल बना दिया गया है। बेसिक शिक्षा वर्धा शिक्षा-योजना से निकली है। सन् १९३७ ई० में कॉंग्रेस-मन्त्रिमण्डल के समय बालकों की शिक्षा के लिए महात्मा गान्धी ने २२ व २३ अक्टूबर, १९३७ को वर्धा में शिक्षा-सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में देश के शिक्षा-विशारदों ने विचार-विनिमय के बाद बालकों की शिक्षा के लिए वर्धा-शिक्षा-योजना नामक एक नई शिक्षा-प्रणाली का आविष्कार किया। इस योजना का परिवर्धित रूप ही बेसिक शिक्षा है।

२—बेसिक शिक्षा के मूल सिद्धान्त :—

१—७ वर्ष की आयु से १४ वर्ष की आयु तक अनिवार्य शिक्षा।

२—मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम।

३—किसी हस्तकला को केन्द्र मान कर उसी के आधार पर अन्य विषयों की शिक्षा देना।

४—शिक्षा का स्वावलम्बी होना।

५—शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना।

६—नागरिकता के आदर्श पर ध्यान देना।

नीचे हम इन सभी का अलग-अलग स्पष्टीकरण करेंगे।

(१)—अनिवार्य शिक्षा

लोकतन्त्र के अनुकूल।

आजकल लोकतन्त्र का युग है। जनता को अपना नेता अर्थात् शासक स्वयं चुनना पड़ता है। जब तक व्यक्ति को अपने देश और समाज की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान न होगा वह देश की शासननीति के निर्माण में विशेष योग न दे सकेगा। लोकतन्त्र सफल हो इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार और कर्त्तव्यों को समझे। आज का समय पहले से बहुत भिन्न है। जैसे आज किसी को आत्महत्या करने नहीं दिया जा सकता, या जैसे किसी गाँव में हैजा वा प्लेग फैलने पर वहाँ की उचित देख-रेख करना राज्य का कर्त्तव्य हो जाता है; उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित बनाना भी राज्य का परम कर्त्तव्य मान लिया गया है। अशिक्षित व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य और अधिकारों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः सिद्धान्तः यह ठीक जान पड़ता है कि एक निश्चित अवधि तक प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करने का दायित्व 'राज्य' अपने ऊपर ले ले। इस दृष्टिकोण से बेसिक शिक्षा की अनिवार्यता का सिद्धान्त सर्वथा ठीक मालूम पड़ता है।

(२)—मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम

"शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए"–इस सत्य को सभी शिक्षा-विशारद स्वीकार करते हैं। शिक्षा के विदेशी भाषा के माध्यम का कुफल भारत भोग चुका है। विदेशी भाषा के माध्यम-काल में विद्यार्थी को अँग्रेजी ही पढ़ने में बहुत अधिक समय दे देना पड़ता था और उसकी भाव-प्रकाशन शक्ति सीमित ही रह जाती थी। व्यक्तित्व के विकास में भाव-प्रकाशन-शक्ति का बड़ा भारी महत्त्व है, क्योंकि भाव-प्रकाशन साधन से विभिन्न विषयों के ज्ञान प्राप्त करने में बड़ी सहायता मिलती है। हर्ष की बात है कि अब मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है। 'मातृभाषा का शिक्षा में स्थान' की व्याख्या करते हुये जाकिरहुसेन कमेटी ने लिखा है:–"मातृभाषा ही को सम्पूर्ण शिक्षा का आधार होना चाहिए। सुलझे और स्पष्ट भाव और विचार उसी व्यक्ति के पास हो सकते हैं जो प्रभावशाली शब्दों में अपनी बात कह सकता है और जो सरलता से लिख-पढ़ सकता है। मातृभाषा ही एक ऐसा साधन है जिससे अपनी जाति की परम्परा, संस्कृति और भावनाओं को ठीक से समझा जा सकता है। अतः यह सामाजिक शिक्षा का एक अमूल्य साधन हो सकती है और इससे सभी नैतिक और धार्मिक गुण प्राप्त हो सकते हैं। बच्चों की अभिव्यञ्जना शक्ति के प्रकाशन का मातृभाषा एक सर्वश्रेष्ठ साधन है। मातृभाषा के उचित अध्ययन से बालकों में साहित्य के प्रति तथा मौलिक रचना के लिए प्रेम उत्पन्न किया जा सकता है।" इस प्रकार मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम मानकर बेसिक-शिक्षा ने एक बड़े सत्य की रक्षा की है।

इससे भाव-प्रकाशन की शक्ति।

(३)—हस्तकला शिक्षा का केन्द्र

आधुनिक शिक्षा विशारदों की धारणा है कि हस्तकला द्वारा दी हुई शिक्षा बालक के लिए अधिक मनोवैज्ञानिक होती है; क्योंकि इससे उसके मानसिक, शारीरिक दोनों प्रकार के अनुभव संतुलित होते हैं। इससे हाथ और मस्तिष्क दोनों की शिक्षा होती है। बालक धीरे-धीरे किसी कला में प्रवीण होकर अपनी जीविका के लिए अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य हो जाता है। इससे उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा होती है। वर्त्तमान शिक्षा में क्रियात्मक प्रणालियों (ऐक्टीविटी मेथड्स) पर बहुत जोर दिया जाता है। "करके सीखना" (लर्निङ्ग बाइ डुइङ्ग) अब सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-विधि मानी जाती है। ये ड्यूई के सूत्र हैं। बेसिक शिक्षा इस दृष्टिकोण से एक बड़े शिक्षा-सिद्धान्त का समर्थन करती है। वर्धा-योजना के अनुसार बेसिक शिक्षा का आधार 'कृषि', 'कताई-बुनाई' अथवा 'लकड़ी का काम' होना चाहिए। बालकों के निजी वातावरण तथा भौगोलिक बातों के अनुसार इन तीनों हस्तकलाओं में से किसी एक को केन्द्र मानकर पाठ्य-क्रम के अन्य विषयों को उसके आधार पर पढ़ाना चाहिए। हस्तकला एक विषय-मात्र नहीं वरन् वह सब विषयों की अभिनेत्री होगी। बालकों को हस्तकला में कुशलता देने के लिए स्कूल के साढ़े पाँच घण्टे में से तीन घण्टा व बीस मिनट इसी कार्य के लिए रखा जाता है। हस्तकला में कुशलता का तात्पर्य उसके

> शारीरिक और मानसिक दोनों ज्ञान संतुलित; कृषि, कताई-बुनाई और लकड़ी का काम; अधिकांश समय हस्तकला के लिए; बालक शिक्षा का केन्द्र।

केवल व्यावहारिक ज्ञान से ही नहीं है, वरन् उसका वैज्ञानिक और शास्त्रीय ज्ञान भी देना आवश्यक समझा जाता है। मानसिक विकास में हस्तकला के सहायक होने के लिए यह आवश्यक है। हस्तकला पर आधारित शिक्षा का केन्द्र पुस्तकें न होकर बेसिक होगा। इसके लिए हस्तकला का चुनाव ऐसा हो कि पाठ्य-क्रम के अन्य विषय उस पर आधारित किए जा सकें।

बेसिक शिक्षा समन्वित शिक्षा है।

हस्तकला में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वय, हस्तकला के चारों ओर विभिन्न विषयों की समन्वित शिक्षा।

किसी हस्तकला के आधार पर शिक्षा देने का तात्पर्य शिक्षा को समन्वित करना है, अर्थात् पाठ्य क्रम के सभी विषयों में शरीर के विभिन्न अवयवों की तरह एक स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करना है। इस सम्बन्ध के स्थापन से शिक्षा का बालक के जीवन से भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। बालक का प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण तथा हस्तकला बेसिक शिक्षा के तीन प्रधान स्तम्भ हैं। हस्तकला में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण का समन्वय सहज हो जाता है, क्योंकि किसी हस्तकला की उत्पत्ति और विकास इन पर ही निर्भर होता है। विभिन्न विषयों के ज्ञान का हस्तकला से सम्बन्ध दिखाना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, इतिहास और भूगोल के ज्ञान से हस्तकला के काम और उनके लाभ को अच्छी प्रकार बालकों को समझना चाहिए। बागवानी और कृषि बालकों को मनो-विनोदार्थ नहीं बतलाया जायगा, वरन् उसके आधार पर

उन्हें नित्य नए-नए अनुभव दिए जायेंगे। सामाजिक और साधारण विज्ञान के पाठ में बालकों को कुछ बातों को याद नहीं कराया जायगा। प्रत्युत विभिन्न विषयों से उनका सम्बन्ध उनको समझाना होगा। गणित की शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध होना आवश्यक है। हस्तकला अथवा कृषि आदि का काम करते-करते जो गणित के प्रश्न बालकों के सामने आवें उन्हीं के साथ बालकों को जोड़, बाकी, गुणा व भाग आदि सिखा देना चाहिए। कृषि से उत्पन्न अनाज की नाप-जोख तथा हस्तकला से बनी हुई वस्तुओं की बिक्री सम्बन्धी क्रियाओं के करने से बालकों को अंकगणित के प्राय: सभी नियम सिखलाये जा सकते हैं। इस प्रकार बेसिक शिक्षा बालकों की सर्वांगीण शिक्षा का अच्छा साधन जान पड़ती है।

(४)—शिक्षा का स्वावलम्बी होना

'बेसिक शिक्षा' शिक्षकों को स्वावलम्बी बनाना चाहती है। किसी हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाने का एक यह भी तात्पर्य है। हस्तकला के साथ लड़कों को खेलना नहीं है, वरन् कुछ वस्तुएँ भी बनानी हैं। इन वस्तुओं के बेचने से जो धन प्राप्त होगा उससे स्कूल का कुछ खर्च चलाने का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार स्कूल को स्वावलम्बी बनाने की योजना कहाँ तक सफल होगी इस पर हम आगे विचार करेंगे। पर स्वावलम्बी शिक्षा का एक दूसरा अर्थ भी यहाँ ले लिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। आधुनिक शिक्षा विद्यार्थी को आत्म निर्भरता का पाठ नहीं पढ़ाती। शिक्षा समाप्त करने

बालकों का उपयोग। वस्तुएँ बनाना, आत्म-निर्भरता का पाठ।

के बाद विद्यार्थी को अपने जीवकोपार्जन करने की समस्या आ घेरती है। वह अपने को किसी काम के लिए अयोग्य पाता है। बेसिक शिक्षा द्वारा वह एक ऐसी हस्तकला में प्रवीण हो जाता है जिसके सहारे वह अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है।

(५)—शिक्षा का वास्तविक जीवन से सम्बन्ध

वर्तमान शिक्षा और जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में कम सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है। इसके विपरीत बेसिक शिक्षा 'स्कूल' और वास्तविक जीवन में एक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। ड्यूई की तरह बेसिक शिक्षा भी स्कूल को समाज का एक प्रतिनिधि बनाना चाहती है। कदाचित् इसीलिए प्राकृतिक व सामाजिक वातावरण सम्बन्धी किसी हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाया जाता है, जिससे बालकों को अपने वातावरण तथा भावी जीवन की मुख्य समस्याओं का कुछ ज्ञान हो जाय। बेसिक शिक्षा का कार्य-क्रम बालकों की स्वाभाविक वृत्तियों को ध्यान में रख कर रचा गया है। क्रियाशीलता बालकों का सरल स्वभाव है। हस्तकला का समावेश इस भावनावश भी किया गया है। बेसिक शिक्षा के अनुसार बालकों को जो कुछ सिखलाया जाता है उससे उनका मस्तिष्क असम्बद्ध ज्ञान का पिटारी नहीं बनेगा। इससे बालक वही ज्ञान प्राप्त करता है जिससे वह योग्य नागरिक हो सकेगा।

स्कूल समाज का प्रतिनिधि, भावी जीवन की कुछ समस्याओं का ज्ञान।

(६)—नागरिकता का आदर्श

बेसिक शिक्षा में नागरिकता का आदर्श छिपा है। आज

हमारे समाज में बौद्धिक और शारीरिक श्रम करने वालों को समान पद प्राप्त नहीं है, क्योंकि दोनों श्रम एक ही व्यक्ति नहीं करता। शारीरिक श्रम करने वाला दूसरे से हेय समझा जाता है। अभी तक हम शारीरिक श्रम का महत्त्व नहीं समझ सके हैं। बेसिक शिक्षा से शारीरिक और बौद्धिक परिश्रम करने वालों के बीच की खाई पट जाने की सम्भावना दिखलाई पड़ती है। बेसिक स्कूल के प्रत्येक छात्र को हस्तकला के रूप में अधिकांश समय तक शारीरिक श्रम करना पड़ता है। इससे उसमें श्रम के प्रति आदर उत्पन्न होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि आज के लोकतन्त्रात्मक युग में व्यक्ति को अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान होना आवश्यक है। इसके लिए बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान के पाठ्य-क्रम को काफी स्थान दिया गया है। समाज-विज्ञान के आधार पर बालकों में आत्म-सम्मान, आत्मसुधार, सहकारिता, समाज-सेवा तथा 'रूप-रंग व जाति भेद से ऊपर उठने की भावना' देने का प्रयत्न किया जाता है। बालकों में इन भावनाओं की जाग्रति के लिए नागरिक शास्त्र की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इसकी शिक्षा बालकों को इस प्रकार दी जाती है कि अपने उत्तरदायित्व को सँभालने, दूसरे का नेतृत्व करने, अपने शरीर और बुद्धि पर भरोसा करने, तथा समाजहित के आगे निजीहित को त्याग देने आदि का गुण उनमें आ जाँय। बेसिक शिक्षा-योजना में स्कूल का संगठन इस प्रकार करने की स्वतन्त्रता है कि छात्रों को स्व-शासन का अनुभव हो। बेसिक शिक्षा-योजना के अनुसार छात्रों के

शारीरिक श्रम के प्रति आदर, नागरिक शास्त्र की सिद्धान्तिक और प्रायोगिक शिक्षा, स्व-शासन का अनुभव।

वातावरण से ही उन्हें नागरिकता की शिक्षा देनी चाहिए। भूगोल की शिक्षा में उसे प्रकृति-निरीक्षण का अभ्यास कराया जाता है। भारत का भूगोल पढ़ाते समय अन्य देशों के भूगोल के सम्भावित समानता की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मानव समाज की एकता का बोध, महापुरुषों के जीवन चरित्र, अन्तर्राष्ट्रीय, समाज-विज्ञान।

इतिहास के पाठ में छात्रों को यह बतलाया जाता है कि विभिन्न भौगोलिक और सामाजिक अवस्थाओं के कारण मनुष्य के दिनचर्या तथा रहन-सहन में कैसे-कैसे परिवर्त्तन आजाते हैं। इतिहास की शिक्षा आदि मनुष्य और प्राचीन सभ्यता की कहानियों से प्रारम्भ की जाती है, जिससे बालक यह समझ सके कि यह सारा मानव समाज एक ही है। बालक को यह बतलाने की चेष्टा की जाती है कि लोगों ने राजनैतिक और सांस्कृतिक दिशा की ओर कैसे उन्नति की है। बालकों के चरित्र-विकास के लिए विभिन्न देशों के महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ाये जाते हैं। इनसे उनमें अन्तरराष्ट्रीयता के विकास का भी उद्देश्य पूरा हो जाता है। प्राचीन इतिहास पढ़ाने में यह ध्यान दियो जाता है कि बालक में अतीत के प्रति ऐसा अन्ध प्रेम न पैदा हो जाय कि अन्य देशों से वह घृणा करने लगे। बालक में सद्गुण की उत्पत्ति के लिए ऐसे महापुरुषों की कहानियाँ पढ़ाइ जाती हैं जिन्होंने मनुष्य को पाशविकता से मानवता की ओर बढ़ाया है। बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान को भी एक ऊँचा स्थान दिया गया है। इसका समाज-विज्ञान के अध्यापन-विधि पर नीचे संकेत किया जायगा। समाज-

विज्ञान का समावेश नागरिकता के गुण को बालकों में लाने के लिए ही किया गया है। समाज-विज्ञान के अन्तर्गत इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र की शिक्षा बालक को इस प्रकार दी जाती है कि वह एक सच्चा नागरिक हो जाय। बेसिक शिक्षा-क्रम में नागरिक-शास्त्र समाज-विज्ञान की आत्मा माना जाता है।

३—बेसिक शिक्षा का पाठ्य क्रम

उपर्युक्त विवेचन में हम देख चुके हैं कि बेसिक शिक्षा में कृषि, कताई-बुनाई और लकड़ी के काम वाले हस्तकला पर विशेष ध्यान दिया जाता है। बेसिक शिक्षा के प्रवर्त्तकों का कहना है कि केवल इन्हीं तीन हस्तकलाओं पर शिक्षा को अवलम्बित करना सदा सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें कुछ वातावरण सम्बन्धी कठिनाइयाँ आ सकती हैं। अतः वातावरण के अनुसार फलों, व तरकारियों के उद्योग तथा चमड़े और बाँस के काम आदि की तरह कुछ अन्य हस्तकलायें भी चुनी जा सकती हैं। हस्तकला के आधार पर निम्नलिखित विषयों की शिक्षा के लिये भी बेसिक शिक्षा में आयोजन है :—

वातावरण के अनुसार हस्तकलाओं का चुनाव।

१—मातृभाषा।
२—गणित।
३—समाज-विज्ञान।
४—संगीत।
५—चित्रकला।
६—साधारण विज्ञान।
७—शरीर विज्ञान।

नीचे हम इन प्रत्येक पर संक्षेप में कुछ संकेत करेंगे।

(१) मातृभाषा

बेसिक शिक्षा मातृभाषा की शिक्षा पर विशेष जोर देती है। इस पर हम इस अध्याय के आरम्भ में ही संकेत कर चुके हैं। बहुत प्रारम्भ से ही यह चेष्टा की जाती है कि बालक अपने भावों का प्रकाशन निर्भय होकर कर सके। बेसिक स्कूलों में मातृभाषा पढ़ाने के निम्नलिखित उद्देश्य हैं :—

१—बालक, अपने वातावरण सम्बन्धी साधारण वस्तुओं तथा अपनी घटनाओं का सरलता से वर्णन कर सके।

२—अपने काम के बारे में साफ़-साफ़ कह सके।

३—अपनी कक्षा की पुस्तक को ठीक से पढ़ सके।

४—पद्य को लय के साथ पढ़ कर आनन्द ले सके।

५—सुन्दर और शीघ्र लिखने का ऐसा अभ्यास हो कि लोग उसकी लिखावट को पढ़ सकें।

६—छोटा पत्र लिख सकें।

(२) गणित

व्यावहारिक ज्ञान।

बेसिक शिक्षा में गणित का व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता है। अपने हस्तकला सम्बन्धी जोड़,बाकी व गुणा आदि करने में बालक समर्थ बना दिया जाता है। इस प्रकार पढ़ने से गणित के ज्ञान की सार्थकता उसे स्पष्ट हो जाती है।

(३) समाज-विज्ञान

इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्र

"नागरिकता का आदर्श" के उल्लेख में बेसिक शिक्षा-योजना में समाज-विज्ञान के स्थान की ओर संकेत किया जा चुका है। पर स्पष्टीकरण के लिए कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख कर देना ठीक जान पड़ता है। हमारी

को साथ ही साथ पढ़ाना। शिक्षा कुछ ऐसी दोषपूर्ण है कि शिक्षित युवक भी कुछ सामाजिक बातों से अनभिज्ञ दिखलाई पड़ता है। अभी कुछ ही दिनों की बात है कि एक २५ वर्ष का छात्र लेखक से पूछ बैठा कि क्या अमेरिका भी चिट्ठियाँ भेजी जा सकती हैं। इसमें छात्र का उतना दोष नहीं जितना कि हमारी शिक्षा-प्रणाली का। बेसिक शिक्षा बालक को व्यावहारिक जीवन का समुचित ज्ञान देकर शिक्षा-प्रणाली के ऐसे दोषों को दूर करना चाहती है। ऊपर हम संकेत कर चुके हैं कि समाज-विज्ञान के अन्तर्गत् इतिहास, भूगोल और नागरिक-शास्त्र तीनों माने जाते हैं। बेसिक स्कूलों में नागरिक-शास्त्र की शिक्षा पहली ही कक्षा से प्रारम्भ कर दी जाती है। इतिहास व भूगोल को वास्तविक शिक्षा पुस्तकों के पढ़ने योग्य हो जाने पर ही आरम्भ की जाती है। नागरिक-शास्त्र का पाठ्य-क्रम बालकों की विकास-अवस्था के अनुसार रखा जाता है। इतिहास व भूगोल को नागरिक-शास्त्र से जोड़कर पढ़ाया जाता है। यह बेसिक-शिक्षा की एक विशेषता है। इतिहास मनुष्य के विभिन्न कार्यों का वर्णन है। भूगोल उस पृथ्वी का वर्णन है जहाँ मनुष्य काम करता है। अतः नायक रंगमंच से अलग नहीं किया जाता। मनुष्य के कार्यों पर भौगोलिक स्थिति की छाप पड़े बिना नहीं रहती। भूगोल से ही इतिहास की रूप-रेखा निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि भूगोल और इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिए बेसिक शिक्षा में दोनों को अलग नहीं किया जाता। भूगोल व इतिहास से निर्मित इस पृथ्वी पर नागरिक अपने कर्त्तव्य-पालन की चेष्टा करता है। अतः भूगोल, इतिहास और नागरिक-शास्त्र को समाज-विज्ञान का रूप दिया गया है।

(४) संगीत

बालक की सौन्दर्य-प्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों के विकास के लिए बेसिक शिक्षा में चित्रकला व संगीत का समावेश किया गया है। लय और ताल की बालकों में एक सहज भावना होती है। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है। इसलिए उन्हें स्वर, लय और ताल के अनुकूल कुछ गाने सिखाये जाते हैं। ये गाने अच्छे-अच्छे भाव वाले और उत्साहवर्द्धक होते हैं। इनसे बालकों में राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय, दया तथा लोकसेवा के भाव को जागृत की जाती है।

सौन्दर्य प्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों का विकास।

(५) चित्रकला

चित्रकला से बालकों को रूप और रंग समझने के योग्य बनाया जाता है। इससे उनमें प्रकृति-कला के समझने की शक्ति आने की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न आकृति का याद रखने में उनकी स्मरण-शक्ति का भी इससे अभ्यास हो जाता है। चित्रकला के समावेश से उनकी हस्तकला में अधिक सौन्दर्य आने की आशा की जाती है। इससे वे सुन्दर चीजें बनाने में समर्थ हो सकेंगे।

रूप व रंग समझने योग्य।

(६) साधारण-विज्ञान

आजकल विज्ञान का ही बोलबाला है। हमारे जीवन के प्रायः सभी अंगों में उससे सहायता सम्भव दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के सदुपयोग से एक गरीब देश भी थोड़े ही दिनों में समृद्धिशाली हो सकता है।

अन्ध विश्वास दूर करना, साधारण-

विज्ञान और समाज-विज्ञान बेसिक शिक्षा के दो पैर।

हमारे देश में विज्ञान की शिक्षा का स्कूलों के पाठ्य-क्रम में समुचित प्रबन्ध नहीं है। गाँवों के स्कूल तो इससे नितान्त वंचित दिखलाई पड़ते हैं। इस अभाव की पूर्ति के लिए बेसिक शिक्षा में साधारण विज्ञान के अध्ययन का समावेश कर दिया गया है। बेसिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में साधारण-विज्ञान का इतना अंश रख दिया गया है कि उसके ज्ञान से बालकों का अन्धविश्वास बहुत कुछ दूर हो सकता है। साधारण विज्ञान को बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान की ही तरह महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि साधारण-विज्ञान और समाज-विज्ञान को बेसिक शिक्षा के दो पैर कहें तो अनुपयुक्त न होगा। विज्ञान की शिक्षा से बालकों में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति पैदा करने की चेष्टा की जाती है। बालकों को यह समझा दिया जाता है कि दैनिक कार्यों में किन-किन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनजान में प्रयोग किया जाता है। इससे उनमें अपने अनुभव की परीक्षा कर लेने की आदत पड़ जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन चरित्र से बालकों को परिचित किया जाता है, जिससे वे उनकी तरह दृढ़प्रतिज्ञ, सत्य-प्रेमी और अध्यवसायी भी हों।

(७) शरीर-विज्ञान

शरीर-विज्ञान को भी बेसिक शिक्षा का एक प्रधान अंग समझना चाहिए। इसका शास्त्रीय ज्ञान तो साधारण-विज्ञान के क्रम में दे दिया जाता है, क्योंकि उससे स्वास्थ्य-विज्ञान, भोजन और विश्राम की वैज्ञानिक बातें सरलता से समझायी जा सकती हैं। शरीर-विज्ञान समझाने का उद्देश्य

स्वास्थ्य का उद्देश्य।

(४) संगीत

बालक की सौन्दर्य-प्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों के विकास के लिए बेसिक शिक्षा में चित्रकला व संगीत का समावेश किया गया है। लय और ताल की बालकों में एक सहज भावना होती है। इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है। इसलिए उन्हें स्वर, लय और ताल के अनुकूल कुछ गाने सिखाये जाते हैं। ये गाने अच्छे-अच्छे भाव वाले और उत्साहवर्द्धक होते हैं। इनसे बालकों में राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय, दया तथा लोकसेवा के भाव को जागृत की जाती है।

सौन्दर्य प्रियता, कलात्मक तथा कल्पनात्मक भावों का विकास।

(५) चित्रकला

चित्रकला से बालकों को रूप और रंग समझने के योग्य बनाया जाता है। इससे उनमें प्रकृति-कला के समझने की शक्ति आने की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न आकृति का याद रखने में उनकी स्मरण-शक्ति का भी इससे अभ्यास हो जाता है। चित्रकला के समावेश से उनकी हस्तकला में अधिक सौन्दर्य आने की आशा की जाती है। इससे वे सुन्दर चीज़ें बनाने में समर्थ हो सकेंगे।

रूप व रंग समझने योग्य।

(६) साधारण-विज्ञान

आजकल विज्ञान का ही बोलबाला है। हमारे जीवन के प्रायः सभी अंगों में उससे सहायता सम्भव दिखलाई पड़ती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के सदुपयोग से एक गरीब देश भी थोड़े ही दिनों में समृद्धिशाली हो सकता है।

अन्ध विश्वास दूर करना, साधारण-

विज्ञान और समाज-विज्ञान बेसिक शिक्षा के दो पैर।

हमारे देश में विज्ञान की शिक्षा का स्कूलों के पाठ्य-क्रम में समुचित प्रबन्ध नहीं है। गाँवों के स्कूल तो इससे नितान्त वंचित दिखलाई पड़ते हैं। इस अभाव की पूर्ति के लिए बेसिक शिक्षा में साधारण विज्ञान के अध्ययन का समावेश कर दिया गया है। बेसिक शिक्षा के पाठ्य-क्रम में साधारण-विज्ञान का इतना अंश रख दिया गया है कि उसके ज्ञान से बालकों का अन्धविश्वास बहुत कुछ दूर हो सकता है। साधारण विज्ञान को बेसिक शिक्षा में समाज-विज्ञान की ही तरह महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि साधारण-विज्ञान और समाज-विज्ञान को बेसिक शिक्षा के दो पैर कहें तो अनुपयुक्त न होगा। विज्ञान की शिक्षा से बालकों में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति पैदा करने की चेष्टा की जाती है। बालकों को यह समझा दिया जाता है कि दैनिक कार्यों में किन-किन वैज्ञानिक सिद्धान्तों का अनजान में प्रयोग किया जाता है। इससे उनमें अपने अनुभव की परीक्षा कर लेने की आदत पड़ जाती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिकों के जीवन चरित्र से बालकों को परिचित किया जाता है, जिससे वे उनकी तरह दृढ़प्रतिज्ञ, सत्य-प्रेमी और अध्यवसायी भी हों।

(७) शरीर-विज्ञान

शरीर-विज्ञान को भी बेसिक शिक्षा का एक प्रधान अंग समझना चाहिए। इसका शास्त्रीय ज्ञान तो साधारण-विज्ञान के क्रम में दे दिया जाता है, क्योंकि उससे स्वास्थ्य-विज्ञान, भोजन और विश्राम की वैज्ञानिक बातें सरलता से समझायी जा सकती हैं। शरीर-विज्ञान समझाने का उद्देश्य

स्वास्थ्य का उद्देश्य।

बालकों का स्वास्थ्य बनाना है। अतः स्वास्थ्य बनाने के लिए सैद्धान्तिक बातों का प्रयोग खेल, कूद, तैरना, बागबानी तथा ड्रिल आदि द्वारा किया जाता है।

४—बेसिक शिक्षा की आलोचना

बेसिक शिक्षा की उपर्युक्त रूप-रेखा से मालूम होता है कि इसमें आधुनिक शिक्षा के सभी गुण आ गये हैं। क्रियात्मक प्रणाली (ऐक्टीविटी मेथड्स) का सहारा लेने में बेसिक शिक्षा से हमें ड्यूई को याद आती है। मातृभाषा का माध्यम, नागरिकता, साधारण-विज्ञान तथा स्वास्थ्य की शिक्षा और शारीरिक परिश्रम की अनिवार्यता से बेसिक शिक्षा ने देश में प्रचलित शिक्षा के दोषों के निराकरण के साधनों की ओर स्पष्ट संकेत किया है। आजकल समन्वित शिक्षा पर जोर दिया जाता है। बेसिक शिक्षा में इस पर भी पूरा ध्यान दिया गया है। पर इन सब बातों के होते हुये भी बेसिक शिक्षा के कुछ दोष खटकते हैं। अतः उनकी ओर संकेत करना प्रासंगिक जान पड़ता है।

बेसिक शिक्षा में आधुनिक शिक्षा के सभी गुण।

(१)—हस्तकला का केन्द्र होना सर्वमान्य नहीं

किसी कला को आधार मानकर बेसिक शिक्षा में बालकों की मानसिक शक्तियों का विकास किया जाता है। इसमें एक बड़ी कठिनाई दिखलाई पड़ती है। ऐसे किसी हस्तकला का मिलना कठिन है जिसके चारों ओर विभिन्न विषयों को केन्द्रित किया जा सके। कट्टरता इस सिद्धान्त के समर्थन में बहुत से

सभी विषयों के समन्वय के योग्य कोई एक कला नहीं, समन्वय सामयिक हो,

बालक की रुचि पर ध्यान नहीं, बालक आध्यात्मिकता से दूर।

विषय छूट जा सकते हैं अथवा उनका अध्ययन केवल नाम-मात्र के लिए ही हो सकता है। वस्तुतः समन्वय सामयिक होना चाहिए। जबरदस्ती समन्वय ढूँढना गेहूँ और चावल की खिचड़ी पकाने के समान हैं। कुछ लोगों का कहना है कि बेसिक शिक्षा ने बालक को शिक्षा का केन्द्र न मान कर हस्तकला को केन्द्र मनाने में एक बड़े मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का हनन किया है। शिक्षा में सर्वप्रथम बालक की रुचि पर ध्यान देना है। यदि प्रारम्भ से ही उन्हें किसी हस्तकला में प्रवीण कर जीविकोपार्जन का आदर्श उसके सामने रखा जाता है तो उनका विकास केवल भौतिक स्तर तक ही रह जायगा। वे आध्यात्मिकता से, जो कि भारतीय संस्कृति का प्राण है, बहुत दूर रह जायेंगे। कुछ का कहना है कि हस्तकला को केन्द्र बनाने का तात्पर्य शिक्षा को व्यावसायिक बना देना है; पर व्यावसायिक शिक्षा इतने शीघ्र नहीं प्रारम्भ की जा सकती। इन सब आक्षेपों में सत्य का अंश कहाँ तक है यह कहना कठिन है; पर बात कुछ तर्क संगत जँचती है।

(२)—धार्मिक शिक्षा का अभाव

बेसिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अभाव बहुत लोगों को खटकता है। बहुत लोगों को आश्चर्य होता है कि धर्म-प्रधान भारत

नैतिक शिक्षा सम्भव।

में महात्मा गान्धी ऐसे धार्मिक व्यक्ति द्वारा अनुप्राणित शिक्षा-योजना में धार्मिक भावना का इस प्रकार अभाव कैसे है। संकेत करने पर महात्मा गान्धी ने इस प्रश्न को टाल दिया और कहा, "कौन कहता है कि बेसिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का अभाव है? स्वावलम्बन से बढ़ कर कौन धर्म है?" वस्तुतः

धार्मिक शिक्षा को स्थान देने में एक बड़ी कठिनाई है। भारत के स्कूलों में विभिन्न धर्मावलम्बियों के बालक पढ़ने आते हैं। एक ही धर्म अथवा सब धर्मों की अलग-अलग शिक्षा देने से आपसी वैमनस्य बढ़ने का भय है। कदाचित् इसी भावनावश बेसिक योजना में धार्मिक शिक्षा को स्थान नहीं दिया गया। पर नैतिक शिक्षा के रूप में विभिन्न धर्मों की एकता, सदाचार, उदारता तथा सहिष्णुता आदि की शिक्षा दी जा सकती है। इस जड़वादी जगत को धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से बेसिक शिक्षा योजना में सुधार करने की बड़ी आवश्यकता है।

(३)--शिक्षा के स्वावलम्बी होने का सिद्धान्त अव्यावहारिक

बेसिक शिक्षा के स्वावलम्बी होने की योजना बहुत से लोगों को अव्यावहारिक जान पड़ती है। राज्य-शिक्षा-नीति की दृष्टि से यह ठीक मालूम होता है कि भारत ऐसे गरीब देश में अनिवार्य शिक्षा को कार्यान्वित करने के लिए स्कूल के बालकों से काम करा कर कुछ धन प्राप्त कर लिया जाय तो बड़ा अच्छा है। पर प्रश्न यह है कि इस प्रकार धन प्राप्त करना कहाँ तक सम्भव हो सकता है। प्रो० के० टी० शाह का कहना है कि धन कमाने की दृष्टि से दी गई हुई शिक्षा में उदारता का भाव न रहेगा। इससे शिक्षकों में यह होड़ लग जायगी कि किस कक्षा के छात्र सबसे अधिक धनोपार्जन का काम करते हैं। प्रत्येक छात्र कुशल हस्तकलाकार नहीं हो सकता।

शिक्षा में उदारता का भाव नहीं, छात्रों और शिक्षकों में होड़, स्कूल उद्योग-केन्द्र नहीं, बाहरी कुशल हस्तकलाकार।

इसलिए वह शिक्षक से प्यार पाने का अधिकारी नहीं कर समझा जायगा। स्कूल को स्वावलम्बी बनाने का तात्पय शिक्षालयों को उद्योग-धन्धों का केन्द्र बना देना होगा और किसी स्कूल की सफलता शिक्षा से नहीं, वरन् बेचने योग्य वस्तुओं के उत्पन्न करने से आँकी जायगी। स्कूलों में नौसिखुये बालकों द्वारा उत्पन्न की हुई चीजें बाहर के कुशल हस्तकलाकारों वाली चीजों से अच्छी न हो सकेंगी। इसलिए खरीदने वाले स्कूलों में बनी हुई चीजों को कम खरीदेंगे। इन्हीं सब कारणों से अभी तक स्वावलम्बी होने का सिद्धान्त किसी भी बेसिक स्कूल में कार्यान्वित नहीं किया जा सका है। यही कारण है कि अब बेसिक शिक्षा-योजना के समर्थक वर्त्तमान स्थिति में स्कूल के स्वावलम्बी होने में कम विश्वास करते हैं।

(४)—विशिष्ट अध्ययन का असामयिक चुनाव

बेसिक शिक्षा-योजना में बालक को अपने विशिष्ट अध्ययन का विषय बहुत पहले ही चुन लेना होता है। यह मनो-

अमनोवैज्ञानिक।

वैज्ञानिक नहीं, क्योंकि उस समय उनकी विभिन्न शक्तियों का काफी विकास नहीं हुआ रहता। प्रारम्भ में उनकी रुचि का ठीक पता नहीं चलता। हस्तकला के सीखने में बहुत अधिक समय देना पड़ता है, इसलिए एक बार चुने हुए हस्तकला को छोड़ देना सरल नहीं; और उसे बहुधा अन्त तक निबाहना ही होता है। इस कठिनाई के कारण बहुत से बालकों के व्यक्तित्व का विकास अपूर्ण रह जाने का डर है।

(५)—व्यक्तिगत भिन्नता के अनुसार शिक्षा-आयोजन सम्भव नहीं

बेसिक शिक्षा में व्यक्तिगत भिन्नता पर ध्यान देना सरल

नहीं। कुछ ही हस्तकलाओं को सभी बालकों को सीखना पड़ता है। यदि सभी की रुचि का ध्यान रखकर विभिन्न हस्तकला के सिखाने का प्रबन्ध किया जाय तो आर्थिक दृष्टि से यह बड़ा कठिन होगा। एक बात यह भी विचारणीय है कि व्यक्तिगत भेद पर ध्यान देने के लिए केवल किसी हस्तकला का ही अध्ययन पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अन्य विशिष्ट विषयों पर भी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता हो सकती है। बेसिक शिक्षा में इन सबके लिए स्थान नहीं। अधिकांश समय तो हस्तकला में ही दे देना होता है, तो अन्य विषयों पर उचित ध्यान देना कैसे सम्भव हो सकता है ?

(६)—अध्यापकों की समस्या

बेसिक शिक्षा को सफल बनाने के लिए एक विशिष्ट कोटि के अध्यापकों की आवश्यकता है। पर इस आवश्यकता की पूर्ति करना बड़ा कठिन है। बेसिक शिक्षा-योजना में अध्यापकों का वेतन बहुत ही कम रखा गया है, पर उनका उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत बहुत अधिक दिखलाई पड़ता है। इतने कम वेतन पर योग्य अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन है। अध्यापक को किसी एक कला में निपुण होते हुये पाठ्य-क्रम के अन्य विषयों में भी दक्ष होना चाहिए। ऐसे अध्यापकों का मिलना बड़ा कठिन है। इसके लिए उन्हें विशेष शिक्षा देनी होगी।

विशिष्ट कोटि के अध्यापकों की आवश्यकता।

सहायक पुस्तकें

१—ज़ाकिर हुसेन कमेटी रिपोर्ट

२—प्रोग्रेस ऑव् एडूकेशन, जुलाई १६३८

३—हरिजन-अक्टूबर ३०, दिसम्बर ११-१६३७

मुद्रक :—बाबू राजनारायण अग्रवाल, बी० ए०, मॉडर्न प्रेस, आगरा।

अनुक्रमणिका